Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक विचारों का इतिहास

[भाग १]

प्राचीन तथा मध्यकालीन

पं० ... प्रदत्त संग्रह

ज्योति प्रसाद सूद, एम० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Samaj Foundation Chenn

राजनीतिक [illegible]ों का इतिहास –[भाग १] प्राचीन तथा मध्यकालीन

main. Gurukul Kangri Co

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.......... आगत संख्या............

Stock Verification-2024

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9403

राजनीतिक विचारों का इतिहास

भाग 1

प्राचीन तथा मध्यकालीन

9403

लेखक

प्रो० ज्योतिप्रसाद सूद, एम. ए.,
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ। (रिटायर्ड)

AUTHOR OF

History of Political Thought, Vol. II, From Machiavelli to Burke; Elements of Political Science (English and Hindi); *Government of Great Britain* (English and Hindi); *Governments of U. S. A., U. S. S. R., aad Switzerland* (English and Hindi); *Government of France* (English and Hindi); *The Development of Indian Constitution and National Movement* (English and Hindi); *India: Her Civic Life and Administration* (English and Hindi); etc.

अनुवादक

गंगाप्रसाद गर्ग, एम. ए.,
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
वैश्य डिगरी कॉलिज, शामली।

मेरठ

जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक

R61.1,SOO-R

9403

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
कान्तिनाथ गुप्ता,
व्यवस्थापक,
जयप्रकाश नाथ एण्ड क०,
मेरठ।

द्वितीय संस्करण
१६५६
सर्वाधिकार लेखक के पास सुरक्षित
मूल्य ७·५० रु०

R
61.1
सुद - र

मुद्रक
निष्काम प्रेस,
मेरठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक को द्वितीय संस्करण के लिये तैयार करते समय मैंने उसे पूरी तरह दुहरा दिया है और कहीं कहीं नई पाठ्य-सामग्री भी जोड़ी है। कुल मिलाकर लगभग २० पृष्ठ बढ़ाये गये हैं। मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित हैं :—

अफ़लातून के आदर्श राज्य में शासन के सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रकरण दुबारा लिखा गया है, जिससे कि राज्य के जीवन में दार्शनिक राजाओं में मूर्त बुद्धि का कार्य अधिक स्पष्ट हो जाय। अफ़लातून के विचारों की आलोचना के रूप में न्याय की प्रकृति बतलाने वाले प्रकरण में कुछ शब्द बढ़ा दिये गये हैं। वितरणात्मक न्याय के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की गई है। क्योंकि नैसर्गिक कानून की धारणा मध्य युग में बहुत महत्त्व रखती थी, इस कारण पुस्तक के अन्त में उस पर एक नया प्रकरण जोड़ दिया गया है। मुझे आशा है कि परिवर्द्धित पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

मैं उन समस्त महानुभावों, राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों तथा प्रोफेसरों, के प्रति जिन्होंने मुझे पुस्तक पर सम्मानसूचक पत्र लिखे, आभार प्रदर्शित करता हूं। जिनके लिये यह पुस्तक लिखी गई थी, उनके द्वारा इसके हार्दिक स्वागत पर मुझे सहज सन्तोष है। इस सम्मान-प्रदर्शन से ही मुझे इस विषय की दूसरी पुस्तक, बेन्थम से लेकर आज तक की राजनीतिक विचारधारा पर लिखने की प्रेरणा मिली है।

विजय मन्दिर
सिविल लाइन्स, मेरठ,
२० अगस्त, १९५९

—ज्योतिप्रसाद सूद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुवादक की ओर से दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर सूद की 'A History of Political Thought Vol. I' का अनुवाद है। उक्त पुस्तक का जो हार्दिक स्वागत विभिन्न विश्वविद्यालयों के राजनीतिक विचार के विद्यार्थियों ने किया है, उसे तथा विद्यार्थियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए हिन्दी प्रेम को देखते हुए पुस्तक के लेखक ने उसका अनुवाद करने का मुझे आदेश दिया। मौलिक पुस्तक के विचारों और भावों को यथातथ्य अभिव्यक्त करने का मैंने यथासाध्य प्रयास किया है। भाषा के शब्दविन्यास तथा वाग्विदग्धता के प्रलोभन में कहीं भी मूल विचार हताहत न हो जायँ इस बात का मैंने पूर्ण प्रयास किया है। निरूपित विषय की गहनता के कारण भाषा को अधिक सरल न बनाया जा सका, किन्तु जिन विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है, वे कदाचित् उसे क्लिष्ट नहीं पायँगे। पुस्तक के प्रस्तुत खण्ड में राजनीतिक विचार के इतिहास के प्राचीन काल तथा मध्य काल का विवरण दिया गया है; आधुनिक काल अगले खण्ड के लिये सुरक्षित है। विद्यार्थियों की बढ़ती हुई मांग को देखते हुए लेखक द्वितीय खण्ड को लिखने में बड़ी तत्परता से संलग्न हैं, आशा है कि शीघ्र ही उसे पाठकों के सामने पेश किया जा सकेगा। प्रस्तुत हिन्दी संस्करण का पूर्ण रूप से पुनरवलोकन करने का लेखक को अवसर नहीं मिला। इसलिये अनुवाद सम्बन्धी जो भी त्रुटियाँ रह गई हों उनके लिये मैं ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी हूँ। यदि सहृदय और विज्ञ पाठक मुझे अथवा लेखक को उन त्रुटियों से अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँगा।

—*गंगाप्रसाद गर्ग*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूचि

अध्याय १. *राजनीतिक विचार का स्वरूप* १—१०

परिचयात्मक : १. राजनीतिक चिंतन का विषय : २. राजनीतिक चिंतन की कुछ समस्यायें : ३. राजनीतिक चिंतन तथा परिवेश : ६. यूरोपीय तथा अयूरोपीय राजनीतिक विचार : ८. विषय विभाग : ९.

अध्याय २. *नगर राज्य का सिद्धान्त* ११—२४

परिचयात्मक : ११. यूनानी राजनीतिक विचार का क्षेत्र : १३. नगर राज्य : १५. यूनानी राजनीतिक विचार की विशेषतायें : २०. नगर राज्य तथा दास प्रथा : २२. ऐथन्स तथा स्पार्टा के राज्य : २३.

अध्याय ३. *अफ़लातून के पूर्व का राजनीतिक विचार* २५—३८

परिचयात्मक : २५. सोफ़िस्ट्स : २७. प्रकृति तथा अभिसमय : ३१. सुकरात : ३३. सुकरात का जीवन ध्येय : ३५. सुकरात का सिद्धान्त : ३६.

अध्याय ४. *अफ़लातून— रिपब्लिक* ३९—८२

परिचयात्मक : ३९. अफलातून का जीवन : ३९. अफलातून के विचार का व्यवहारिक स्वरूप : ४०. अफलातून की पद्धति : ४१. अफलातून के सम्वाद : ४२. रिपब्लिक का स्वरूप तथा उद्देश्य : ४२. न्याय तथा रिपब्लिक का अर्थ : ४६. न्याय का परंपरावादी सिद्धान्त : ४७. सोफिस्ट्स का न्याय सिद्धान्त : ४७. ग्लॉकन के विचार : ५०. आदर्श राज्य की रचना : ५२. आदर्श राज्य में न्याय : ५५. अफलातून के न्याय सिद्धान्त की आलोचना : ५८. रिपब्लिक में शिक्षा सिद्धान्त— परिचयात्मक : ६०. शिक्षा का स्वरूप तथा उद्देश्य : ६०. अफलातून की शिक्षा पद्धति : ६१. शिक्षा का पाठ्य-क्रम : ६२. प्रारम्भिक शिक्षा : ६३. उच्च शिक्षा : ६४. आदर्श राज्य में शासन के सिद्धान्त : ६५. दार्शनिक राजाओं का शासन : ६६. दार्शनिक राजा की धारणा में मौलिक सत्य : ६८. रिपब्लिक में साम्यवाद का सिद्धान्त— परिचयात्मक : ७०. सम्पत्ति का साम्यवाद : ७०. अफलातूनी साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद : ७२. पत्नियों का साम्यवाद : ७४. रिपब्लिक एक आदर्श के रूप में : ७६. राज्य का अधःपतन तथा इसके भ्रष्ट रूप : ८०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ५. *अफ़लातून (क्रमशः)— स्टेट्समैन तथा लॉज़* ८३—९३

परिचयात्मक : ८३. रिपब्लिक से स्टेट्समैन पर : ८३. लॉज़ : ८५. लॉज़ में राज्य का सिद्धान्त : ८५. कानून की आवश्यकता तथा उसका स्वभाव : ८७. लॉज़ तथा मिश्रित संविधान को धारणा : ८८. सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ : ८९. रिपब्लिक तथा लॉज़ की तुलना : ९०. अफलातून का प्रभाव : ९१.

अध्याय ६. *अरस्तु— राजनीतिक आदर्श* ९४—१३३

परिचयात्मक : ९४. अरस्तु का जीवन : ९४. अरस्तु तथा अफलातून का सम्बन्ध : ९६. अरस्तु की पद्धति : १००. पॉलिटिक्स एक अपूर्ण कृति : १०१. राजनीति का नया विज्ञान : १०३. राज्य, उसका स्वरूप, जन्म तथा लक्ष्य : १०४. गार्हस्थ्य का स्वरूप : ११०. दास प्रथा का स्वरूप तथा उसका औचित्य : ११०. सम्पत्ति का स्वरूप तथा प्रयोग : ११३. पत्नियों के साम्यवाद की अरस्तु द्वारा आलोचना : ११६. सांविधानिक शासन बनाम निरंकुश शासन : ११८. नागरिकता : १२०. संविधान का अर्थ : १२३. संविधानों का वर्गीकरण : १२४. शक्ति के लिये परस्पर विरोधी दावे : १२६. राजतंत्र : १२९. सारांश : १३०. आदर्श जीवन : १३०. राज्य के आदर्श : १३१.

अध्याय ७. *अरस्तु (पिछला शेष)— राजनीतिक वास्तविकतायें* १३४—१४९

परिचयात्मक : १३४. अरस्तु में नवीन प्रवृत्ति : १३४. जनतंत्री सिद्धान्त : १३५. धनतंत्री सिद्धान्त : १३६. मध्यवर्ग तंत्र : १३७. आततायी तंत्र : १३९. सरकार के अंग : १३९. क्रांतियाँ : १३९. क्रांतियों के कारण : १४१. क्रांतियों के विरुद्ध अहतियात : १४३. अरस्तु में यूनानी तथा विश्वव्यापक तत्त्व : १४४. अरस्तु का प्रभाव : १४८.

अध्याय ८. *राजनीतिक विचार— अरस्तु के बाद* १५०—१५८

परिचयात्मक : १५०. नवीन प्रवृत्ति का आविर्भाव : १५१. नवीन प्रणालियों का सामान्य स्वरूप : १५३. एपीक्यूरियनिज़्म : १५४. स्टोइसिज़्म : १५५.

अध्याय ९. *रोमन राजनीतिक विचार* १५९—१७६

परिचयात्मक : १५९. रोम का राजनीतिक जीवन : १६०. यूनान का रोम पर प्रभाव : १६०. रोमन कानून का विकास : १६०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य की छत्रछाया में कानून का विकास : १६३. रोम की कानून विषयक धारणा : १६४. राजनीतिक विचार को रोम की देन : १६६. पोलिवियस : १६८. सिसरो : १७०. सैनेका : १७४.

अध्याय १०. *प्रारम्भिक ईसाइयत का प्रभाव* १७७—२०४

परिचयात्मक : १७७. यूनान तथा रोम की देन : १७७. ईसाइयत की देन : १७६. ईसाई चर्च का विकास : १८२. ईसाई धर्म की विजय के परिणाम : १८३. प्रारंभिक ईसाई धर्म के राजनीतिक विचार : १८६. एक नई समस्या का उत्पन्न होना : १६१. सन्त एम्ब्रोज़ : १६२. सन्त ऑगस्टाइन : उनका जीवन तथा समय : १६२. इतिहास का दर्शन : १६४. ईश्वरीय राज्य तथा सांसारिक राज्य : १६६. न्याय तथा शान्ति के विषय में ऑगस्टाइन के विचार : १६८. राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार : १६६. राज्य तथा चर्च : २००. सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव : २०१. ग्रेगरी महान् : २०१. दो तलवारों का सिद्धान्त : २०२.

अध्याय ११. *मध्यकालीन राजनीतिक विचार की सामान्य पृष्ठभूमि* २०५—२२५

परिचयात्मक : २०५. मध्य काल का आरम्भ : २०५. मध्य काल की मुख्य विशेषतायें : २०६. पोप की शक्ति का विकास : २०८. ट्यूटनों के राजनीतिक विचार : २१३. सामन्तवाद : २१७. पवित्र रोमन साम्राज्य : २२४.

अध्याय १२. *मध्यकालीन राजनीतिक विचार— चर्च तथा राज्य के मध्य विवाद* २२६—२५२

परिचयात्मक : २२६. सार्वभौमिकवाद : २२७. मध्यकालीन विचार की महत्त्वपूर्ण विशेषता : २२७. चर्च तथा राज्य में संघर्ष का युग : २२६. राज्य तथा चर्च का सम्बन्ध : राज्य की प्रभुता : २३६. चर्च की प्रभुता : २३६. राज्य की स्वाधीनता : २४२. १४वीं शताब्दी के विवाद : २४६.

अध्याय १३. *कुछ मध्यकालीन विचारक* २५३—२६६

परिचयात्मक : २५३. ग्रेगरी सप्तम : २५३. जॉन ऑफ सेलिस्बरी : २५४. सन्त टॉमस एक्वीनास : २५७. कानून के विषय में टॉमस के विचार : २६२. शाश्वत कानून : २६४. प्राकृतिक कानून : २६४. दैविक कानून : २६५. मानवीय कानून : २६६. एजीडियस रोमेनस : २६६. दान्ते : २७३. जॉन ऑफ पेरिस : २७८. मार्सीलियो ऑफ पेडुआ : २८३. विलियम ऑफ ओकम : २६३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १४. *मध्यकाल का अन्त — कन्सीलियर आन्दोलन* २६७—३२१

परिचयात्मक : २६७. कन्सीलियर आन्दोलन : २६८. फूट : २६६. कन्सीलियर आन्दोलन के उद्देश्य : ३०१. कान्स्टेन्स की परिषद् : ३०१. वेसल की परिषद् तथा आन्दोलन की विफलता : ३०४. कन्सीलियर आन्दोलन का महत्त्व : ३०६. जॉन गर्सन : ३०६. निकोलस ऑफ कूसा : ३०८. राजतन्त्र की मध्यकालीन धारणा : ३१४. कानून विषयक मध्यकालीन धारणा : ३१६. प्रतिनिधित्व की मध्यकालीन धारणा : ३१७. नैसर्गिक नियम : ३१८.

बिबलियोग्राफी ३२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ३

अफ़लातून के पूर्व का राजनीतिक विचार

अफलातून के पूर्व का राजनीतिक विचार— यद्यपि प्रारंभिक यूनानी दर्शन का उद्भव तथा विकास ऐथन्स से बाहर हुआ और आदि कालीन बहुत से यूनानी कवि, इतिहासकार, नाटककार तथा कलाकार भी ऐथन्स के बाहर ही उत्पन्न हुए; परन्तु यूनानी राजनीतिक विचार को जन्म देने का श्रेय ऐथन्स के महान् नगर को ही है। एक विधिवत् राजनीतिक कल्प विकल्प तथा संसार के कुछ प्रगतिशील, स्थायी तथा सजीव राजनीतिक विचारों की उद्भावना का श्रेय ऐथन्स को ही मिलना चाहिये। इस घटना के कारण जानने योग्य हैं; यहाँ पर हम उन पर एक दृष्टिपात करेंगे।

प्रारंभ में ऐथन्स कोई महान् और शक्तिशाली नगर नहीं था। बौद्धिक विचार तथा कार्यकलाप का केन्द्र वह तब बना जब कि ४६० ई० पू० मैराथन (Marathon) के युद्ध में उसने ईरानी आक्रांताओं को पछाड़ा और उन्हें यूनान से खदेड़ा और यूनान के नेता के रूप में एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया। जिस क्षण ऐथन्स को इस युद्ध में विजय प्राप्त हुई उसी क्षण से थैमिस्टोक्लीज़ (Themistocles) के नेतृत्व में ऐथन्स का साम्राज्यवादी युग आरम्भ होता है। ईरानियों ने ४८० ई० पू० में यूनान पर फिर से आक्रमण किया; किन्तु ऐथन्स और स्पार्टा की संगठित शक्ति के सामने वे परास्त हुए। विधि की विडम्बना कि जिस थैमिस्टोक्लीज़ की नीति पर चल कर ऐथन्स ने शक्ति तथा ख्याति प्राप्त की उसे एक षड्यन्त्र का शिकार होकर राजनीतिक जीवन से अलग होना पड़ा। किन्तु ऐथन्स का सौभाग्य कि थेमिस्टोक्लीज़ के उपरान्त उसको पेरीक्लीज़ जैसा महान् नेता मिला जिसके नेतृत्व में ऐथन्स साम्राज्यवादी वैभव की चरमसीमा पर जा पहुँचा। उसके युग में ऐथन्स ने समृद्धि और सम्पन्नता प्राप्त की और व्यापार की जो उन्नति उसके युग में हुई वैसी पहिले कभी नहीं हुई थी। इस प्रसार और साम्राज्य के युग में चहुँमुखी उन्नति हुई; भौतिक प्रगति तो उसकी मुख्य तान थी ही, किन्तु दर्शन, विद्या, शिल्पकला तथा भवनकला की उन्नति भी साथ साथ हुई।

बढ़ती हुई भौतिक उन्नति तथा राजनीतिक महानता के फलस्वरूप जनता में व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्तर पर आत्मचेतना आई और बढ़ी। इससे विचार-स्वातंत्र्य तथा बौद्धिक कार्यकलाप को भारी स्फुरण मिला। ऐथन्स निवासियों का लक्ष्य सर्वतोमुखी ज्ञान की प्राप्ति था। अरस्तु के शब्दों में 'लोग ईरानी युद्धों के पश्चात् अपनी सफलता के गर्व और अभिमान से भरे हुए आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहे थे। ऐथन्स उन्नति तथा संस्कृति का एक महान् केन्द्र बन गया जिसकी ओर दूर और नज़दीक के विद्वान् तथा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति आकृष्ट हुए। जिनमें सोफ़िस्ट्स प्रमुख हैं।' जो विद्वान लोग ऐथन्स में आए उन में प्रमुख थे सोफ़िस्ट्स। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, यूनानी चिंतन को एक नवीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा देने तथा मनुष्य और उसके सामाजिक आचरण को अध्ययन का मुख्य विषय बनाने का मुख्य श्रेय उन्हीं को है। जब तक कि मनुष्य का ध्यान प्रकृति जगत से हट कर मानव की ओर आकृष्ट न हो जाता तब तक कोई राजनीतिक चिंतन सम्भव न था। सोफ़िस्ट्स ने ठीक यही कार्य किया। इस प्रकार यह कहना ठीक ही होगा कि सोफ़िस्ट्स ने कोई नई विचारधारा को जन्म नहीं दिया; यूनानी विचारधारा में उनका स्थान एक युग से दूसरे युग में आवर्त्तन करने का है।

पेरीक्लीज़ के युग में ऐथन्स न केवल साम्राज्यवादी वैभव के शिखर पर पहुँचा बल्कि उसमें जनतन्त्रवाद का विकास भी द्रुतगति से हुआ। सारे नगर राज्यों में ऐथन्स में ही जनतन्त्र अपने उच्चतम रूप में पाया जाता था। वहाँ विचार तथा भाषण स्वातन्त्र्य का वातावरण था जो कि राजनीतिक चिन्तन के अत्यन्त अनुकूल होता है। स्वाभाविक रूप से ही जिज्ञासाशील यूनानियों को प्रत्येक प्रकार के राजनीतिक प्रश्न के विषय में बात करना बहुत रुचिकर एवं स्फूर्तिदायक लगा। विशेषकर ५वीं शताब्दी ई० के पू० के अर्द्धांश में राजनीतिक समस्याओं के ऊपर बड़ा तीव्र वाद-विवाद और चिन्तन-मनन हुआ। इसे ऐथन्स के सार्वजनिक जीवन का एक महान् युग समझा जाता है।

परन्तु कालचक्र से कौन बच सकता है? ऐथन्स के भाग्य ने फिर पलटा खाया; वह फिर पतन की ओर जाने लगा। ऐथन्स तथा स्पार्टा में एक युद्ध छिड़ा जिसमें ऐथन्स की करारी हार हुई। ऐथन्स में इस पतन काल में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना यह घटी कि पुराने अभिजात्य वर्ग (Aristocracy) का ह्रास हो गया और उसका स्थान ऐसे स्वार्थी और क्रियानिष्ठ लोगों ने ले लिया जो जनतन्त्र को स्वार्थसिद्धि तथा शक्ति हथियाने का एक यन्त्र मात्र समझते थे। ऐथन्स का जनतन्त्र पतित वर्गतन्त्र हो उठा। शक्ति वाग्वीरों के हाथ में आ गई जो विशेषज्ञ होने का दावा करते थे। ज़ाहिर है कि ऐसी हालत में वाग्वीरता, तर्क शक्ति, वाद विवाद की निपुणता, निर्वाचन लड़ने तथा शासन प्रबन्ध करने की कुशलता जैसे गुणों का सम्मान बढ़ना स्वाभाविक ही था, इसलिए उनकी माँग बढ़ी। जो लोग कुछ राजनीतिक महत्त्वाकांक्षायें रखते थे, विशेषकर वे धनिक लोग जिन्हें जनता की अदालतों में जनतन्त्रवादियों द्वारा लगाये गये आरोपों की सफाई पेश करनी होती थी वह तो इन गुणों में दक्षता प्राप्त करने को बहुत उत्सुक थे। सोफिस्ट लोग समयानुकूल शिक्षा देने का दावा करते थे, इसलिये उन्होंने ऐथन्स में अपना डेरा आ जमाया।

इसलिये यह कहना गलत न होगा कि ऐथन्स में राजनीतिक विचार तथा वाद विवाद का सूत्रपात सोफिस्ट्स ने किया! किन्तु उनके सोच विचार के ढंग में कोई नियम और क्रम न था। एक क्रमबद्ध और विधिवत् राजनीतिक चिंतन की उद्भावना तो अफलातून और अरस्तु ही ने की। उन्होंने नगर राज्य सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण तथा उसके आदर्शों का स्पष्टीकरण किया। नगर राज्य की समस्याओं की सांगोपांग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना ऐथन्स के पतन के बाद हुई, पैरीक्लीज़ युग जब गुज़र चुका था; उसके साम्राज्य वैभव के समय में यह सब कुछ नहीं था। राजनीतिक पतन तथा दार्शनिक उत्थान का यह संधि काल कितना रोचक और शिक्षाप्रद है। अफलातून और अरस्तु वे दो महान् दार्शनिक तथा विचारक हैं जिन्होंने सब से पहिले नगर राज्य के राजनीतिक आदर्शों का सांगोपांग विश्लेषण किया। किन्तु उनके विचार की पृष्ठभूमि सोफिस्ट्स ने तैयार की थी जिनके राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थानों से सम्बन्धित क्रान्तिकारी तथा विध्वंसक विचारों का खण्डन उन्होंने किया। इसलिए अफलातून तथा अरस्तु के विचार को ठीक प्रकार से समझने के लिए सोफिस्ट्स की शिक्षाओं की एक झाँकी दिखाना आवश्यक है।

सोफिस्ट्स (Sophists)— सोफ़िस्ट्स ऐथन्स में क्यों आये और वहाँ के रहने वालों को उन्होंने किस प्रकार की शिक्षा दी? इस का सब से सुन्दर और संक्षिप्त सारांश हमें विल ड्यूरेण्ट के इन शब्दों में मिलता है— 'सभाओं में होने वाले वादविवाद, जन-न्यायालयों में चलने वाले मुक़दमे, विचारों पर युक्ति का रंग चढ़ाने तथा एक स्पष्ट और विश्वासोत्पादक भाषा में बोलने की शक्ति की बढ़ती हुई आवश्यकता, एक साम्राज्यवादी समाज की उत्सुकता तथा धन, इन सब बातों ने एक ऐसी वस्तु की माँग को जन्म दिया जो ऐथन्स ने पेरीक्लीज़ से पहिले कभी न देखी थी। वह माँग थी औपचारिक उच्च शिक्षा, व्याख्यान शक्ति, विज्ञान, दर्शन तथा राजनीतिज्ञता के लिए।'* सोफ़िस्ट्स वे लोग थे जो ऐथन्स में शिक्षकों के रूप में बाहर से आये, वहाँ कुछ समय के लिए ठहरे और जो जोग उनसे शिक्षा लेना चाहते थे उन्हें शिक्षित किया। प्रोटेगोरस (Protagoras) नामक एक सोफिस्ट तो अपने आपको Sophistai, अर्थात् ज्ञान (Wisdom) का शिक्षक कहता था। सोफिस्ट्स की तुलना आज के विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों से यदि हम करें तो गलत न होगा। जिस प्रकार आजकल ज्ञान के अभिलाषी लोग कालिजों और विश्वविद्यालयों में जाते हैं उसी प्रकार उस युग में वे सोफ़िस्ट्स के पास जाया करते थे।

यह सही है कि सोफ़िस्ट्स का उद्यम ही शिक्षा देना था, और एक प्रोफ़ेसर की भाँति वे संस्कृति तथा ज्ञान का प्रसार करते थे किन्तु एक सोफ़िस्ट् और एक अधुनिक प्रोफ़ेसर में तुलना एक सीमा तक ही की जा सकती है; वे एक दूसरे के बिलकुल अनुरूप

---

* 'The debates in the Assembly, the trials before the heliaea, and the rising need for the ability to think with the appearance of logic and to speak with clarity and persuasion, conspired with the wealth and curiosity of an imperial society to create a demand for something unknown in Athens before Pericles— the formal higher education in letters, oratory, science, philosophy and statesmanship.'

—Will Durant : *The Life of Greece*, page 358.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कहे जा सकते। आज के प्रोफ़ेसर जो शिक्षा प्रदान करते हैं वह प्रधान रूप से सैद्धान्तिक (Liberal) है; किन्तु सोफ़िस्ट्स द्वारा दी जाने वाली शिक्षा टेक्नीकल होती थी। सोफ़िस्ट्स का लक्ष्य निरपेक्ष ज्ञान तथा सत्य की खोज करना नहीं था; उनका ध्येय बौद्धिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। वे लोगों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन बतलाते थे। कोई उद्देश्य उचित है या अनुचित, जीवन के इस दार्शनिक पहलू से उनका कोई सरोकार न था। सोफ़िस्ट्स से शिक्षा केवल धनिक लोग ही प्राप्त कर सकते थे क्योंकि वे अपने कार्य का शुल्क लेते थे और कभी कभी तो यह शुल्क बड़ा ऊँचा होता था। धनिक लोग एक ऐसी वाग्निपुणता तथा तर्ककौशल प्राप्त करने को बड़े उत्सुक थे जिसके बल पर वे जनता के न्यायालयों के कोप से बच सकें। राजतन्त्र में अपना उचित स्थान प्राप्त करने के लिये और यदि हो सके तो उसे धनिकवर्गतत्र में बदल देने के लिए वे स्वाभाविक रूप से इच्छुक थे। सोफ़िस्ट्स के शिष्यों में से ही धनिकवर्गशाही के नेता निकले। प्रोफ़ेसर बार्कर का यह कथन ठीक ही है कि सोफ़िस्ट्स 'आंशिक रूप से शिक्षक तथा विचारक थे और आंशिक रूप से ऐसे विचारों के प्रचारक थे जो नवीन, विलक्षण, विरोधाभासी तथा कर्ण-मोहक थे। उनमें कुछ उच्छृङ्खलता थी और कुछ दार्शनिकता।'* विचारकों तथा शिक्षकों के रूप में कुछ सोफ़िस्ट्स ने राजनीतिक विचार को एक देन अवश्य दी है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि न केवल यूनान के राजनीतिक विचार के विकास परन्तु वहाँ के इतिहास में भी सोफ़िस्ट्स ने एक सजीव भाग लिया है। प्रचलित सामाजिक तथा नैतिक धारणाओं और मान्यताओं की उन्होंने कटु आलोचना की और ऐसी रूढ़ियों तथा परम्पराओं की अवहेलना की जिन्हें युक्ति और तर्क द्वारा ठीक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन बातों ने अफ़लातून और अरस्तु जैसे दार्शनिकों को नगर राज्य के आदर्शों तथा राज्य के स्वरूप और आधार का विवेचन और विश्लेषण करने के लिए विवश किया। उन्होंने (सोफ़िस्ट्स ने) 'यूरोप के लिए व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र का आविष्कार किया; उन्होंने द्वन्द्ववाद (Dialectic) का विकास किया; बहस के बहुत से रूपों का विश्लेषण किया और लोगों को भ्रमात्मक बातों को पकड़ने और स्वयं उनका प्रयोग करने की कला सिखलाई।'†

* '...... half teachers and thinkers, half disseminators of things new and strange, paradoxical and astonishing which could catch the ear. With something of the charlatan they combined something of the philosopher.' Barker : *ibid*, page 58.

† '...... invented grammar and logic for Europe; they developed dialectic, analysed the forms of argument, and taught man how to detect and practise fallacies.' —Will Durant : *op. ct.*, page 361.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूनान के राजनीतिक विचार तथा इतिहास में सोफ़िस्ट्स का चाहे कुछ भी भाग क्यों न रहा हो; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किसी विधिवत् विचार धारा को जन्म दिया। ऐसे कोई मूल और सामान्य सिद्धान्त न थे जिनमें सभी सोफ़िस्टों का विश्वास हो। उनका कोई सामान्य मत न था। उनके अध्ययन विषय, उनके सिद्धान्तों और उनके अध्ययन विधि में बड़ा वैभिन्य था। उनमें से अधिकतर विदेशी थे जो ऐथन्स में आकर बस गये थे। उन्हें समाज में काफी हद तक बराबरी का दर्जा प्राप्त था; किन्तु राजनीतिक अधिकार उन्हें कोई नहीं दिये गये। वे विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाते थे। कोई व्याकरण पढ़ाता था तो कोई न्याय-शास्त्र तथा द्वन्द्वशास्त्र (Dialectic)। वाद शास्त्र (Rhetoric) तो वे लगभग सभी लोग सिखाते थे क्योंकि उस युग में उसकी बड़ी भारी मांग थी। कुछ ने आचार विचार तथा राजनीति के क्षेत्र में भी कुछ देन दी है। पहिले के सोफ़िस्ट्स अधिकतर रूढ़िवादी होते थे और बाद के अधिकतर क्रान्तिकारी। प्रोटेगोरस (Protagoras) की राजनीतिक तथा भौतिक धारणायें एकदम रूढ़िवादी हैं। उसे तो प्रकृति और रीति-रिवाज में ही कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता था। वह राज्य को एक आध्यात्मिक समाज समझता है जिसके संगठन तथा ऐक्य का आधार न्याय तथा श्रद्धा भावना है। कैलीक्लीज़ (Callicles) तथा थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) सरीखे बाद के सोफ़िस्ट्स क्रांतिकारी थे जो अपनी समकालीन व्यवस्था को विध्वंस कर देना चाहते थे। अफ़लातून ने उनका जो चित्र खींचा है उसके अनुसार उन्हें सत्य से कोई प्रेम न था; वे या तो धनलोलुप थे या वाग्संग्राम में विजय के आकांक्षी।

यद्यपि सोफिस्ट्स का कोई सम्प्रदाय न था; किन्तु उनमें कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ अवश्य थीं। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है उनका मानवतावाद (Humanism)। सभी सोफिस्ट्स मानवतावादी थे। वे मनुष्य को ही मानव विचार और अध्ययन का केन्द्र मानते थे; प्रारंभिक यूनानी दार्शनिक बाह्य जगत की गुत्थियों को सुलझाने में ही लगे हुए थे; उनका ध्येय प्रकृति की विविधताओं में अन्तर्निहित एकता की खोज करना था। यह एकता किसी को जल में, किसी को अग्नि में, किसी को वायु में तथा किसी को अन्य किसी प्राकृतिक पदार्थ में दिखाई पड़ती थी। जड़ जगत की लीला में वे इतने तन्मय रहे कि चैतन्य संसार की ओर उनका ध्यान न गया। आचार शास्त्र, राजनीति शास्त्र, भाषण तथा वाद कला जैसी मनुष्य सम्बन्धी विद्याओं को मानव अध्ययन का केन्द्र बनाने का श्रेय सब से पहिले सोफिस्ट्स को ही प्राप्त है। यह मानव प्रधान प्रवृत्ति सुकरात (जो सोफिस्ट नहीं था) की शिक्षाओं में तो चरम सीमा को जा पहुंची। सुकरात के विषय में ही तो यह उक्ति प्रसिद्ध है कि वह दर्शन शास्त्र को स्वर्ग से धरती पर लाया। उसने दर्शन शास्त्र का विषय भौतिक जगत की जगह मानव संसार को बनाया। यह एक बहुत बड़ी सेवा है जो सोफिस्ट्स ने मानवता की की है। मनुष्य ही अध्ययन रुचि में जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन सोफिस्ट्स ने किया वह प्रोटेगोरस की इस उक्ति में कि 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है' स्पष्ट झलकता है। कुछ लोग इस कथन की व्यक्तिवादी व्याख्या करते हुए इसका यह अर्थ लगा बैठते हैं कि प्रत्येक वस्तु का निर्णायक अपने लिए स्वयं व्यक्ति है, यदि किसी वस्तु को वह अच्छी समझता है तो वह अच्छी है और जो वस्तु उसे बुरी लगती है वह बुरी है। प्रोटेगोरस की यह एक सही व्याख्या नहीं है। वह व्यक्तिवादी नहीं था। उसके कहने का अभिप्राय केवल यह था कि संसार के सम्बन्ध में कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसे मनुष्य के साथ सम्बन्धित न किया जाय।

समस्त सोफिस्ट्स की एक अन्य सामान्य विशेषता यह थी कि वे निरपेक्ष ज्ञान (Absolute knowledge) के आदर्श को सन्देह और संशय की दृष्टि से देखते थे। उनकी शिक्षाओं में यह बात स्पष्ट रूप से निहित है कि निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) जैसी कोई चीज संसार में नहीं है। ऐसा कोई सिद्धान्त, कोई धारणा, कोई विचार और कोई नियम यहाँ नहीं हो सकते जो प्रत्येक देश, काल और स्थिति में सर्वमान्य हों। न्याय का ऐसा कोई निरपेक्ष और निरापद सिद्धान्त इस जगत में नहीं हो सकता जो हर जगह और हर काल में लागू हो सके। सोफिस्ट्स के इस संशयवाद (Scepticism) का अर्थ है प्रकृति के उस बौद्धिक चरित्र से इनकार करना जोकि प्रारंभिक यूनानी विचार का आधार था। गोर्जिया (Gorgias) सरीखे कुछ सोफिस्ट्स ने तो ऐसे सांगोपांग संशयवाद का विकास किया जिसकी झपट से कोई भी परम्परागत यूनानी विश्वास और धारणा न बच सकी। राज्य के स्वरूप, क़ानून के मूल तथा स्वरूप और उसकी मान्यता इत्यादि के बारे में जितनी भी प्राचीन परम्परागत धारणायें थीं उन सब में इसने एक उथल पुथल सी मचा दी। साधारणतया उन सब का विश्वास था कि राज्य एक कृत्रिम वस्तु है जिसे मनुष्य ने प्राकृतिक नियम के विरुद्ध एक लक्ष्य की पूर्ति के लिये बनाया है और विभिन्न राज्यों के क़ानून विभिन्न होते हैं। एक राज्य एक काम का निषेध करता है, दूसरा उसी को करने का आदेश देता है। ऐसे क़ानूनों को न तो हम देवाज्ञा मान सकते हैं और न किसी निरपेक्ष न्याय सिद्धान्त की अभिव्यंजना; वे तो केवल मनुष्यों द्वारा अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बनाये गये रस्मो-रिवाज हैं। वे सबल का दुर्बल के ऊपर शासन करना और अपनी शक्ति का पूर्ण प्रसार तथा विकास करना असम्भव बना देते हैं। विलोबी (Willoughby) के शब्दों में सोफिस्ट्स ने "नागरिक को राज्य के क़ानून और परम्परागत नैतिकता में प्राकृतिक और विश्वव्यापी सत्य की अभिव्यंजना देखना नहीं बल्कि कुछ ऐसे प्रत्यादेशों की खोज करना सिखाया जिनका मूल उन व्यक्तियों की स्वार्थपरता थी जिन्होंने उन्हें बनाया, जारी किया तथा उन्हें लागू किया।"*

* "Instead of being instructed to see principles of natural or universal right embodied in the civil laws and customary morality of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति स्मृति संग्रह

सोफिस्ट्स की दो और विशेषताएँ भी स्मरणीय हैं, चाहे वे अधिक महत्त्व-पूर्ण न हों। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे ऐतिहासिक, रोमांसकारी, अध्यात्मशास्त्री, संशयवादी तथा अपने समय के शरीर-शास्त्री थे। शायद ही कोई विषय उनसे अछूता बचा हो। सोफ़िस्ट्स की सर्वांगीणता का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। शायद ही कोई सोफिस्ट अपने को केवल एक विषय तक सीमित रखता था; वह अनेक विषयों का ज्ञाता होने का दावा करता था। हिपियास (Hippias) में तो यह गुण चरम सीमा को जा पहुंचा था। वह एक ही साथ कवि और गणितशास्त्री, पुराणवेत्ता तथा आचारशास्त्री, इतिहासवेत्ता तथा राजनीतिशास्त्री था और इसके अतिरिक्त संगीत तथा अन्य कलाएँ भी वह जानता था। केवल इतना ही नहीं, अपने वस्त्र भी वह स्वयं सीता था। दूसरी बात यह थी कि साधारणतया वे अपनी शिक्षा देने का मुआवज़ा लेते थे। सुक़रात की यह विशेषता थी कि वह कभी शिक्षा शुल्क ग्रहण न करता था; विद्या-दान उसका कर्म था। यूनान के राजनीतिक विचार के इतिहास में सोफिस्ट्स ने जो भाग लिया है, और जो उनकी देन है, उसे समझने के लिये उपरोक्त दोनों बातों में से कोई भी अधिक आवश्यक नहीं है।

प्रकृति तथा अभिसमय (Nature and Convention)— यह बताया जा चुका है कि सोफिस्ट्स ने मानव चिंतन धारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया; उन्होंने मनुष्यों को मानव ज्ञान तथा मानव विचार का केन्द्र बनाया। किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से यदि हम उन पर विचार करें तो यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राचीन परम्पराओं का एकदम परित्याग नहीं किया बल्कि उन्हें अपनाया और जारी रक्खा। हाँ, उन्होंने एक नया आवरण उन्हें अवश्य दिया। जैसा कि हम पहिले भी कह चुके हैं, आदिकालीन विचारकों का ध्येय वाह्य जगत और प्रकृति के नाना रूपों में निहित एक मूल तत्त्व खोजना था जिसे आधार मानकर वे समस्त विश्व का विश्लेषण और व्याख्या करने की चेष्टा करते थे। इस आधारभूत तत्त्व को कोई जल में, कोई वायु में, कोई विचार-शक्ति में तथा कोई परमाणु में देखता था। इस प्रकार उन्होंने अन्तिम, अन्तर्निहित और निरपेक्ष सत्य तथा क्षणिक, परिवर्तनशील और वाह्य रूपों में भेद किया, और पहिले को लेकर और उसे आधार बना कर दूसरे को समझाने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि में पहिली चीज़ एक वास्तविक तथ्य था, प्रकृति थी; किन्तु दूसरी बात का आधार केवल अभिसमय अर्थात् रीति-रिवाज था। यह क्षणिक और स्थायी, आन्तरिक और वाह्य तथा निरपेक्ष और सापेक्षिक का विभेद उन्होंने नीति तथा राजनीति में भी देखने की चेष्टा की। उन्होंने मानव स्वभाव के कुछ ऐसे आधारभूत तथ्यों को खोजने का प्रयास

his country the citizen was taught to discover only particular decrees which were in the main the product of selfish desires of those who had orginally issued or sanctioned them." Willoughby, quoted by Maxey.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी किया जिनके आधार पर विभिन्न राज्यों तथा जातियों में पाये जाने वाले क़ानूनों तथा रस्मो-रिवाज में एक व्यवस्था और तारतम्य स्थापित किया जा सके। उनके सामने प्रश्न यह था: क्या कोई ऐसा आधारभूत सिद्धान्त भी हो सकता है जिसके द्वारा विभिन्न राज्यों के क़ानूनों और रिवाजों में विविधता के होते हुए भी एक मौलिक एकता का अनुभव किया जा सके? यदि ऐसा कोई सिद्धान्त है तो उसका स्वरूप क्या है? मनुष्य के क़ानूनों और रिवाजों पर ऐसे सिद्धान्त का क्या प्रभाव पड़ता है? इस प्रकार प्रकृति तथा अभिसमय का विभेद मानव संसार और मानव के परस्पर सम्बन्धों में परिलक्षित किया गया। विभिन्न नगर राज्यों में पाये जाने वाले वास्तविक क़ानूनों और रस्मो-रिवाज को अभिसमयात्मक (conventional) समझा गया और न्याय के एक आदर्श सिद्धान्त को प्राकृतिक। इन दोनों में कभी कभी संघर्ष देखने में आता था।

परन्तु इस आदर्श क़ानून की दो भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी व्याख्यायें की जा सकती हैं। इसको नैतिक भी कहा जा सकता है और नीतिविहीन (Amoral) भी। इसको ईश्वरीय क़ानून समझ कर इसके आधार पर सामाजिक अवगुणों की आलोचना की जा सकती है। जब ऐन्टीगोन (Antigone) के ऊपर युद्ध में मारे गये अपने भाई का अन्तिम संस्कार करने के कारण राज-क़ानून-भंग का आरोप लगाया गया तो उसने ईश्वरीय क़ानून की दुहाई दी। हमारे अपने देश में भी राजा राममोहन राय, ऋषि दयानन्द, महात्मा गाँधी तथा अन्य बहुत से समाज-सुधारकों ने बुद्धिविहित उच्चतर धर्म के नाम पर अस्पृश्यता, बलात् वैधव्य, कन्या हत्या जैसे अमानुषी रिवाजों और रूढ़ियों का खण्डन किया। किन्तु बाद के सोफ़िस्ट्स ने आदर्श न्याय के क़ानून की एक नीतिविहीन व्याख्या की और इस का प्रयोग उन्होंने कुछ प्राचीन तथा परम्परागत विश्वासों को नष्ट करने के लिए किया। उनके अनुसार मनुष्य बावजूद अपनी विशिष्टताओं के एक प्राणी है, पशु है और अन्य पशुओं के सदृश आवश्यकता और समय ने मिल कर उसे जन्म दिया हैं। जीवन रक्षा के लिये उसे एक घोर संघर्ष में से गुजरना पड़ता है। भय, अभिमान, शक्ति प्राप्त करने की इच्छा, अधिकार, प्रेम जैसी जैविक प्रवृत्तियाँ उसे प्रकृति की ओर से मिली हैं। अपनी इच्छाओं को अधिक से अधिक बढ़ाना, उन्हें पूर्ण करने के साधन जुटाना तथा दूसरों के ऊपर शासन जमाने की कामना करना मनुष्य का परम धर्म है। यदि जीवन का सुख, वैभव तथा आराम प्राप्त करने के लिए दूसरों को कष्ट देना पड़े तो कोई हर्ज नहीं बशर्ते कि ऐसा करने के लिये आप को कोई दण्ड भुगतना न पड़े। यदि समाज के क़ानून आपके मार्ग में बाधक हों तो आप उन्हें तोड़ सकते हैं यदि आपको उसके लिए कोई दण्ड मिलने की आशंका न हो। सरकार के क़ानूनों को केवल विवश होकर ही मानना चाहिये, स्वेच्छापूर्वक नहीं। राजाज्ञा का पालन करना मनुष्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है, वह केवल हमारी अपनी सुविधा और मसलहत की बात है। उसका पालन व्यक्ति को विवशता में ही करना चाहिये, यदि वह उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लंघन कर सकता हो तो उसे करना चाहिये। सारांश यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार अहंकार और स्वार्थ ही प्रकृति है और उसी की पूर्ति करना प्राकृतिक धर्म है। जो लोग मीन न्याय में विश्वास करते हैं; और जिसकी लाठी उसी की भैंस समझते हैं, उनके लिए स्वार्थमूलक अहंकार और प्रकृति को एक समझना स्वाभाविक ही है।

एल्सीडेमास (Alcidamas) सरीखे सोफ़िस्ट प्रकृति और अभिसमय के विरोध द्वारा यह सिद्ध करते थे कि दास और कुलीन पुरुष में कोई विभेद नहीं है। एल्सीडेमास का कथन था कि प्रकृति ने सब मनुष्यों को बराबर बनाया है; उसने किसी को दास नहीं बनाया। इसी प्रकार ऐंएटीफ़ोन (Antiphone) ने इसका आशय लेकर यूनानी और बर्बर (Barbarian) के विभेद से इन्कार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोफ़िस्ट्स ने प्रकृति की एक ऐसी व्याख्या की जिसका कोई नैतिक आधार न था; उन्होंने स्वार्थ और अहम् पर आधारित आचार शास्त्र का प्रचार किया जिसका आगे चलकर अफ़लातून ने घोर खण्डन किया।

सुक़रात (Socrates)— सोफ़िस्ट्स, उनकी विचार पद्धति और राजनीति विचार को उनकी देन हम देख चुके। आइये अब हम उस महान् व्यक्ति का अध्ययन करें जो सुकरात के नाम से जगत्विख्यात है और जिसे कुछ लोग सोफ़िस्ट्स की श्रेणी में रखना पसन्द करते हैं। ऐथन्स निवासी उसे एक सोफ़िस्ट ही समझते थे। और सोफ़िस्ट शब्द का जो आधुनिक और शाब्दिक अर्थ है उसके अनुसार सुक़रात को सोफ़िस्ट कहा भी जा सकता है। उसमें शब्द चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति थी, उसमें वाक्चातुर्य था; उसमें विलक्षण तर्कना शक्ति थी। वह वाद विवाद करने में निपुण था। वह ऐसे दृष्टांत देता जो युक्तियुक्त न होते हुए भी उसके विरोधियों का मुँह बन्द कर देते थे। अन्य सोफ़िस्ट्स की तरह वह भी मानवता प्रधान विषयों के अध्ययन में ही रुचि रखता था। मानवतावाद की यह नवीन धारा जिसका सूत्रपात सोफ़िस्ट्स ने किया था सुक़रात में अपने उच्चतम रूप में मुखरित हो उठी। वह तो नैतिकता को ही समाज का तत्त्व समझता था और सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए ही उसने अपने को समर्पित कर रक्खा था। किन्तु यह सब होते हुए भी सुक़रात और सोफ़िस्ट्स में इतने आधारभूत भेद हैं, इतना गम्भीर मतवैभिन्न्य है कि उसे सोफ़िस्ट कहना भूल होगी। उसके जीवन का तो उद्देश्य ही सोफ़िस्ट्स की विचार पद्धति का पर्दाफ़ाश करना और उसका खोखलापन दिखाना था। वह बड़ी तत्परता के साथ उनके सिद्धान्तों का खण्डन करता था और ऐसा करने में उसे आनन्द मिलता था।

अफ़लातून ने जो सुक़रात का शिष्य था उसके विचारों और मान्यताओं को अपनाया और उन्हें प्रतिष्ठित किया। उसके जितने भी डायलॉग्स (Dialogues) हैं उन सब में सुक़रात के रूप में अफ़लातून ही बोलता है। इसके विपरीत सोफ़िस्ट्स का उसने घोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्डन किया। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि सुक़रात एक सोफ़िस्ट न था। सुक़रात और सोफ़िस्ट्स में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) सोफिस्ट्स प्रकृति तथा अभिसमय के परस्पर विरोध से यह परिणाम निकालते थे कि सामाजिक क़ानून तथा रिवाज हमारे लिए नैतिक रूप से मान्य नहीं हैं; किन्तु सुक़रात रूढ़िवादी था और उनका पालन करना आवश्यक समझता था। अपने राज्य ऐथन्स के क़ानून को तोड़ना वह अपने जीवन की रक्षा के लिये भी सहन नहीं कर सकता था। वह चाहता तो जेल से भाग कर अपने प्राण बचा सकता था ; ऐसा करने की सुविधा उसे मिली. परन्तु उस सच्चे राजभक्त ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

(२) हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सुक़रात एक वस्तु-प्रधान सद् और विश्व-व्यापी न्याय में विश्वास करता था जिसकी सत्ता से सोफ़िस्ट्स इन्कार करते थे; उसने नैतिक नियमों को निश्चित रूप से बुद्धिसम्मत आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने उग्रवादी सोफ़िस्ट्स के शून्यवादी आचार शास्त्र को पूर्ण रूप से निरस्त कर दिया। उसने सिखाया कि सदाचार ज्ञान है और दुराचार अज्ञान (Virtue is knowledge and vice ignorance)। उसके द्वारा दी हुई शिक्षा प्राविधिक (Technical) न थी; उसने मनुष्यों को यह नहीं सिखाया कि वे अपनी नीतियों में सफलता किस प्रकार प्राप्त करें ; वह गहराई में उतरा; उसका अभीष्ट वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति था। सुक़रात के लिए जो बात महत्त्वपूर्ण थी वह यह नहीं कि एक व्यक्ति जानता क्या है, बल्कि यह कि उसका ज्ञान उसके जीवन का अंग कहाँ तक है। उसने साधारण तथा वास्तविक ज्ञान में विभेद किया जिसने उसे सोफ़िस्ट्स से सर्वथा अलग एक विशिष्ट कोटि में रख दिया। उस विभेद को हम आगे चलकर समझायेंगे।

(३) आयोनियन (Ionian) विचारकों का परित्याग करने में सुक़रात सोफ़िस्ट्स से कहीं आगे बढ़ गया। अनेक्सीमेण्डर (Anaximander) के युग के अन्त की और अफ़लातून तथा अरस्तु के युग के आविर्भाव की सूचना सुक़रात देता है, सोफ़िस्ट्स नहीं। आदिकालीन यूनानी विचारक जिन्हें आयोनियन कहा जाता है, जगत की एक यान्त्रिक (Mechanical) व्याख्या देते थे, लक्ष्यात्मक (Teleological) नहीं। वे केवल यह जानने की चेष्टा करते थे कि संसार की वस्तुएँ किस प्रकार बनी हैं; इस बात से उन्हें कोई सरोकार न था कि वे क्यों बनी हैं। दर्शन के इतिहास में सुकरात पहला व्यक्ति था जिसने वस्तुओं के अन्तिम उद्देश्य और कारण की खोज की, सोफ़िस्ट्स नहीं। अफ़लातून और अरस्तु ने भी इस पद्धति को अपनाया और उसको अधिक विकसित किया।

(४) सोफ़िस्ट्स की धारणा थी कि मानव व्यवहार एक कला है और वे उस कला में पारंगत होने तथा उसे सिखाने का दावा करते थे। सुकरात की तरह वे भी मानते थे कि शुभ (goodness) ही ज्ञान है, किन्तु इस विषय में दोनों में एक बुनियादी अन्तर है। सोफ़िस्ट्स का विश्वास था कि 'शुभ' एक विशेष कला है जिसे दूसरी कलाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भांति ही विशेष ज्ञान द्वारा सीखा जा सकता है; किन्तु सुकरात की धारणा थी कि शुभ एक सामान्य शक्ति है, विशिष्ट नहीं। वह अनुपम है, उसका कोई जोड़ नहीं। उसकी कोई ऐसी विशेष कला नहीं हो सकती जैसी की जहाज़ चलाने की अथवा शारीरिक रोगों का इलाज करने की। शुभ की प्राप्ति के लिये किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है; उसके लिये तो तत्त्व, अन्तिम सत्य का जानना आवश्यक है। ज्ञान के इस द्वैतवादी सिद्धान्त की व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।

(५) सोफ़िस्ट्स अपनी सेवा के बदले में अर्थात् शिक्षा प्रदान करने के पुरस्कार स्वरूप फ़ीस लेते थे, उनके अधिकतर शिष्य धनिक वर्ग के लोग थे; किन्तु सुक़रात का दरवाज़ा सब के लिये खुला था। चाहे अमीर हो चाहे ग़रीब जो भी उसका बात सुनने को इच्छुक होता था सुक़रात उसी से मिलता और बात करता था और किसी से किसी प्रकार की कोई फीस न लेता था। यही कारण है कि उसकी शिक्षाओं में वह स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता झलकती है जो सोफ़िस्ट्स में देखने को नहीं मिलती।

सुक़रात का जीवन ध्येय— सुक़रात के दो प्रकार के ज्ञान तथा उनके ऊपर आधारित दो प्रकार की नीति अथवा शुभ के सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व उसके जीवन तथा मृत्यु के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारण व्यक्ति बिना बात के जाने हुए कि उनका क्या महान् उद्देश्य है जन्मते और मरते हैं; किन्तु सुक़रात साधारण मानवों से भिन्न था क्योंकि उसे इस बात की चेतना थी कि उसे एक ईश्वरीय उद्देश्य की सिद्धि करनी है। उस उद्देश्य की चेतना उसे तब हुई जब कि डेल्फ़ी के *ऑरेकिल* ने यह घोषणा कर दी कि वह यूनान का सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य है। जब वह यह न समझ सका कि वह समस्त यूनानियों में सब से अधिक बुद्धिमान किस प्रकार है तो उसने उस प्रतिघोषणा की सत्यता को परखने का प्रयास किया। वह एक ऐसे राजनीतिज्ञ के पास गया जो कि एक बुद्धिमान मनुष्य समझा जाता था और उससे सत्य, शुभ, सुन्दर सरीखे शब्दों का अर्थ पूछा। उसने पाया कि वह विख्यात बुद्धिमान् व्यक्ति बिल्कुल भी बुद्धिमान न था; उसे सत्य का ज्ञान न था। सुक़रात एक अन्य और फिर उससे भी अन्य तथाकथित बुद्धिमान् व्यक्ति के पास गया; किन्तु उसने प्रत्येक को वास्तव में अज्ञानी पाया। वह स्वयं अपने आप को अज्ञानी कहता था, किन्तु क्योंकि वह अपनी अज्ञानता को जानता था इस लिए वह दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान था। इसलिये सत्य अथवा ज्ञान के तथा-कथित ठेकेदारों के अज्ञान का पर्दा फाश करना उसके जीवन का ध्येय बन गया, और उसने अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्ष इस ध्येय की सिद्धि में लगाये। इस कार्य को उसने एक धार्मिक उत्साह के साथ किया। इस कार्य की पूर्ति करने के लिए उसने एक अनोखी पद्धति अपनाई। पूर्व-कालीन दार्शनिकों की भाँति उसने अपने विषय का गद्य या पद्य में विवेचन नहीं किया, और न ही सोफ़िस्ट्स की भांति उसने अपने विषय की कोई क्रमबद्ध व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की। उसकी पद्धति यह थी। वह किसी व्यक्ति से न्याय, सदाचार, भक्ति, साहस सरीखे शब्दों का अर्थ पूछता था और फिर प्रश्नोत्तर के द्वारा उसकी धारणा की अस्पष्टतायें और असंगततायें दिखलाता था और अन्त में उसे विश्वास दिलाता था कि वह अज्ञानी था। इस प्रकार से विजित और अपमानित लोगों को यह सब कुछ कटु और अरुचिकर था। अफ़लातून ने अपनी कृतियों में इस पद्धति की भावना और रूप, दोनों को अपनाया है; उसने अपने ग्रथों को संवाद का रूप दिया है जिनमें सुक़रात सदैव प्रमुख अभिवक्ता और नवीन विचारों का अनुसंधान करने वाला है। हमें यह याद रखना चाहिये कि सुक़रात अपने श्रोताओं को कोई नवीन बात सिखलाने का दावा बिल्कुल न करता था; इतना ही नहीं वह तो यहाँ तक कहता था कि मेरे पास कोई ज्ञान ही नहीं है। उसका उद्देश्य तो नकारात्मक रूप से दूसरों के अज्ञान का भण्डा फोड़ करना और धनात्मक रूप से उनके स्वयं सत्य अनुसंधान करने में उनकी सहायता करना था। क्रॉसमैन के शब्दों में, "उसने अपने श्रोताओं को नवीन और दिलचस्प विचार प्रदान नहीं किये, बल्कि एक नर्स की भाँति उसने गर्भवान मस्तिष्क को नवीन सत्य का जन्म देने में सहायता दी।" सुक़रात ने जो कुछ कहा उसने उसे लेखबद्ध कभी नहीं किया; उसने उसे अपने श्रोताओं के सामने केवल व्यक्त किया। उसका जीवन अपने दर्शन के अनुकूल था और उसने दूसरों के संसर्ग द्वारा उसे विकसित किया।

सुक़रात का सिद्धान्त— सुक़रात की द्वन्द्ववाद की पद्धति का उसके सिद्धान्त से घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसा कि हम पहिले उल्लेख कर चुके हैं, उसके मतानुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है; एक तो वह जो केवल हमारे विश्वास तक सीमित है और दूसरा है वास्तविक ज्ञान। पहिले प्रकार के ज्ञान का कोई दृढ़ आधार नहीं है, उसमें परिवर्तन और अदल बदल हो सकते हैं। वास्तव में यह ज्ञान का एक आवरण मात्र है, यथार्थ ज्ञान नहीं। परन्तु दूसरे प्रकार का ज्ञान अचल, अडिग और अटल है। उसमें कोई परिवर्तन, कोई संशोधन नहीं हो सकता। वह तो एक निरपेक्ष तथा अमर सत्य है। पहिले प्रकार का उदाहरण है अनुभवसिद्ध विश्वास और दूसरे का वैज्ञानिक सत्य।

ज्ञान के इन दो रूपों के अनुरूप ही धर्म के और श्रेय (Goodness) के भी दो रूप हैं। एक सापेक्षिक है जिसका आधार व्यक्तिगत मत और विश्वास है। जिस प्रकार मनुष्य के मत और विश्वास में परिवर्तन होता रहता है, इसी प्रकार सापेक्षिक धर्म में भी संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। बदली हुई परिस्थितियों में यह भी बदल जाता है। इसके विपरीत निरपेक्ष धर्म का आधार मानव की शाश्वत बुद्धि है जो सदा एक-रस रहती है, इसलिये वह अमर और नित्य है। वह प्रत्येक स्थिति में मान्य है और हमारा पथप्रदर्शक है। जिस ज्ञान के ऊपर यह आधारित है उसके सदृश इसे दूसरों तक पहुँचाया भी जा सकता है। क्योंकि जो धर्म कुछ सिद्धान्तों के ऊपर आधारित है वह उन सिद्धान्तों की एक निश्चित परिभाषा भी चाहता है और जिस बात या वस्तु को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिभाषाबद्ध किया जा सकता है उसे दूसरों को सिखाया भी जा सकता है। ज्ञान के इस स्वरूप और परिभाषा से ही सुकरात का यह सर्वमहत्त्वपूर्ण तथा बेजोड़ सिद्धान्त निकला है कि धर्म ही ज्ञान है। अफलातून ने दृढ़तापूर्वक इस सिद्धान्त को अपनाया, राजनीति विचार के सम्बन्ध में इसके जो परिणाम निकले उन्हें स्पष्ट किया।

यदि धर्म ज्ञान है तो अज्ञान पाप का मूल है। यदि एक मनुष्य जानबूझ कर धर्म की अवहेलना नहीं कर सकता तो जानबूझ कर वह पाप भी नहीं कर सकता। किन्तु यथार्थ जगत में ये दोनों बातें सत्य प्रतीत नहीं होतीं। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि कभी कभी हम जानबूझ कर भी पाप करते हैं और अपने धर्म को समझते हुए भी उसका पालन नहीं कर पाते। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण सुकरात के सिद्धान्त के सच्चे अपवाद नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनका यह उत्तर दिया जा सकता है कि ये अपवाद वास्तविक ज्ञान के नहीं, वरन् ऊपरी विश्वास के हैं। यदि कोई व्यक्ति क्रोध को बुरा समझते हुए भी क्रोध कर बैठता है तो उसका अर्थ है कि उसकी आत्मा क्रोध को सचमुच बुरा नहीं समझती। एक जितेन्द्रिय महात्मा जिसने क्रोध के वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसका परित्याग कर दिया है कभी उसका शिकार नहीं हो सकता। धर्म और ज्ञान की एकरूपता हमें इसलिये नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि ज्ञान शब्द का हम एक भिन्न अर्थ लगाते हैं। सुकरात के लिये ज्ञान एक बौद्धिक विश्वास न था; वह उसे समस्त हृदय और आत्मा की अनुभूति समझता था। वह आत्मा का आलोक था।

सुकरात द्वारा प्रतिपादित इस धर्म और ज्ञान की एकरूपता के बड़े महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हैं जिनमें से कुछ की ओर स्वयं सुकरात ने ही संकेत किया था और कुछ पर उसके महानतम शिष्य अफलातून ने बल दिया। इसी के कारण सुकरात ने शासकों के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया। वैसे तो सोफ़िस्ट्स ने भी इसका आग्रह किया था और इस प्रकार का आवश्यक विशेष ज्ञान प्रदान करने का वे दावा भी करते थे; किन्तु सुकरात और उनमें बड़ा अन्तर है। सोफ़िस्ट्स के अनुसार सरकार अथवा शासन एक विशेष कला है जिसके लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता है। सुकरात ऐसा नहीं मानता था कि मानव व्यवहार की एक विशेष कला है जिसके लिए किसी विशेष धर्म की आवश्यकता है; इसके विपरीत वह तो इसे स्थापत्य (Architecture) कला समझता था जिसके लिए सामान्य धर्म अभीष्ट था। यह सम्पूर्ण आत्मा का धर्म है जो उसकी समस्त क्रियाओं में तारतम्य उत्पन्न करता है। इसी धारणा के फलस्वरूप सुकरात ने प्रजातन्त्रवाद पर प्रहार किया जो प्रत्येक व्यक्ति को शासन पद के योग्य समझता है। उसने पाँसा फेंककर या लाटरी डालकर अधिकारियों को छाँटने की प्रथा का भी विरोध किया क्योंकि ऐसा करने से ज्ञानी व मूर्ख सब बराबर हो जाते हैं और शासन के लिए जिस ज्ञानी और बुद्धिमान व्यक्ति की आवश्यकता है उसका निर्वाचित होना कठिन होता है। बुद्धि द्वारा शासन का यह सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन सुकरात ने किया अफलातून के हाथों में पड़कर और भी मुखरित हो उठा। अफलातून का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक राजा जो अपनी स्वतन्त्र तथा सुशिक्षित बुद्धि द्वारा शासन करता है एक ऐसा ही शासक है जैसा कि सुकरात के अनुसार होना चाहिये। इसलिए स्वार्थरहित निरंकुशवाद के सभी प्रशंसक अपने विचारों के समर्थन में सुकरात को पेश करते हैं।

सुकरात के सिद्धान्त के उपरोक्त राजनीतिक परिणाम और कानून, न्याय तथा राज्य के सम्बन्ध में वे धारणायें जो अफलातून के अनुसार सुकरात की थीं के अतिरिक्त उसकी शिक्षाओं का अधिक राजनीतिक महत्त्व नहीं है। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि न केवल उसका समस्त जीवन बल्कि उसकी मृत्यु भी उसकी राजभक्ति तथा कानून-पालन का अकाट्य प्रमाण है। सुकरात अपने देश, ऐथन्स के हित के लिए थ्रेस (Thrace) और डीलियम (Delium) के रणक्षेत्र में तलवार हाथ में लेकर लड़ा। एक बार वह परिषद् और परिषद् समिति का सदस्य बना और परिषद् के अन्य सदस्यों के गैरकानूनी कार्यों का डटकर विरोध किया। आगे चल कर उसने 'तीस अत्याचारियों' (Thirty Tyrants) के शासन काल में ऐसी आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया जिन्हें वह गैरकानूनी और अन्यायपूर्ण समझता था। जीवनपर्यन्त उसे हम एक कर्त्तव्यपरायण, कर्मठ और देशभक्त नागरिक के रूप में पाते हैं किन्तु उसकी राजभक्ति और कानूनप्रियता उसकी मृत्यु के समय अपनी चरम सीमा को जा पहुँची। उसे मृत्युदण्ड की आज्ञा दी जा चुकी है, काल-कोठरी में पड़ा हुआ है, विष का प्याला पिलाया जाने को है। उसके कुछ भक्त और मित्र उससे भाग निकलने का आग्रह करते हैं; किन्तु इस कानून के पुजारी ने प्राण बचाने के लिए भी कानून तोड़ने से इन्कार कर दिया। हां, ईश्वरीय कानून के सामने तो वह मनुष्यकृत कानून की अवहेलना करने को तैयार था। उसका समस्त जीवन इस शिक्षा का मूर्त्त रूप था कि "अपनी आत्मा के लिए तो राज्य का विरोध करना भी उचित है; किन्तु दूसरी बातों में हमें अपने प्राण देकर भी राजाज्ञा का पालन करना चाहिये।"*

सुकरात की मृत्यु से अफलातून को इतना धक्का लगा कि उसने राजनीति में भाग लेने का विचार ही छोड़ दिया और अपने जीवन को विचार, मनन, साहित्य रचना तथा भ्रमण में लगा दिया। भला वह ऐसे जनतन्त्र को कैसे पसन्द करता जिसने एक ऐसे व्यक्ति को मौत के घाट उतार दिया जिसे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ, सबसे अधिक बुद्धिमान तथा सर्वाधिक न्यायशील मनुष्य समझता था। शासन के विभिन्न रूपों में उसने जनतन्त्र को एक बहुत ही नीचा स्थान दिया। याद रहे कि सुकरात का जन्म ४६६ ईसा पूर्व (B. C.) में पैरीक्लीज़ के शासक बनने से ४ वर्ष पूर्व हुआ था और उसकी मृत्यु ३६६ ईसा पूर्व में हुई जबकि ऐथन्स का पतन हुए ५ वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार उसने ऐथन्स को वैभव के शिखर पर चढ़ते हुए भी देखा और पतन के गहरे गर्त में गिरते हुए भी।

* "...... for the sake of conscience a man may rise up against Caesar, but that in other matters, he must render unto Caesar the things that are Caesar's, even to the debt of his life." —Barker : *Ibid*, page 96.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ४

अफ़लातून (Plato)

रिपब्लिक (Republic)

परिचयात्मक— प्राचीन यूनान के राजनीतिक विचार के विकास और प्रगति में सुकरात तथा सोफिस्ट्स का हाथ तो अवश्य है; निस्सन्देह उन्होंने राजनीतिक समस्याओं को समझने और उन पर विचार करने की एक उत्सुकता जनसाधारण में उत्पन्न की; किन्तु किसी ने भी क्रमबद्ध रूप से और विधिपूर्वक राजनीतिक चिंतन नहीं किया। इसका सर्वप्रथम श्रेय अफलातून को ही दिया जाना चाहिये जिसने सब से पहिले पहल राजनीतिक समस्याओं पर एक वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया और नगर राज्य के सिद्धांतों तथा आदर्शों का सांगोपांग विश्लेषण किया। अफलातून के महान् शिष्य अरस्तु ने अपने इस महान् गुरु की परम्परा को न केवल कायम रक्खा बल्कि उसको ऊँचा उठाया और आगे बढ़ाया। इन दोनों महान् विचारकों ने न केवल नगर राज्य का राजनीतिक दर्शन हमें दिया बल्कि राजनीति के अनुसन्धान और अध्ययन के लिए महान् संस्थायें भी कायम कीं। अफलातून की एकाडेमी (Academy) और अरस्तु की लेसियम (Laceum) किसी भी दशा में आज के विश्वविद्यालयों से हीन न थे। इन विद्याकेन्द्रों और कुछ अन्य छोटी मोटी संस्थाओं के साथ जिन्हें अरिस्टीपस (Aristippus) तथा एंटिस्थिनीज़ (Antisthenes) ने कायम की थी यूरोपीय दर्शन विशेषकर राजनीति दर्शन और अन्य समाज शास्त्रों का सूत्रपात होता है। इस क्षेत्र में सबसे पहिला स्थान निस्सन्देह अफलातून और अरस्तु का है जिनमें यूरोप की बुद्धि का सबसे पहिला चमत्कार हमें मिलता है।

अफलातून का जीवन— अफलातून का जन्म ४२७ ई० पूर्व में ऐथन्स के एक कुलीन घराने में हुआ था। उससे दो वर्ष पहिले पैरिक्लीज़ मर चुका था। उससे २० वर्ष पहले प्लीपोनीशियन (Peloponnesian) के युद्ध में ऐथन्स की अपमानजक हार हो चुकी थी। ३४७ ई० पू० में उसका देहान्त हो गया जबकि मक़दूनिया का सैनिकवाद अपनी विजय के डंके बजा रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसने अपने जीवन में यूनान के इतिहास का एक अत्यन्त नाजुक युग देखा था। उसने अपनी आँखों से ऐथन्स को स्पार्टा के सामने घुटने टेकते हुए देखा; उसने अपने परम प्रिय गुरु सुकरात को विष का प्याला पीते हुए देखा; उसने ऐथन्स में 'तीस आततताइयों' (Thirty Tyrants) का शासन और नगर राज्य तथा उसके परम्परागत नैतिक आदर्शों का पराभव देखा। एक बार स्वेच्छा से और दो बार निमन्त्रण प्राप्त होने पर उसने सिसली देश की यात्रा की और वहाँ के आततायी शासक को सुधार कर उसे एक दार्शनिक राजा बनाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास किया; किन्तु वह अपने इस प्रयास में सफल न हो सका वल्कि उसे इसका कटु फल भुगतना पड़ा। उसने मिश्र, ईरान इत्यादि देशों का भी भ्रमण किया। उसने अपने चारों ओर एक राजनीतिक अस्थिरता और अशान्ति पाई जिसका उसके ऊपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि वह भारत भी आया और यहाँ उसने वेदान्त सीखा जिस के वहुत से चिह्न उसके सामान्य दर्शन में मिलते हैं।

२० वर्ष की अवस्था में अफ़लातून सुकरात के प्रभाव में आया और जव तक सुकरात जीवित रहा तभी तक अफलातून उसका शिष्य बना रहा। दोनों का यह सम्बन्ध ८ वर्ष तक चला। सुकरात की हत्या ने अफलातून को गहरा धक्का पहुँचाया। मानवता के प्रति इस घोर अपराध को देखकर उसकी आत्मा उस राजनीतिक जीवन से ही विद्रोह कर उठी जो उसके अभिजात्य कुल में जन्म लेने के कारण उसका जन्मसिद्ध अधिकार कहा जा सकता है। उस घटना से वह इस परिणाम पर पहुँचा कि तत्कालीन यूनान में सुकरात जैसे पवित्र और महान् आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसकी यह धारणा भी हो गई कि एक दार्शनिक और एक राजनीतिज्ञ में न केवल ध्येय की एकता का अभाव है, वरन् वे एक दूसरे के विल्कुल विरोधी हैं। किन्तु इसके साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि सुकरात जैसे राजर्षियों की राजनीति को परमावश्यकता है और दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ के वीच की खाड़ी को पाटना जनकल्याण के लिए एकदम अनिवार्य है। इसीलिए वह यह सिद्ध करना चाहता था कि एक आदर्श राज्य वही है जिसमें बुद्धि, विशुद्ध और निर्लिप्त बुद्धि शासन करती है। सारांश यह है कि यह सिद्ध करना कि सुकरात एक सच्चे और श्रेयस्कर मार्ग पर था अफ़लातून के जीवन का एक ध्येय वन गया। इसलिए उसने एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना की जिसमें सुकरात जैसा कोई दार्शनिक राजा राज करता है। अपनी इस महान् और अभूतपूर्व कल्पना का चित्र उसने अपने महान् ग्रंथ 'रिपब्लिक' में अंकित किया है।

अफलातून के विचार का व्यवहारिक स्वरूप— जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, अफलातून तीन बार सिसली गया और वहाँ के निरंकुश राजा का परिष्करण और परिमार्जन करके उसे एक न्यायी और धर्मात्मा राजा वनाने का उसने प्रयत्न किया और इस प्रकार उसने अपने सर्वोच्च राजनीतिक आदर्शों को सफल वनाने की, चाहे वह सफलता आंशिक ही क्यों न हो, चेष्टा की। इस वात से स्पष्ट सिद्ध है कि अफलातून कोई कोरा स्वप्नद्रष्टा न था; उसका उद्देश्य वास्तविक जीवन को प्रभावित करना था; ऐसा करने का वह प्रयत्न करता था और उसमें सफलता की आशा भी उसे थी। उसकी शिक्षाओं का अन्तिम उद्देश्य नैतिक था। बार्कर के शब्दों में "वह ऐसे ज्ञान का प्रसार करता था जिसकी अनुभूति कर्म में होनी चाहिये; वह एक ऐसे दर्शन का प्रचार करता था जो जीवन का एक मार्ग वन कर उसे प्रेरणा दे। उसका दर्शन ······ आत्मा का परिवर्तन है ········ और मानवता की सेवा है।" यह है यूनानी विचार का वह व्यवहारिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। अफलातून हमारे प्राचीन ऋषियों और मनीषियों के कितना निकट है जिनका कहना था कि सच्चा ज्ञान सदा कर्म में प्रकट होना चाहिये और दर्शन जीवन का एक ढंग और प्रेरणा है। निस्संदेह साइरेक्यूज़ (Syracuse) के निरंकुश राजा को दीक्षा देने के प्रयत्न में अफलातून विफल रहा। शायद उसने अनुभव कर लिया था कि रिपब्लिक में चित्रित राजप्रणाली एक ऐसी शब्द रचना थी जिसे इस पृथ्वी पर साकार नहीं किया जा सकता, भले ही स्वर्ग में उसकी अनुभूति हो सके। परन्तु इससे निराश होकर उसने आदर्श का परित्याग नहीं किया। हाँ, मानव स्वभाव की दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए उपादर्श (Sub-ideal) राज्य का चित्र अपने ग्रन्थ 'लॉज़' (Laws) में खींचा जिसे उसने सर्वोत्तम राज्य से दूसरी श्रेणी में रखा है।

अफलातून की पद्धति— अफलातून की अध्ययन पद्धति पर भी एक दृष्टिपात कर लेना अनावश्यक न होगा। उसने नैतिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए द्वन्द्ववादी पद्धति अपनाई है। उसने अपनी समस्त कृतियों को सम्वाद रूप में रचा है जिनमें सुकरात प्रमुख वक्ता है और उसके विचारों को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों को उसने तत्कालीन या पूर्व-कालीन व्यक्तियों के सम्भाषणों द्वारा व्यक्त किया है। उसने अपने सम्वादों के पात्रों का चुनाव सोच समझ कर किया है। पात्र विशेष द्वारा केवल उन्हीं विचारों की उद्घोषणा कराई है जो वास्तव में उसके थे। सम्वाद पद्धति और वर्तमान निरूपण पद्धति में अन्तर यह है कि पहिली पद्धति में हम मस्तिष्क को सचमुच कार्य करता हुआ देखते हैं और दूसरी में घड़े घड़ाये विचार हमारे सामने आ जाते हैं। सम्वाद पद्धति में व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर भावना अधिक सजीव और रोचक हो उठती है। उसमें किसी सत्य और तथ्य का कथन मात्र नहीं होता; उसमें दार्शनिक भावना अपने सक्रिय और साकार रूप में झलकती है। अपने सुविख्यात गुरु सुकरात का अनुसरण करते हुए अफलातून अपने पाठकों की विचारशीलता को जाग्रत करना चाहता था, उनमें ऊपर से ज्ञान भरना उसका ध्येय न था। एक संवाद सत्य का एक हटपूर्ण दावा नहीं है, बल्कि उससे दार्शनिक भावना का पता चलता है। असत्य का पर्दा फाश करके, नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपाद करके और उनमें दोष निकाल कर यह बुद्धिग्राह्य सत्य की खोज में सदैव उच्चतर उठता जाता है। यह सिद्ध करने के लिए कि सत्य का सबसे अधिक अच्छा अनुसंधान सहयोग से होता है संवाद की पद्धति सबसे अधिक अनुकूल है।

अफलातून की एक विशेषता यह भी है कि अपनी बात की पुष्टि के लिए वह दृष्टान्तों का प्रायः प्रयोग करता है। सुकरात के सदृश उसने ये दृष्टान्त कहीं तो कलाओं में से लिए हैं और कहीं प्रकृति में से। राज-काज के मामलों में ज्ञान और कौशल का महत्त्व वतलाते हुए वह डाक्टर और यान संचालक का उदाहरण देता है और पुरुषों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ स्त्रियों के भी संरक्षक के रूप में काम करने का समर्थन करते हुए वह रक्षक कुत्तों का दृष्टान्त पेश करता है। इस प्रकार से दृष्टान्तों का प्रयोग करना कठिन तो है ही, साथ ही साथ भ्रमोत्पादक भी है। शासन कला तथा औषधि कला और नाविक कला में मूलभूत अन्तर हैं जिनके कारण एक का दृष्टान्त लेकर दूसरे के लिए किसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना उचित नहीं। मनुष्य और पशु में तो और भी अधिक अन्तर है जिसके कारण पशु जगत में जो सत्य है उसका मानव संसार में सत्य होना आवश्यक नहीं है। किसी भी दशा में दृष्टान्त द्वारा तर्क, प्रमाण का स्थान नहीं ले सकता, चाहे दृष्टान्त कितना भी उचित और पक्का क्यों न हो।

अफलातून की पद्धति के बारे में अन्तिम बात यह है कि वह एक कल्पनावादी (Utopian) है, पश्चिमी संसार के कल्पनावादियों में उसका स्थान सर्वप्रथम और सर्वोच्च है। इतिहाससिद्ध वास्तविक राज्य के वर्णन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं; उसका अभीष्ट एक आदर्श की खोज है। आदर्श राज्य राज्य का एक पूर्ण और आदर्श चित्र है; तुलना और समालोचना द्वारा अफलातून उसकी खोज करना चाहता है। 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' (Statesman) तथा 'लॉज़' के पात्रगण जो वार्तालाप आपस में करते हैं उसका एकमात्र उद्देश्य है आदर्श राज की खोज। वह एक आदर्श और नगर राज्य की वास्तविक प्रकृति की खोज करना चाहता है, यथार्थ से उसका कोई सरोकार नहीं। वह एक ऐसे संसार का चित्र अंकित करता है जो मानव जीवन के सच्चे सिद्धान्तों पर आधारित है; किन्तु है यह सब कुछ कल्पना, इस वसुन्धरा पर उसका कोई अस्तित्व नहीं।

अफलातून के सम्वाद (Dialogues)— अफलातून ने लगभग तीन दर्जन सम्वाद लिखे हैं। अपॉलॉजी (Apology), क्रीटो (Crito), मीनो (Meno), प्रोटेगोरस (Protagoras) तथा गोर्जिया (Gorgias) को उसने जीवन के प्रारम्भिक काल में ३४ वर्ष का होने से पहिले ही लिख लिया था। रिपब्लिक (Republic), फेड्रस (Phaedras) और फेडो (Phaedo) की रचना उसने अपने जीवन में ४० वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक की थी। पोलीटिकस (Politicus) अथवा स्टेट्समैन (Statesman), फिलबस (Philebus), क्रीशस (Critias) तथा लॉज़ (जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए) की रचना उसने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ६० वर्ष का हो जाने के बाद की थी। उसके राजनीतिक विचारों को जानने के लिए हमें प्रधानतः रिपब्लिक, स्टेट्समैन और लॉज़ की ओर ही देखना चाहिये यद्यपि अपॉलॉजी और क्रीटो में भी राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की चर्चा हुई है। प्रस्तुत अध्याय में हम रिपब्लिक लेंगे और स्टेट्समैन तथा लॉज़ को अगले अध्याय में।

रिपब्लिक का स्वरूप तथा उद्देश्य— सभी लोग रिपब्लिक को अफलातून की महानतम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। उसमें वह अपने पूर्णतम और सुन्दरतम रूप में प्रकट हुआ है। हमें इसके दो शीर्षक मिलते हैं। पहिला है रिपब्लिक' जिससे जाहिर होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि मौलिक रूप से यह एक राजनीतिक ग्रन्थ है और इसका मुख्य विषय राज्य का स्वरूप तथा संघटन है। इसका दूसरा नाम है 'कन्सरनिंग जस्टिस' (Concerning Justice) जिससे यह व्यंजित होता है कि यह एक आचार शास्त्र का ग्रन्थ है जिसकी मुख्य समस्या न्याय अथवा नैतिक श्रेय के स्वरूप का विश्लेषण करना है। वास्तव में इसमें दोनों ही बातों का समावेश है। इतना ही नहीं यह उनसे भी कुछ अधिक है क्यों कि इसमें समाज शास्त्र, शिक्षा शास्त्र तथा अध्यात्म सम्बन्धी समस्याओं का भी निरूपण किया गया है। इतिहास का दर्शनशास्त्र तो हमें सबसे पहिले इसी ग्रन्थ में मिलता है। इसकी विषय सामग्री की इस विविधता के कारण इसे किसी श्रेणी विशेष में रखना बड़ा कठिन है। इसकी तो एक अपनी ही श्रेणी है।

इस विविधता के कई कारण हैं। पहिली बात तो यह कि उस युग में ज्ञान का अलग अलग शास्त्रों और शाखाओं में कोई जटिल विभाजन नहीं किया जाता था, सम्पूर्ण ज्ञान को एक और अविभाज्य समझा जाता था। एक प्रश्न के ऊपर विचार करते करते दूसरा प्रश्न अपने आप सामने आ खड़ा होता था। इसी प्रकार प्रश्न में से प्रश्न निकलते रहते थे। दूसरे यह कि नगर राज्य में जीवन की विभिन्न क्रियाएँ एक दूसरे से इस प्रकार गुंथी हुई थीं कि उन्हें अलग अलग करके देखना कठिन था; उनमें इस प्रकार का विभाजन न था जैसा कि आज हम अपने जीवन में पाते हैं। वहाँ राज्य, परिवार, चर्च तथा ट्रेड यूनियन में कोई प्रतिद्वन्द्विता या प्रतिस्पर्धा न थी। व्यक्ति का धर्म राज्य का धर्म था; उसके धार्मिक कर्तव्य नागरिक कर्तव्य थे। ऐसी स्थिति में इस बात में आश्चर्य ही क्या है कि अफलातून की राजनीति में न केवल वह विषय शामिल था जिसे हम आज राजनीति कहते हैं, वरन् उसमें हमारा आज का आचार शास्त्र, धर्म शास्त्र और समाज शास्त्र एक बड़ी हद तक समाविष्ट हैं। नगर राज्य का क्षेत्र तो अवश्य ही आज के राष्ट्र-राज्यों से कहीं छोटा था; किन्तु उसका कार्य व्यापार कहीं अधिक विस्तृत था और विविधतापूर्ण था। तीसरी बात यह कि सम्वाद पद्धति में, जो अफलातून ने अपनाई, निरूपण पद्धति की अपेक्षा व्यवस्था की और विविधता की अधिक स्वतन्त्रता रहती है।

अफलातून सबसे पहिले यह नैतिक प्रश्न उठाता है— एक अच्छे मनुष्य के क्या लक्षण और गुण हैं और उसे किस प्रकार अच्छा बनाया जा सकता है? क्योंकि राज्य के बिना कोई व्यक्ति अच्छा बन ही नहीं सकता इसलिए इस प्रश्न में से स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है— एक अच्छा राज्य कौन सा और कैसा होता है और उसे अच्छा किस प्रकार बनाया जाता है? इस प्रकार आचार दर्शन से आरंभ करके वह राजनीति दर्शन पर आ जाता है। किन्तु अफलातून ने अपने गुरु से यह सीख रक्खा था कि धर्म ज्ञान है और राज्य का धर्मपरायण होना इस बात पर निर्भर करता है कि शासकों को धर्म का पूर्ण ज्ञान हो। इसलिए तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है— वह निरपेक्ष ज्ञान कौनसा है जो शासकों को प्राप्त करना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है दर्शन शास्त्र। इसी प्रसंग में एक अन्य प्रश्न और भी उठता है— राज्य किस ढंग से अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकों को अन्तिम धर्म को प्राप्त करने में सहायता दे सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में शिक्षा सिद्धान्त निहित है। अब क्योंकि राज्य के अन्तिम लक्ष्य, उसकी शिक्षा पद्धति तथा उसके सामाजिक और आर्थिक ढांचे में तारतम्य और ताल मेल होना चाहिये, इसलिये अन्तिम प्रश्न अफलातून के सामने यह आया कि राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिये। इस प्रकार उसकी 'रिपब्लिक' एक ही साथ, आचार शास्त्र, राजनीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र, शिक्षा शास्त्र, तथा समाज शास्त्र का ग्रन्थ वन गई। अफलातून का कौशल और उस ग्रन्थ का सौंदर्य इस वात में है कि इसमें ये विविध विषय इस प्रकार एक दूसरे से गुंथे हुए हैं कि देखने वाले को उसमें एक ही सम्पूर्ण विषय दिखाई पड़ता है। यह चमत्कार इसलिये उत्पन्न हो सका क्योंकि अफलातून ने मानव जीवन का, उसके कर्म और विचार का, एक पूर्ण दर्शन देने का प्रयत्न किया।

हम किसी पहिले अध्याय में वता चुके हैं कि यूनानी राजनीतिक विचार का एक दृष्टिकोण व्यवहारिक है। 'रिपब्लिक' के वारे में तो यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि इसे अफलातून ने एक निश्चित व्यवहारिक उद्देश्य मन में लेकर रचा है। उसका उद्देश्य था सोफिस्ट्स द्वारा प्रतिपादित आत्म-तृप्ति के सिद्धान्त को झुटलाना और नष्ट करना जिसे भ्रष्टाचारी तथा जनतंत्री दोनों प्रकार के राज्यों ने अपना लिया था। उनके अनुसार राज्य एक साधन मात्र है जिसका साध्य है अपने शासकों की आत्म-तृष्णा को तृप्त करना। इसीलिये उनका विश्वास था कि सबल का हित ही न्याय है और एक शासक का स्वार्थसिद्धि के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करना स्वाभाविक और न्यायपूर्ण है। इस प्रकार के उच्छृङ्खल व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए अफलातून ने राज्य के जैविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि एक व्यक्ति के लिए न्याय अपने उस कर्त्तव्य का पालन करना है जिसके लिए उसके स्वभाव तथा उसके लालन पालन ने उसे समर्थ वनाया है और जिससे समस्त समाज का हित होता है। इस प्रकार राज्य और व्यक्ति के हित में कोई संघर्ष नहीं है। एक बुद्धिमान् और न्यायशील शासक वह है जो जनहित के लिये अपना सर्वस्व वलिदान कर सकता है और उसी में आनन्द अनुभव करता है। सारांश यह कि उसने उस युग की उस हिंसात्मक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास किया जो तत्कालीन राजनीति पर बुरी तरह छाई हुई थी। धनतन्त्रों में अमीर और जनतन्त्रों में गरीव अन्य वर्ग का शोषण करने की चेष्टा करते थे। वार्कर के शब्दों में "अफलातून के राजनीतिक दर्शन का लक्ष्य एक ऐसे शासनाधिकार की स्थापना करना था जिसमें न तो अमीर गरीव पर और न गरीव अमीर पर शासन कर सके वल्कि जो दोनों के ऊपर हो या कम से कम जिसमें दोनों का भाग हो।"*

* "It became the mission of political philosophy in the hands of Plato, to rehabilitate a strong and impartial authority, which should mean, not the rule of the rich over the poor, or of the poor over the rich, but of something either above or at any rate combining both."
—Barker : *ibid*, page 151.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक स्वार्थपरता के अतिरिक्त जो धनतन्त्र और जनतन्त्र दोनों ही के माथे पर एक कलंक था, एक अन्य दोष के विरुद्ध अफलातून ने अपने देशवासियों को चेतावनी दी। यह दोष केवल जनतन्त्र की ही विशेषता थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के योग्य समझा जाता था और लाटरी द्वारा नियुक्तियाँ की जाती थीं। यह प्रथा क्षमता और कुशलता की घातक थी और इसके कारण शासन यन्त्र मूर्खों के हाथ में जा पड़ा। जनतंत्र के ऊपर अज्ञान और अकुशलता का अपराध लगाना अफलातून पर सुकरात के इस सिद्धांत की छाप सिद्ध करता है कि शासन एक ऐसी कला है जिसके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है (सोफिस्ट्स द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट ज्ञान की नहीं)। उसका राजनीतिक उद्देश्य एक ऐसे शासन यन्त्र का निर्माण करना था जिसमें स्वार्थपरता के स्थान में सर्वोदय का भाव हो, परस्पर फूट की जगह एकता हो और अनुभवहीन शासकों की अकुशलता की जगह क्षमता और योग्यता का शासन हो। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 'रिपब्लिक' में जिन दो साधनों का अनुमोदन किया गया है वे हैं विशेषीकरण (Specialisation) और एकीकरण (Unification)। अफलातून के इस व्यवहारिक उद्देश्य को ध्यान में रक्खे बिना हम रिपब्लिक की युक्तियों को पूर्णरूपेण नहीं समझ पायेंगे। अपने आदर्श राज्य में विशेषीकरण लाने के लिए अफलातून उसकी जनसंख्या को तीन वर्गों में विभक्त करता है जिनमें प्रत्येक अपने निर्धारित कार्य में तत्पर है। जिन मनुष्यों के स्वभाव में लोहा है उन्हें वह आर्थिक वर्ग में रखता है जिनका कार्य धन उत्पादन है; जिन मनुष्यों की प्रकृति में चाँदी है उन्हें वह सैनिक वर्ग में रखता है जिनका कर्त्तव्य देश की रक्षा करना है। जिन लोगों का स्वभाव स्वर्णमय है उन्हें वह शासक वर्ग में स्थान देता है और उसे शासन भार सौंप देता है। यदि प्रत्येक वर्ग अपने निर्धारित कर्त्तव्य को सेवा भाव से करे तो स्वार्थ का विनाश और एकता की स्थापना अपने आप ही हो जाय। राज्य में एकता स्थापित करने के लिए वह एक और अनोखा उपाय सोचता है, वह है सम्पत्ति तथा पत्नियों का साम्यवाद। इसके साथ साथ वह एक विशेष प्रकार की शिक्षा, दीक्षा की व्यवस्था करता है।

पूर्व-ईसा ५वीं शताब्दी में ऐथन्स ही नहीं बल्कि प्रायः समस्त यूनानी नगर-राज्यों में जो दोष पाये जाते थे उनके उपरोक्त विवरण में हमने उस हिंसापूर्ण स्वार्थपरता पर ज़ोर दिया था जोकि जनतन्त्र और धनतन्त्र, दोनों के शासक वर्गों पर समान रूप से आच्छादित थी। क्रॉसमैन ने इसे वर्ग संघर्ष कहकर पुकारा है। प्रायः प्रत्येक नगर-राज्य में धनी और दरिद्र में संघर्ष था। एक राज्य के धनिक दरिद्र के विरुद्ध संघर्ष में दूसरे राज्यों के धनिकों की सहायता लेते थे और इसी प्रकार एक राज्य के लोकतन्त्रवादी धनिकों के विरुद्ध लड़ाई में दूसरे राज्यों के लोकतन्त्रवादियों की सहायता लेते थे। लोकतन्त्रवादी राजनीतिज्ञ ऐथन्स की ओर और धनिकतन्त्री स्पार्टा की ओर देखते थे। इस वर्ग संघर्ष का आवश्यक परिणाम था कुशासन; हर कहीं शासक वर्ग शासन यन्त्र का प्रयोग अपने वर्ग के हितों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धि के लिए करता था। यूनानी राज्यों का तीसरा गम्भीर दोष था कुशासन। ऐथन्स तथा अन्यत्र राज्य की ओर से शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था; माता-पिता को अपने पुत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध अपने साधनों तथा अपनी रुचियों के अनुसार स्वयं करना पड़ता था। अफलातून ने अपने महान् ग्रंथ 'रिपब्लिक' में इन तीनों रोगों का उपचार करने का प्रयास किया। उसे आशा थी कि राजनीतिक शक्ति को निस्स्वार्थ और जनहित की भावना से भरे हुए व्यक्तियों के हाथों में सौंपने से वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक स्वार्थपरता का रोग दूर हो जायगा। उसका यह विचार उसकी दार्शनिक-राजाओं द्वारा शासन की प्रसिद्ध धारणा में अभिव्यक्त हुआ। विशिष्ट आर्थिक स्वार्थों के प्रभाव का अन्त करने के लिये उसने शासक वर्ग के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की प्रस्थापना की और दार्शनिक-राजाओं द्वारा शासित राज्य के लिये अभीष्ट व्यक्तियों का निर्माण करने तथा उन्हें प्रदीक्षित करने के लिये उसने राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा का प्रस्ताव किया। उसके सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करने के पूर्व हम 'रिपब्लिक' और 'जस्टिस' इन दो शब्दों के बारे में कुछ कहना चाहते हैं; ये दो शब्द उसकी उस महान् कृति के शीर्षक में आते हैं जिसमें कि वह इन समस्याओं की समीक्षा करता है।

न्याय तथा रिपब्लिक का अर्थ— अपने इस लक्ष्य को अफ़लातून ने रिपब्लिक में किस प्रकार प्राप्त किया इसका विस्तृत विवरण देने से पूर्व 'रिपब्लिक' और 'न्याय' शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। ये दोनों शब्द रिपब्लिक के दो अलग अलग शीर्षक हैं। ग्रीक भाषा में रिपब्लिक का पर्यायवाची शब्द पोलीटीशिया (Politetia) अथवा पोलीटी (Polity) है। इसका अर्थ है संविधान जिसमें एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और गणतन्त्र जो एकतन्त्र के विरोध में रक्खा जाता है, शामिल हैं। इससे जाहिर है कि अफलातून की रिपब्लिक का अर्थ इस शब्द के आधुनिक अर्थ से कहीं विस्तृत है। उसने इसका प्रयोग सामान्य संविधान के लिए किया है जबकि हम इसका प्रयोग संविधान के एक विशेष रूप के लिए करते हैं। रिपब्लिक की आधारभूत समस्या है, राज्य क्या है? इसी प्रकार न्याय शब्द को भी उसने एक व्यापक अर्थ में लिया है। उसके न्याय का अर्थ केवल उस गुण से नहीं जिसे राज्य के कानूनों में न्याय कहा जाता है और जिसकी व्याख्या न्यायालय करते हैं। उसका न्याय सामान्य नैतिकता और श्रेय का पर्यायवाची है। परस्पर व्यवहार में जिस धर्म का पालन हम करते हैं या हमें करना चाहिये वही अफलातून के लिए न्याय है। न्याय की इस व्याख्या के अनुसार वह एक विद्यार्थी को जो गलत हथकंडे प्रयोग करके परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा नहीं करता और एक ऐसे व्यापारी को जो पूर्ण तौल तोलता है और चोरबाजारी या वस्तुओं में मिलावट नहीं करता न्यायशील कहेगा। आज की शब्दावली में हम उक्त परीक्षार्थी और व्यापारी के गुणों को न्याय की संज्ञा नहीं दे सकते। अफलातून का अध्ययन करते समय हमें रिपब्लिक और न्याय शब्द की इसी व्यापक व्याख्या को सामने रखना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय का परम्परावादी सिद्धान्त— रिपब्लिक न्याय अथवा मानव की अच्छाई की एक खोज है जैसा कि इसके उप-शीर्षक से प्रकट है। इसका प्रथम उद्देश्य एक आदर्श राज्य की रचना नहीं वरन् मानव अच्छाई और मानव व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों की खोज है। और अरस्तु के शब्दों में वह न्याय हमारा समस्त सामाजिक धर्म है। द्वन्द्ववादी पद्धति के अनुसार अफलातून सबसे पहिले प्रचलित धारणाओं की विवेचना करता है जिनमें प्रथम स्थान परम्परावादी धारणा का है। सभी जानते हैं कि बूढ़े आदमी अधिक परम्पराभक्त और रूढ़िवादी होते हैं इसलिए न्याय की परम्परासिद्ध धारणा का समर्थन अफलातून ने सिफालस (Cephaulus) के द्वारा कराया है जिसके घर में यह वार्तालाप चला है। सिफालस के अनुसार न्याय का अर्थ है 'सत्य बोलना और अपना ऋण चुका देना'। थोड़ी ही देर में वह तो अपने धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करने के लिए चला जाता है और उसका पुत्र पोलीमार्कस (Polemarchus) उसकी जगह ले लेता है। वह अपने पिता द्वारा दी हुई न्याय की परिभाषा में थोड़ा सा संशोधन करते हुए कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित अधिकार देना ही न्याय है। इस कथन का अर्थ लगाया जाता है मित्रों के साथ भलाई करना और शत्रुओं को कष्ट देना। सुकरात इस परिभाषा का खण्डन करता है क्योंकि न्याय का अर्थ परपीडन तो कभी नहीं हो सकता। उसकी सारी युक्ति पोलीमार्कस की धारणा की मूर्खता सिद्ध करने का एक प्रयास है। इस वार्तालाप द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि परम्परागत धारणायें एक सीमा तक और आंशिक रूप से तो उपयोगी हो सकती हैं; किंतु यदि हम उसकी गहराई में जायें तो कठिनाइयाँ और परस्पर विरोधी तत्व हमारे सामने आयेंगे।

सोफिस्ट्स का न्याय सिद्धान्त— इस समय थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) वादविवाद में पदार्पण करता है; वह एक क्रान्तिकारी सोफिस्ट है और न्याय के बारे में नवीन और आलोचनात्मक विचार रखता है। एक सच्ची सोफ़िस्टवादी भावना और ढंग से वह सुकरात पर केवल शाब्दिक आडम्बर और वाक्लीला का अपराध लगाता है और उससे सुनिश्चित और स्पष्ट तर्क देने का आग्रह करता है। न्याय सम्बन्धी उसकी धारणा को व्यक्त करने के लिये हम उसी के शब्दों को उद्धरित करना उचित समझते हैं क्योंकि उसका निरूपण उससे संक्षिप्त और सुन्दर शब्दों में नहीं किया जा सकता :—

"विभिन्न प्रकार की सरकार जनतंत्री, कुलीनतंत्री तथा आततायीतंत्री क़ानून बनाती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य उनकी अपनी अपनी स्वार्थसिद्धि होता है। उन्हीं क़ानूनों को, जिनका पालन वे अपनी प्रजा से करवाती हैं, वे न्याय की संज्ञा देती हैं और जो उनकी अवहेलना करता है उसे अन्यायी और क़ानून का शत्रु कह कर दण्ड दिया जाता है। मेरे ऐसा कहने का कि सारे राज्यों में न्याय का एक ही सिद्धान्त है और वह सरकार का हित, यही अर्थ है। और क्योंकि सरकार के हाथ में शक्ति है इसलिये यह कहना अनुचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होगा कि हर कहीं न्याय का एक ही सिद्धान्त है और वह है सबल का हित, शक्तिमान का स्वार्थ।"

न्याय की इस परिभाषा के स्वाभाविक परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं; हमें उन्हें भली भाँति समझ लेना चाहिये। पहिली बात यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य और शक्ति एक ही चीज़ है। सरकार द्वारा बनाये गये क़ानूनों के अनुसार कार्य करना ही न्याय है, चाहे वे क़ानून कैसे भी क्यों न हों। और क़ानूनों को सरकार सदा स्वहित के दृष्टिकोण से बनाती है और पशुबल से उन्हें लागू करती है; इसलिये न्याय वह है जो शक्तिमान अपने हित के लिये उचित समझता है। आगे चल कर हॉब्स (Hobbes) और स्पिनोज़ा (Spinoza) ने न्याय के सम्बन्ध में जो धारणा प्रकट की उससे उक्त धारणा बहुत कुछ मिलती जुलती है। एक हद तक कार्ल मार्क्स भी ऐसा ही मानता है। दूसरे यह कि साधारण मनुष्य के दृष्टिकोण से न्याय परहित में ही निहित है; क़ानून तोड़ कर स्वहित की साधना करना अन्याय है। परन्तु प्रकृति के नियम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी भलाई चाहता है। इसलिये थ्रेसीमेकस के अनुसार समस्त विचारशील मनुष्यों के लिए जीवन का सच्चा सिद्धान्त अन्याय है न्याय नहीं। यदि हम न्याय और अन्याय का परम्परा-सिद्ध अर्थ लें, तो प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का क़ानून केवल तभी मानना चाहिये जबकि वह ऐसा करने के लिये विवश हो, यदि हो सके तो अपने सुख के लिये उसे तोड़ना चाहिये। इस प्रकार उसकी दृष्टि में अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है और अन्यायी व्यक्ति न्याय-शील व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और सुखी है। यह है नैतिक शून्यवाद (Nihilism) का उग्रतम रूप। इससे न्याय और अन्याय शब्दों का अर्थ ही खाक में मिल जाता है; इसके नज़दीक प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज़ नहीं; अधिकार वह है जो राज्य की महत्तम शक्ति द्वारा प्रतिष्ठित किया जाये।

कुछ इसी से मिलते जुलते सिद्धान्त का प्रतिपादन कैलीक्लीज़ ने जोर्जिया में किया है। उसने न्याय को सबल का हित नहीं, वरन् निर्बल की आवश्यकता बताया है। परन्तु वह थ्रेसीमेकस की इस धारणा को पूर्ण रूप से मानता है कि न्याय प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम यह है कि मनुष्य को अपनी इच्छाओं का दमन करने के बजाय उन्हें अधिक से अधिक बढ़ाना और उनको तृप्त करना चाहिये और जब वे अत्यधिक बढ़ जायें तो उसमें उनको तृप्त करने के लिये समुचित बुद्धि और साहस होना चाहिये। किन्तु अधिकांश व्यक्ति निर्बल होते हैं, वे ऐसा नहीं कर पाते और उन्हें बलवानों के हाथों कष्ट उठाना पड़ता है। इस दुखद स्थिति से बचने के लिये वे संगठित हो जाते हैं और तृष्णापूर्ति को बुरा बताने लगते हैं। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे बलवान व्यक्तियों को क़ानून के शिकंजे में कस देते हैं ताकि वे उनसे आगे न बढ़ने पावें, ऊँचे न उठने पावें। प्रकृति के धर्म के अनुसार तो शक्तिसम्पन्न को शक्तिहीन पर शासन करना ही चाहिये और उसकी अपेक्षा अधिक सुखोपभोग करना चाहिये। निर्बलों द्वारा बनाये हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ानून इस प्राकृतिक न्याय को अन्याय का रूप दे देते हैं। इसलिए अपने पड़ौसी की अपेक्षा अधिक ग्रहण कर लेना पाप और हेय समझा जाता है। इस प्रकार न्याय का यह खोटा सिक्का बाज़ार में चलता है; इसका आधार परम्परा है और यह प्रकृति के विरुद्ध है।

थ्रेसीमेकस और कैलीक्लीज़ दोनों ही स्वीकार करते हैं कि राजनैतिक समाज के लिए न्याय अथवा राज्य द्वारा बनाये गये क़ानूनों का पालन करना आवश्यक है क्योंकि वह राज्य के विभिन्न सदस्यों को एक माला में गूंथने वाला सूत्र है। यही तो वह गुण है जो मनुष्य को सामाजिक बनाता है। अफलातून की भी यही धारणा है, किन्तु उसके बिल्कुल भिन्न कारण हैं। सोफिस्ट्स और अफलातून में एक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक मौलिक अन्तर और भी है। सोफिस्ट्स यह तो मानते थे कि न्याय एक राजनैतिक समाज के लिये नितान्त आवश्यक है; किन्तु मानवता का सौन्दर्य वे उसमें न देखते थे; उनके अनुसार न्याय-पालन मनुष्य को श्रेष्ठ नहीं निकृष्ट बनाता है। "एक दृष्टान्त से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। एक ऐसे जंगली और शानदार घोड़े की कल्पना कीजिये जिसका शरीर तगड़ा है और हृदय बलवान है। यदि आप उससे दूसरे घोड़ों की टीम में रखकर काम लेना चाहते हैं तो आपको उसको पालकर उसके हृदय को कुंठित करना होगा। परन्तु उसके पालतू बन जाने से वह एक श्रेष्ठतर घोड़ा नहीं बन जायगा; वह निश्चित रूप से हीनतर होगा चाहे उसकी उपयोगिता क्यों न बढ़ गई हो। मनुष्य के ऊपर लगाये गये नैतिक बन्धन भी उसके प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव के लिए उतने ही घातक हैं जितना कि घोड़े को लगाम लगाया जाना उसके साहस के लिये। अन्य मनुष्यों के साथ रहकर जीवन व्यतीत करने के लिये क़ानून, नीति, न्याय, सब कुछ आवश्यक हैं; किन्तु यह दावा हमें भूलकर भी नहीं करना चाहिये कि उनसे मानव का सौन्दर्य और धर्म कुछ बढ़ता है।"* इसके विपरीत अफलातून की धारणा थी कि न्याय न केवल मनुष्य के सामाजिक जीवन का संघटन सूत्र है बल्कि वह मानवता का सौंदर्य है। 'यह वह गुण है जो एक ही साथ मनुष्य को श्रेष्ठ तथा सामाजिक बनाता है।'

अफलातून थ्रेसीमेकस के विचारों को जड़ से उखाड़ना चाहता था। ऐसा करने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक था कि व्यक्ति समाज से अलग एक इकाई नहीं है; वह सम्पूर्ण समाज का एक अभिन्न अंग है जिसमें रहकर उसे अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन करना है। सारी रिपब्लिक में यही धारणा ओत प्रोत है। परन्तु शुरू शुरू में अफलातून तर्क द्वारा थ्रेसीमेकस को निरुत्तर करने की चेष्टा करता है; वह उसकी दो धारणाओं को अलग अलग लेकर उनकी अमान्यता सिद्ध करता है। वह कहता है कि शासन प्रबन्ध एक कला है और शल्य तथा नाविक कला की तरह इसका भी उद्देश्य अपनी विषय सामग्री की भलाई है। एक डाक्टर का धर्म अपने मरीज़ का इलाज करना और उसके रोग का निवारण करना है न कि धन इकट्ठा करना; एक गडरिये का कार्य अपने

* Foster: *Masters of Political Thought*, Vol. I, page 45.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पशुओं की सेवा करना है, उनका मांस भक्षण करना नहीं। इसी प्रकार एक शासक का धर्म शासित की भलाई करना है, न कि स्वार्थसिद्धि करना। इसके अतिरिक्त अफलातून ने यह सिद्ध करने का भी प्रयास किया है कि एक न्यायशील व्यक्ति एक अन्यायी की अपेक्षा सदा सुखी रहता है क्योंकि वह मर्यादा तथा अपने कर्तव्य का पालन करता है।

इस तर्क के सामने शायद थ्रेसीमेकस तो निरुत्तर हो गया, वह बहस से अलग हो गया। किन्तु मण्डली के अन्य घटक उससे सन्तुष्ट न हो सके। ग्लॉकन (Glaucon) और ऐडीमेंटस दोनों ही असंतोष प्रकट करते हैं। रिपब्लिक के आधुनिक पाठकों को भी यह मान्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह कुछ धारणाओं के अमूर्त अर्थ में से किया गया तर्क है, जबकि थ्रेसीमेकस ने सदैव जीवन के ठोस तथ्यों का उल्लेख किया था। नेटलशिप के शब्दों में, 'थ्रेसीमेकस द्वारा जीवन के तथ्यों को यदि हम मान लें तो प्रश्न यह उठता है कि क्या वे कुछ अमूर्त धारणाओं को सन्तुष्ट करते हैं, उदाहरण के लिए, यदि सरकार स्वार्थी है तो क्या उसे सरकार कहलाने का कोई अधिकार है।' वे फिर से तर्क करते हैं और अपनी आशंकाओं और जिज्ञासाओं का कोई नया उत्तर चाहते हैं। वे सोफिस्ट्स नहीं हैं; न्याय में उनका हार्दिक विश्वास है; वे इसे मानव जीवन का आवश्यक कर्म मानते हैं किन्तु सोफिस्ट्स और उनके अनुयाइयों की युक्तियों के सामने वे निरुत्तर हो जाते हैं। नवीन धारा से वे खिन्न अवश्य हैं किन्तु रोग का कोई निदान उनके पास नहीं। इसलिए वे सुकरात की ओर देखते हैं और चाहते हैं कि वह न्याय तथा अन्याय शब्दों की मीमांसा करे और यह सिद्ध करे कि इन गुणों के वास्तविक परिणाम को छोड़ते हुए भी न्याय अन्याय से श्रेष्ठतर है अर्थात् वह एक सापेक्षिक नहीं बल्कि निरपेक्ष सत्य है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए ग्लॉकन थ्रेसीमेकस की भाँति यह तर्क करता है कि न्याय एक कृत्रिम चीज़ है, उस का मूल परम्परा है, वह शाश्वत नहीं है, मनुष्य और समाज का वह स्वाभाविक गुण नहीं है, तथापि वह इस बात को नहीं मानता कि सबल का हित ही न्याय है।

ग्लॉकन के विचार— ग्लॉकन के विचारों का आधार उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य एक स्वार्थ-प्रधान प्राणी है और किसी भी प्रकार आत्म-तृप्ति करना उसका धर्म है। इसलिए एक व्यक्ति अन्याय कर सकता है, यदि उसमें कोई संगतिहीनता न हो। परन्तु प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में निर्बल जिनका कि बहुमत होता है अधिक कष्ट उठाते हैं; अन्याय से उन्हें इतना लाभ नहीं होता जितनी कि हानि हो जाती है। इसी प्रकार यह अवस्था उनके लिए असह्य हो उठती है। इसीलिये वे आपस में यह समझौता करते हैं कि वे न तो अन्याय स्वयं करेंगे और न किसी को करने देंगे। उसका परिणाम होता है क़ानूनों का बनना जो मानव व्यवहार तथा न्याय का मानदण्ड निर्धारित करते हैं। यह है मानव कृत क़ानून तथा राज्य की उत्पत्ति का सुविख्यात सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract Theory)। ग्लॉकन के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय का स्रोत भय है। सर्वोत्तम और आदर्श स्थिति तो यह है कि मनुष्य अन्याय करे किन्तु दण्ड से बच निकले और निकृष्टतम तथा सब से अधिक असह्य स्थिति है अन्याय सहना किन्तु बदला लेने की शक्ति का अभाव होना। न्याय मानों इन दोनों के बीच में एक समझौता है, एक माध्यम है। इसलिये न्याय कोई शाश्वत शुभ नहीं है; इसका तो केवल वे लोग सम्मान करते रहे हैं जो अन्याय करने की शक्ति ही नहीं रखते। जैसा कि हम कह चुके हैं थ्रेसीमेकस के अनुसार न्याय सबल का हित है; उसका आधार शासन भावना है। ग्लॉकन के अनुसार यह निर्बल का सहारा है; उसका आधार भय की भावना है। परन्तु एक बात में वे दोनों सहमत हैं और वह यह कि न्याय कृत्रिम है; परम्परागत है और समयानुसार आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिये उसे बनाया गया है; यह कोई नित्य और शाश्वत नैतिक सिद्धान्त नहीं है। ग्लॉकन के विचारों की समीक्षा सुकरात ने (चाहे अफलातून कह लीजिये) उस औपचारिक और तर्कसंगत ढंग से नहीं की जिस तरह से उसने थ्रेसीमेकस की थी। उसने उसकी बाल की खाल नहीं निकाली। इसका कारण यह है कि ग्लॉकन उससे इस समस्या की समीक्षा कराना चाहता था कि न्याय और अन्याय का वास्तविक स्वरूप क्या है और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। उसे अपनी शक्ति भर यह भी सिद्ध करना था कि न्याय तत्त्वतः अन्याय से कहीं अधिक श्रेष्ठ है और उसके शुभ फल को छोड़ते हुए भी हमें उसका पालन करना चाहिये। (उसका मीठा फल तो न्याय का केवल ढोंग रचने वाला व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है।) सारांश यह कि सुकरात को यह सिद्ध करना था कि न्याय एक निरपेक्ष सत्य है; वह स्वयं अपने में ही श्रेयस्कर है; वह स्वयं अपना पुरस्कार है।

सुकरात इस चुनौती को स्वीकार करता है; किन्तु वह यह सुझाव पेश करता है कि न्याय की समीक्षा व्यक्तिगत धरातल की अपेक्षा राज्य के स्तर पर करनी अधिक सरल और लाभदायक होगी। उसकी धारणा है कि राज्य में पाया जाने वाला न्याय व्यक्ति की बुद्धि के न्याय का केवल बृहत्तर रूप है। इन दोनों में भेद आकार का है, स्वरूप का नहीं। किन्तु राज्यगत न्याय का आकार व्यक्तिगत न्याय से कहीं बड़ा होने के कारण हम उसे अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इस धारणा का आधार यह मान्यता है कि राज्य की चेतना उसके व्यक्तियों की चेतना है; उसका न्याय उसके सदस्यों का न्याय है और उसका साहस और ज्ञान उनका साहस और ज्ञान है। राज्य व्यक्ति का ही बृहत्तर रूप है (State is individual writ large)। मानव बुद्धि के आन्तरिक सिद्धान्त ही राज्य में अभिव्यक्त होते हैं; वे उसमें अधिक स्पष्ट और साकार हो उठते हैं। इसीलिये उनका अध्ययन करना अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु किसी यथार्थ राज्य को लेकर यह उद्देश्य सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि सभी राज्य अपूर्ण हैं; उनके कार्यकलाप में न्याय के वास्तविक स्वरूप की झाँकी हमें नहीं मिल सकती। इसलिए न्याय की उत्पत्ति और उसका वास्तविक स्वरूप दिखलाने के लिये सुकरात ने एक आदर्श राज्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की और उसके क्रमिक विकास का पर्यवेक्षण किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुकरात का उद्देश्य किसी वास्तविक राज्य का वर्णन करना और उसकी ऐतिहासिक समीक्षा करना नहीं, वरन् राज्य के आदर्श स्वरूप का विश्लेषण कर उसके नित्य और शाश्वत सिद्धान्तों की खोज करना है। उसके सामने जो समस्या पहिले नैतिक थी वही अब राजनैतिक हो उठी।

आदर्श राज्य की रचना— सुकरात की राज्य रचना का मूल तत्व यह है कि मानव जाति की आवश्यकतायें राज्य को जन्म देती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की बहुत सी आवश्यकतायें हैं जिनमें खाना, कपड़े और मकान की आवश्यकतायें प्रमुख हैं; किन्तु कोई भी मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अकेला और बिना दूसरों की सहायता और सहयोग के नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी स्वयं अपने में पूर्ण नहीं है। इसी के साथ साथ जहाँ एक ओर एक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है वहाँ दूसरों की इच्छा पूर्ति की शक्ति भी उसमें है। यह परस्पर अन्योन्याश्रितता और आदान प्रदान की आवश्यकता ही समाज का आधार है; इसी के ऊपर सारा सामाजिक जीवन टिका है और इसकी प्रक्रिया स्वयं श्रम विभाग के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने लिये आवश्यक भोजन, कपड़ा तथा मकान तैयार करना अत्यन्त दुष्कर तो है ही साथ ही साथ वह एकदम अवांछनीय भी है। इससे कहीं अधिक सुगम, सरल, उपयोगी तथा श्रेयस्कर यह है कि कुछ लोग समस्त समाज के लिए भोजन उत्पन्न करें, कुछ कपड़ा तैयार करें, कुछ मकान बनायें और कुछ लोग अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करें। सुकरात द्वारा समाज की उत्पत्ति के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि अफ़लातून के अनुसार राज्य का मौलिक आधार आर्थिक निर्भरता है, सामान्य जन्मभूमि, धर्म या रक्त नहीं। आगे चलकर ये बातें भी राज्य की एकता को दृढ़ बनाने में सहायक होती हैं किन्तु उसके मूल में आर्थिक निर्भरता और परस्पर आदान प्रदान का सिद्धान्त ही है।

अफ़लातून ने केवल भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया है किन्तु तुरन्त ही उसने यह भी अनुभव कर लिया कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये केवल किसान, जुलाहे और मकान बनाने वाले से ही काम नहीं चल सकता। खेती तथा अन्य कामों के लिये आवश्यक यन्त्रों को बनाने और उसकी मरम्मत करने के लिये लुहार, बढ़ई और अन्य शिल्पकारों की भी आवश्यकता पड़ती है। और जिस समाज में विभिन्न वर्ग विभिन्न कार्यों में लगे हुए हों और सब की कुछ सामान्य आवश्यकताएँ हों तो वहाँ व्यापारियों, वणिकों तथा अन्य श्रमिकों का उत्पन्न हो जाना तो स्वाभाविक ही है। प्रारम्भ में ये सब आवश्यकतायें सरल होती हैं और इनका चरित्र प्रधानतः आर्थिक होता है। किन्तु सभी लोग तो स्थूल जीवन से सन्तुष्ट होने वाले नहीं होते; बहुत से लोग जीवन की ललित, सुरम्य और विलासपूर्ण वस्तुओं के लिये लालायित रहते हैं। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकतायें अधिकाधिक और जटिलतर होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में राज्य आत्म-निर्भर नहीं रह पाता ; वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने पड़ोसी राज्यों के भू-भाग की ओर ताकने लगता है, जिसका परिणाम होता है युद्ध। इस प्रकार विलासिता युद्ध का मूल है। युद्ध की सम्भावना तथा उससे रक्षण की आवश्यकता के फलस्वरूप राज्य में सैनिक वर्ग का आविर्भाव होता है। अफ़लातून, जो एक सरल राज्य में भी श्रम विभाग और विशेषीकरण के सिद्धांत को मानता है, इस विलासपूर्ण राज्य में तो उसे और भी अधिक कठोरता के साथ लागू करना चाहता है। यदि यह बात सही है कि खेती करने, मकान बनाने, जूता बनाने इत्यादि २ कार्य समाज के अलग अलग वर्गों के हाथ में होने चाहियें तो यह बात और भी अधिक सही और उचित है कि राज्य की रक्षा का कार्य एक ऐसे विशेष वर्ग के हाथ में होना चाहिये जिसने उस कार्य के लिए विशेष शिक्षा, दीक्षा प्राप्त की है। इसके साथ ही साथ एक शासक वर्ग की आवश्यकता भी प्रत्यक्ष ही है जिसका कार्य विभिन्न वर्गों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना तथा उनको एक दूसरे से सम्बद्ध करना है। यह शासन कार्य उन्हीं लोगों के हाथ में होना चाहिये जिनमें इस कार्य के लिए आवश्यक प्रकृतिदत्त गुण हैं और जिन्होंने इसके लिये विशेष शिक्षा प्राप्त की है। अफ़लातून ने शासक वर्ग की शिक्षा दीक्षा के ऊपर विशेष ध्यान दिया है और 'रिपब्लिक' का दूसरा तथा तीसरा अनुच्छेद उसके विवरण से भरे हुए हैं। अफ़लातून का ऐसा करना स्वाभाविक ही था क्योंकि शासक वर्ग की कर्तव्यपरायणता और क्षमता पर तो राज्य का जीवन सुख निर्भर करता है ; इसी के ऊपर तो राज्य की सारी सफलता का दारोमदार है।

जिस आदर्श राज्य का चित्र हमने ऊपर अंकित किया है उसका बड़ा गहरा सम्बन्ध मानव आत्मा की प्रकृति के विषय में उस धारणा से है जो अफ़लातून ने पाइथेगोरस के अनुयाइयों (Pythagoreans) से अपनाई थी। उसकी धारणा थी कि मानव आत्मा में तीन तत्त्व या अंश वर्तमान हैं— सर्वप्रथम है इन्द्रिय तृष्णा (Appetite), जिसमें से भूख, प्यास, मोह तथा अन्य कामनायें उत्पन्न होती हैं। राज्य के प्रारम्भिक तथा सरलतम रूप में जहाँ कि लोगों का संघटन सूत्र केवल आर्थिक होता है, केवल यह तत्त्व वर्तमान रहता है, अन्य तत्त्व प्रकट नहीं होते। जाहिर है कि यह राज्य अधूरा है क्योंकि समस्त मानव बुद्धि की अभिव्यंजना इसमें नहीं होती। जब राज्य अधिक विकसित होता है और उसका वैभव बढ़ जाता है तो सैनिक वर्ग का आविर्भाव होता है और शौर्य (Spirit) नामक गुण का उद्‌भव होता है। यह आर्थिक समाज जिसका आधार केवल इन्द्रिय तृष्णा थी एक सैनिक संघटन में बदल जाता है जिसका आधार शौर्य है। किन्तु राज्य अब भी अपूर्ण ही है क्योंकि मानव आत्मा के बुद्धि तत्त्व को वहन करने वाला कोई वर्ग उसमें नहीं है। इस तत्त्व का उद्भव शासक वर्ग के आविर्भाव के साथ होता है। जो चरित्र इस वर्ग का होता है वही समस्त राज्य का होता है। बार्कर के शब्दों में 'हो सकता है कि अपनी इन्द्रिय-परक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्यों ने आर्थिक बन्धन में बँध कर एक समूह बनाया हो और शौर्य ने उसे एक नवीन सैनिक बन्धन प्रदान किया हो परन्तु बुद्धि ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों को एक दूसरे को समझना और समझा कर एक दूसरे से प्रेम करना सिखा कर उन्हें एकता के सूत्र में गूँथती है।'* कहने का तात्पर्य यह है कि केवल उसी राज्य को पूर्ण कहा जा सकता है जिसमें मानव आत्मा के समस्त गुण वर्तमान हों। अन्ततोगत्वा, राज्य न तो केवल एक आर्थिक संगठन है जिसका कार्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है; और न ही यह केवल सैनिक संघटन है जो देश रक्षा के लिए बनाया गया है; यह एक बुद्धिपरक संगठन है जो मनुष्यों के एक दूसरे को जानने और प्रेम करने के लिए बनाया गया है। मनुष्यों का यह परस्पर ज्ञान और प्रेम ही राज्य की एकता का आधार है। राज्य की एकता का स्रोत न इन्द्रिय तृष्णा है और न शौर्य, वह एकमात्र बुद्धि है। ध्यान रहे कि अफलातून के अनुसार बुद्धि हमें न केवल एक दूसरे को समझने का सामर्थ्य देती है बल्कि प्रेम करने के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार से प्रेम भी बुद्धि का ही एक पहलू है। बार्कर के इन चुने हुए शब्दों में 'शौर्य से सम्बन्ध होकर बुद्धि एक सिपाही को अपने द्वारा रक्षित नागरिकों को जानने, चाहने और उनकी रक्षा करने को प्रेरित करती है; किन्तु विशुद्ध बुद्धि शासक को तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देती है और उसी तत्त्व ज्ञान से राज्य के प्रति प्रेम और सेवा का भाव उत्पन्न होता है।'†

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफलातूनी राज्य में तीन विभिन्न वर्ग हैं जिनमें न केवल जन्म और धन की विशिष्टतायें हैं बल्कि जिनके आन्तरिक गुण और कार्य भी विभिन्न हैं। ये वर्ग इस प्रकार हैं— (१) उत्पादक वर्ग, (२) सैनिक वर्ग, (३) शासक वर्ग। इन तीन वर्गों के अतिरिक्त दास भी ऐसे राज्य में होंगे, किन्तु अफलातून ने उनका कहीं उल्लेख नहीं किया है। यह वर्ग विभाजन भारतीय वर्ण व्यवस्था के कितना निकट है। अफलातून का उत्पादक, सैनिक तथा शासक क्रमशः भारत का वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण हो सकता है। किन्तु भारत के शूद्र वर्ण को हम अफलातूनी राज्य के दासों के समकक्ष नहीं रख सकते क्योंकि इन दोनों के चरित्र और सामाजिक प्रतिष्ठा में गहरा अन्तर है। अफलातूनी राज्य के वर्गों के विभिन्न मानसिक गुण भी भारतीय गुण विभाजन के अनुरूप ही हैं। जिन प्रवृत्तियों को अफलातून ने सोना, चाँदी, लोहा कह कर पुकारा है वे क्रमशः भारतीय परिभाषा में सात्विक, राजसिक तथा

* 'Appetite may have drawn men together by an economic nexus; spirit may have added a new military bond; it is reason that holds men together by teaching them to understand, and through their understanding, to love one another.' --Barker : *op. ct.*, page 169.

† 'Reason in its alliance with spirit has caused the soldier to know and to like, and therefore to protect, the citizens whom he guards; but reason in its purity causes the ruler to comprehend and out of his comprehension to love and serve, the state which he governs.'

—Barker : *ibid*, page 169.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तामसिक गुण हैं। जिस प्रकार हमारे प्राचीन ऋषियों ने ब्राह्मणों को भौतिक सुख सामग्री तथा वैभव से अलग रह कर केवल ज्ञान प्राप्त करने और जनता की सेवा करने का आदेश दिया था, इसी प्रकार अफलातून के आदर्श शासकों का कार्य भी केवल विशुद्ध शुभ की खोज और जन-सेवा है। दोनों में कोई अन्तर ही न हो, ऐसी बात नहीं; किन्तु यहाँ पर तो हमारा तात्पर्य दोनों में जो समान है उसे दिखाना है। हमारी धारणा है कि उपरोक्त वर्ग विभाजन मानव स्वभाव के बिल्कुल अनुरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी व्यक्ति में सत्त्व, किसी में रजस तथा किसी में तमस की प्रधानता होती है। इस गुण भेद का स्वाभाविक परिणाम वर्ग भेद है। जो लोग वर्गहीन समाज की कल्पना करते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि आया ऐसा समाज मानव प्रकृति के अनुरूप होगा। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्ग का आधार जन्म या धन कदापि नहीं होना चाहिये। वर्ग भेद का स्वाभाविक तथा न्यायसंगत आधार प्रकृतिदत्त गुण है न कि मानवकृत विषमतायें।

आदर्श राज्य में न्याय— अब हम उस मौलिक प्रश्न पर आते हैं जिसका उत्तर देने के लिए ही अफलातून ने 'रिपब्लिक' की रचना की। प्रश्न है: न्याय क्या है? आदर्श राज्य में यह कहाँ पाया जाता है?

प्राचीन यूनानियों के अनुसार एक अच्छे समाज में चार गुण होने चाहियें: ज्ञान, साहस, संयम तथा न्याय। एक आदर्श राज्य में ये समस्त गुण वर्तमान होने चाहियें, क्योंकि इन्हें आधारभूत धर्म माना गया है। जिस राज्य में शासक वर्ग शासन-प्रबन्ध में ज्ञान तथा विवेक का परिचय देता है वह बुद्धिमान है; जिस राज्य का सैनिक वर्ग शान्ति तथा युद्ध में साहस से काम लेता है वह वीर है और जिस राज्य में उत्पादक वर्ग तथा सैनिक वर्ग शासक वर्ग के नियन्त्रण को सहर्ष स्वीकार करते हैं और शासक वर्ग विवेक-पूर्ण शासन प्रबन्ध करता है उसी में आत्म-संयम का गुण पाया जाता है। सारांश यह कि उसी राज्य में आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण पाया जाता है जिसके विभिन्न वर्गों में एक ही सामान्य लक्ष्य में भक्ति रखने के कारण तालमेल है। और यह सिद्धांत कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रकृतिस्थ गुणों के अनुसार ही कार्य करना चाहिये अर्थात् स्वधर्म का पालन करना चाहिये, न्याय है। आदर्श राज्य की रचना के प्रारम्भ में ही न्याय का उदय होता है। यदि प्रत्येक वर्ग अपने स्वधर्म का पालन करता है और दूसरों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करता और शासक वर्ग अन्य वर्गों में संतुलन रखता है, उन्हें नियन्त्रित रखता है, एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से उन्हें रोकता है तथा 'परम शुभ' के ज्ञान के प्रकाश में शासन प्रबन्ध करता है तो समझ लीजिये कि उस राज्य में पूर्ण न्याय वर्तमान है। सैबाइन के शब्दों में 'न्याय समाज का एकता सूत्र है; यह उन व्यक्तियों के परस्पर तालमेल का नाम है जिनमें से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति एवं शिक्षा दीक्षा के अनुसार अपने कर्त्तव्य को चुन लिया है और उसका पालन करता है। यह व्यक्तिगत धर्म भी है और सामाजिक धर्म भी क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके घटकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को परम कल्याण की प्राप्ति होती है।'* प्रोफेसर बार्कर ने इसी विचार को अधिक विस्तार के साथ इस प्रकार व्यक्त किया है: 'समाज में विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं (उत्पादक, सैनिक तथा शासक) जो एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित हुए हैं और एक समाज में संगठित होकर तथा स्वधर्म का पालन करके उन्होंने समाज को एक ऐसी इकाई बनाया है जो पूर्ण है, क्योंकि यह सम्पूर्ण मानव मानस की उपज एवं उसी का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक जीवन के इसी मूलभूत सिद्धान्त का नाम न्याय है। ऐसे समाज का एक सिद्धान्त होने के नाते न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति का उस कर्तव्य का पालन करना जो उसके प्रकृतिस्थ गुणों एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की स्वधर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।'†

सारांश यह है कि जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन करता है वह न्यायशील है और जिस राज्य या समाज में विभिन्न वर्ग हों और वे अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए एकता के सूत्र में बंधे हुए हों तो समझ लीजिये कि उसने न्याय की पूर्ण अनुभूति कर ली है। एक न्याय पूर्ण समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है; गीता के शब्दों में वह स्वधर्म का निर्वाह करता है और दूसरों के स्वधर्म में हस्तक्षेप नहीं करता। इसका अभिप्राय यह है कि न्याय एक ही साथ एक विशेषीकरण का सिद्धान्त है, एक हस्तक्षेपहीनता का सिद्धान्त है और एक समन्वय का सिद्धान्त है। जहाँ तक कि यह इस बात की माँग करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्धारित कर्त्तव्य पर एकाग्रनिष्ट रहना चाहिये यह विशेषीकरण है; जहाँ तक कि यह इस बात की माँग करता है कि समाज के किसी भी अंग को दूसरों के कार्यों को नहीं हथियाना चाहिये यह हस्तक्षेपहीनता है। एक ऐसा समाज जिस में प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के निष्काम कर्त्तव्य तक ही सीमित रखता है अवश्य ही आन्तरिक रूप से संतुलित और सामंजस्यमय होगा। इस धारणा में यह निहित है कि व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं है। इसीलिये प्रवृत्ति और कर्त्तव्य में भी कोई संघर्ष नहीं है। यदि इन दोनों में कोई विरोध दिखलाई पड़ता है तो उसका कारण दूषित शिक्षा और सामाजिक असंतुलन है; सुशिक्षा और सामाजिक संतुलन से उसे दूर किया जा सकता है; न कि शक्ति और दमन द्वारा। एक समाज विरोधी व्यक्ति को आवश्यकता इस बात की है कि उसे अपनी प्रकृति

* 'Justice is the bond which holds society together, a harmonious union of individuals each of whom has found his life work in accordance with his natural fitness and his training. It is both a public and a private virtue because the highest good both of the state and its members is hereby conserved.' —Sabine: *op. cited*, page 54.

† Barker: *op. ct.*, page 176–77.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पूर्ण ज्ञान कराया जाये और उस ज्ञान के अनुसार उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास किया जाये। जो लोग वर्ग संघर्ष और सर्वहारा तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) के द्वारा एक नवीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं उन्हें अफ़लातून की धारणाओं तथा परिणामों पर विचार करना चाहिये। हो सकता है ऐसा करने से उन्हें तथा समाज को कुछ लाभ हो।

जिस न्याय का ऊपर वर्णन किया गया है वह सामाजिक न्याय है, अथवा वह न्याय है जोर ाज्य में पाया जाता है। किन्तु सुकरात के सामने समस्या व्यक्तिगत न्याय की थी। अफलातून की धारणा है कि न्याय एक ही होता है, चाहे उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक स्तर पर हो, चाहे व्यक्ति में। व्यक्ति में न्याय उस प्रवृत्ति का द्योतक है 'जिसके कारण मनुष्य अपनी तृष्णा अथवा स्वार्थ से ऊपर उठता है। इसका अर्थ यह है कि एक न्यायशील मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार अनुशासित करना चाहिये कि तृष्णा और ओज बुद्धि के अधीन रहें और उसकी आज्ञा का पालन करें। तृष्णा और ओज को पूर्ण रूप से नष्ट नहीं करना है; उन्हें मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट तत्त्व; अर्थात् बुद्धि द्वारा नियंत्रित करना है। इस प्रकार से कर्म करते हुए एक मनुष्य केवल एक मनुष्य के रूप में कार्य करेगा, बहुत के रूप में नहीं। उसके जीवन में सामंजस्य और आन्तरिक सन्तुलन होगा; और वह मानव सामर्थ्य के अनुसार सर्वोच्च शुभ को प्राप्त करेगा; वह आत्म-संगत और शुभ बन जायेगा। एक न्यायशील मनुष्य अपने आप को उसी कार्य विशेष में लगायेगा जिस के लिए वह स्वभाव से सर्वाधिक योग्य है, और आन्तरिक सामंजस्य प्राप्त करेगा।

न्याय के सामाजिक और व्यक्तिगत, इन दो पहलुओं को मिला कर हम कह सकते हैं कि अफलातून के अनुसार न्याय वह सूत्र है जो कि मनुष्यों को राज्यों में संघटित करता है और उन्हें अच्छा बनाता है। यह एक और वही गुण है जोकि मनुष्यों को सामाजिक बनाता है और उन्हें अच्छा बनाता है।

इस बात से कि न्याय वह सूत्र है जो एक राज्य के घटकों को संघटित रखता है सोफ़िस्ट्स भी सहमत थे, यद्यपि ऐसा करने के उनके कारण दूसरे थे। किन्तु अफलातून न्याय को एक मानवी धर्म भी समझता था जिसका पालन करने से मनुष्य मनुष्य बन जाता है और शुभ की प्राप्ति करता है। सोफ़िस्ट्स ऐसा नहीं मानते थे। आइये देखें कि न्याय किस प्रकार मनुष्य को शुभ बना देता है।

एक व्यक्ति एक अच्छा विद्वान, एक अच्छा वक्ता, एक अच्छा संगीतज्ञ, एक अच्छा शिल्पकार, एक अच्छा प्रशासक, एक अच्छा खिलाड़ी इत्यादि हो सकता है। एक विशेष प्रकार का गुण व्यक्ति को एक विशेष कार्य में सिद्धहस्त बना देता है। किन्तु एक या कई विशिष्ट कामों या कलाओं में कौशल प्राप्त करने से ही कोई व्यक्ति एक अच्छा मनुष्य नहीं कहा जा सकता। यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा वक्ता या एक अच्छा अध्यापक एक अच्छा मनुष्य भी हो। जो गुण मनुष्य को अच्छा अथवा शुभ बनाता है वह है उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'न्याय' भावना। किन्तु 'न्याय' का कार्यक्षेत्र कोई विशिष्ट नहीं है; वह जीवन के किसी विभाग विशेष से ही सम्बद्ध नहीं है; वह तो सम्पूर्ण जीवन का निर्माता है। जिस प्रकार एक Architect का कार्य अपने अधीनस्थ कार्य करने वालों की देखभाल करना और यह देखना है कि सब लोग इस प्रकार कार्य करें जिससे आदर्श और सुन्दर भवन का निर्माण हो, इसी प्रकार न्याय का कार्य भी समस्त मानवी गुणों को प्रभावित और प्रेरित करके एक अच्छे मनुष्य का निर्माण करना है।

अफलातून की न्याय विषयक धारणा में एक बुनियादी बात यह है कि जो गुण मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाता है वही उसे एक अच्छा मनुष्य बनाता है। न्याय एक ओर तो मानवी कर्म है और दूसरी ओर उसे राज्य की माला में गूंथने वाला एक धागा।

अन्त में, इस सम्बन्ध में याद रखने की बात यह कि अफलातून ने 'न्याय' शब्द को उस क़ानूनी अर्थ में प्रयोग नहीं किया है जैसा कि हम करते हैं। व्यक्ति के अधिकार और न्यायालय द्वारा उन्हें प्रतिष्ठित करने से अफलातून के 'न्याय' का कोई सम्बन्ध नहीं है। शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अफलातून के लिए तो न्याय एक सामाजिक धर्म है; यह वह सिद्धान्त है जो समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित और निर्धारित करता है। यह उन साधनों का प्रतिपादन करता है जिनके अपनाने से समाज एक सुखी, सुन्दर और शुभ जीवन की प्राप्ति कर सकता है। सोफिस्ट्स को जो कि सिद्धान्त तथा व्यवहार में व्यक्तिवाद का प्रचार करते थे, अफलातून का यह अन्तिम उत्तर है। वह सिद्ध यह करना चाहता है कि व्यक्ति समाज से अलग रह कर कोई महत्त्व नहीं रखता; वह समाजरूपी सम्पूर्ण का एक अभिन्न अंग है; उससे हटकर वह अपना जीवन सुखी और सुन्दर नहीं बना सकता। उसका समस्त जीवन ही समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य अर्थात् स्वधर्म का पालन करना है।

अफलातून के न्याय सिद्धान्त की आलोचना— अफलातून की न्याय की धारणा के विरुद्ध एक आपत्ति आम तौर से यह उठाई जाती है कि इसके अनुसार व्यक्ति पूर्ण रूप से राज्य के अधीन हो गया है। तीसरे और सबसे बड़े वर्ग, अर्थात् उत्पादक वर्ग के लोगों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं दिये दिये; वे अपने स्वभाव के केवल वासनामय पक्ष के आश्रय रहते हैं; उनके स्वरूप के ओज तथा बुद्धि तत्त्व पूर्ण रूप से अतृप्त रहते हैं। वे उच्च वर्गों के लिए केवल टहलुए और सेवक हैं। इसी प्रकार उच्च दो वर्गों के घटकों को पारिवारिक जीवन का भोग करने का निषेध कर दिया गया है; वे किसी ऐन्द्रिक सुख का भोग नहीं कर सकते। जैसा कि वेपर ने इतने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है, 'निम्नतम वर्ग बिना किसी आपत्ति के शासकों की आज्ञा का पालन करते हैं ताकि निकृष्ट मनुष्यों की इच्छाएँ थोड़े से सुसंस्कृत व्यक्ति की इच्छाओं और बुद्धि द्वारा नियंत्रित हो जायें, और वह सुसंस्कृत व्यक्तियों से अपने समस्त व्यक्तिगत हितों का राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए परित्याग कराता है।' अफलातून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन केवल उस कार्य के कारण सार्थक और महत्त्वपूर्ण है जो कि वह राज्य की सेवा के लिए करता है। अफलातून इस आपत्ति को पहिले से ही जानता है और उसने *'रिपब्लिक'* में उसका उत्तर देने की चेष्टा की है। वह एडीमेएटस से यह कहलवाता है कि यह सारा प्रश्न ही कि क्या न्याय लाभप्रद है या अन्याय अलाभप्रद है, हास्यास्पद है। आदर्श राज्य की रचना का उद्देश्य शासक वर्ग का सुख नहीं है, बल्कि समाज का कल्याण है। अफलातून लिखता है: 'हमारा विरोधी उत्सवमग्न कृषकों के बारे में सोच रहा है जो कि जीवन की बहार ले रहे हैं, उसे उन नागरिकों का ध्यान नहीं है जो कि राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं।' दूसरी बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि सारी *'रिपब्लिक'* में अफलातून का सम्बन्ध आत्माओं से है और उसका उद्देश्य एक ऐसे राज्य का चित्र अंकित करना है जिसमें कि व्यक्ति सच्चे अर्थों में अपने जीवन साध्य की सिद्धि कर सकता है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार कि ईश्वर का एक सच्चा भक्त ईश्वर के साथ एकाकार होकर अपना अस्तित्व नहीं खो देता बल्कि अपने सर्वोत्कृष्ट रूप की प्राप्ति करता है, इसी प्रकार अफलातून का नागरिक भी राज्य की सेवा में लग कर अपने आपको खो नहीं देता बल्कि पा लेता है। आदर्श राज्य में व्यक्ति का निषेध नहीं है, बल्कि उसकी सिद्धि हो जाती है। यदि 'प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार लो और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दो', इस सिद्धान्त का अर्थ व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान करना है तो अफलातून पर अवश्य ही यह आरोप लगाया जा सकता है; परन्तु इस सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या करना ग़लत है। हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि अफलातून के लिए एक अच्छा राज्य स्वयं में एक साधन नहीं है; इसका अस्तित्व व्यक्ति की पूर्णता के लिए है। सारांश यह कि व्यक्ति की आत्मा के इतना प्रसरण हो जाने का कि उसमें सम्पूर्ण समाज सम्मिलित हो जाए, अर्थ उसका निषेध अथवा बलिदान नहीं है, वरन् उसका अधिक भव्य होना और उसकी सिद्धि है। अफलातून के अनुसार राज्य की महानता का निर्णय उसके नागरिकों के चरित्र की उत्कृष्टता से होना चाहिये, उनके धन, विलास, सुख इत्यादि से नहीं। इसलिये यह आपत्ति अनुचित है।

अफलातून के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना अधिक संगत होगा कि व्यक्ति की सिद्धि की स्थितियाँ वह केवल दार्शनिक राजाओं को ही प्रदान करता है जो कि बुद्धि द्वारा आचरण करते हैं; उत्पादक वर्ग के घटकों को बुद्धि के अनुसार आचरण करने की समस्त सुविधाओं का निषेध कर दिया गया है। वे राज्य में हैं, किन्तु उसके नहीं हैं। यही बात सैनिक वर्ग पर भी लागू होती है, यद्यपि अपेक्षाकृत कुछ कम। एक वास्तविक रूप से अच्छे राज्य में आत्म-विकास का अवसर प्रत्येक नागरिक को मिलना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिपब्लिक में शिक्षा सिद्धान्त

परिचयात्मक— यह हम बता चुके हैं कि अफ़लातून के अनुसार मनुष्यों का समाज में तालमेल के साथ रहना और प्रत्येक व्यक्ति का स्वधर्म का पालन करना ही न्याय है। इसी प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा तालमेल किस प्रकार स्थापित किया जाये। एक व्यक्ति को किस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अनुप्रेरित किया जाये? अफ़लातून इस ध्येय की पूर्ति के लिये दो महान् संस्थाओं, एक सामान्य शिक्षा तथा साम्यवाद के ऊपर आधारित नवीन सामाजिक व्यवस्था, का सुझाव रखता है जिनमें से पहिली दूसरी से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन करके शिक्षा हमारे जीवन की भूलों को सुधारती है; वह दोष की जड़ पर ही प्रहार करती है। बार्कर के सुन्दर शब्दों में शिक्षा 'मानसिक रोग को मानसिक औषधि द्वारा ठीक करने का प्रयास है।'* साम्यवाद की व्यवस्था अफ़लातून बतौर अहतियात करता है। साम्यवाद उन परिस्थितियों को दूर करने के लिये है जो स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद को जन्म देती हैं। शासकों के सामने से जीवन सम्बन्धी मुख्य प्रलोभनों को दूर करना ही साम्यवाद का उद्देश्य है। शिक्षा और साम्यवाद का हम यहाँ पर बारी बारी से वर्णन करेंगे।

शिक्षा का स्वरूप तथा उद्देश्य— उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अफ़लातून शिक्षा को 'एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया समझता है जिसके द्वारा समाज के घटक एक सामाजिक चेतना से भर कर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना सीखते हैं।'† शिक्षा वह अभिकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना उचित स्थान पाता है, अपने को उसके अनुसार ढालता है और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य का निःस्वार्थभाव से पालन करता है। शिक्षा के सामाजिक पहलू पर बल देना सोफ़िस्ट्स की इस धारणा के एकदम विपरीत है कि शिक्षा व्यक्तिगत सफलता का साधन है, न कि सामाजिक धर्मशीलता का। आज भी हम शिक्षा को अपनी व्यक्तिगत सफलता की कुँजी ही समझते हैं, समाज सेवा और धर्मशीलता का साधन नहीं। शिक्षा विषयक अफ़लातून की समाज-प्रधान धारणा को आज के सर्वभक्षी (Totalitarian) राज्यों ने अधिक अपनाया है जहाँ कि शिक्षा को व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य स्थापित करने का साधन समझा जाता है।

किन्तु अफलातून ने शिक्षा के व्यक्तिगत पहलू को भी नहीं भुलाया है। उसके लिए शिक्षा न केवल समाज सेवा का साधन है बल्कि वह व्यक्ति के लिए सत्य अनुसन्धान का भी यन्त्र है। इसका उद्देश्य मनुष्य के ज्ञान चक्षु को आलोकित करना है ताकि वह इन्द्रिय जगत से परे वास्तविक सत्य को देख सके। इस प्रकार सामाजिक धर्म के एक

* '...... attempt to cure a mental malady by mental medicine.'

† '...... a social process by which the units of a society become instinct with social consciousness and learn to fulfil all social demands.'

—Barker : *ibid*, page 182.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधन तथा सत्य प्राप्ति के एक अवयव के रूप में शिक्षा के दो स्वरूप अफलातून के सम्पूर्ण सिद्धान्त में बड़ी सुन्दरता के साथ मिले हुए हैं।

अफलातून की शिक्षा पद्धति— अफलातून की धारणा है कि मानव आत्मा एक अनुकरणशील पदार्थ है क्योंकि वह अपने आप को अपने परिवेश के अनुसार स्वाभाविक रूप से ढाल लेती है; वह अपने विकास की विभिन्न स्थितियों में विभिन्न रूप से कार्य करती है। मानव आत्मा का यह धारणा ही अफ़लातून की शिक्षा पद्धति का आधार है। उसके लिए शिक्षा का अर्थ यह है कि आत्मा का जैसा स्वरूप हम बनाना चाहें वैसे ही परिवेश हमें उसके लिए तय्यार करना चाहिये। एक शिक्षाशास्त्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य एक समुचित वातावरण को निर्धारित करना है।

आत्मा को एक अनुकरणशील चीज़ कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वह निष्क्रिय है। नहीं, अफलातून उसे मूलतः क्रियाशील समझता है। शिक्षक का कार्य इसमें विचारों या ज्ञान को ठूँसना नहीं वल्कि उसी में अन्तर्निहित सर्वश्रेष्ठ तत्व को जाग्रत करना है, विकसित करना है। आत्मा पर अपने परिवेश का प्रभाव निरन्तर और प्रत्येक स्थिति में पड़ता रहता है इसलिये शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिये, हाँ उसके साधन, अधिकरण और माध्यम अवस्थानुसार बदलते रहते हैं। बाल्यावस्था में आत्मा पर कल्पना का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है, इसीलिये प्रारंभिक शिक्षा कल्पना को परिमार्जित बनाना है, भावनाओं को परिष्कृत करना है। किशोरावस्था को प्राप्त होने पर तर्क का उदय होता है और आत्मा तर्क द्वारा ग्राह्य बन जाती है, इसलिये इस अवस्था में शिक्षा विज्ञान तथा दर्शन द्वारा तर्कशक्ति को प्रखर करके दी जानी चाहिये। प्रारंभिक शिक्षा का स्वभाव तथा स्वरूप प्रधानतः सामाजिक है; उसका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को जानना तथा समुचित रूप से उनका पालन करने की दीक्षा देना है। आगे चल कर शिक्षा का यह सामाजिक चरित्र कुछ धूमिल पड़ जाता है; वह सत्य साधना तथा ब्रह्म दर्शन का एक साधन बन जाती है। प्रारंभिक शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण अफलातून उस पर बहुत अधिक ध्यान देता है। 'रिपब्लिक' के एक बड़े भाग में प्रारंभिक तथा उच्च शिक्षा की तफसीलें भरी पड़ी हैं और उसमें नवीन प्रणालियाँ तथा सुधार सुझाए गये हैं। रूसो का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'रिपब्लिक' शिक्षा शास्त्र का एक महानतम ग्रंथ है।

अफलातून की शिक्षा पद्धति की एक अन्य विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। वह इस बात का आग्रह करता है कि शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये और उसके ऊपर राज्य का अधिकार होना चाहिये। शिक्षा से जो कार्य वह लेना चाहता है उसे देखते हुए उस का यह आग्रह करना स्वाभाविक है। शिक्षा के द्वारा ही तो शासक व्यक्तियों के चरित्र का निर्माण कर सकता है और उन्हें निःस्वार्थ भाव से समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिये प्रेरित कर सकता है। तो फिर ऐसी महत्त्वपूर्ण चीज को राज्य भला कैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत हाथों में छोड़े। उसे तो स्वयं ही उसका निर्देशन तथा नियन्त्रण करना चाहिये और इसी कारण से उसे समस्त नागरिकों के लिये अनिवार्य भी बनाना चाहिये। राज्याश्रित अनिवार्य शिक्षा अफ़लातून का एक नवीन आविष्कार थी, ऐथन्स में ऐसी कोई चीज़ कभी नहीं पाई गई। इसलिये सैबाइन के शब्दों में हम इसे 'उस जनतन्त्री प्रथा की एक समालोचना कह सकते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने बच्चों के लिये ऐसी शिक्षा खरीदने की स्वतन्त्रता देती है जो या तो उसे अच्छी लगती हो या जो बाजार में उपलब्ध हो।'* उसकी प्रणाली स्पार्टा का आदर्शीकरण था जहाँ कि राज्य इस बात का प्रबन्ध करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी शिक्षा मिले जिससे वह अपने कर्तव्यों का पालन कर सके।

ऐथन्स की तत्कालीन पद्धति में अफ़लातून ने एक दूसरी नवीन उद्भावना यह की कि उसने स्त्री पुरुषों के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उसकी कल्पना के आदर्श राज्य में स्त्री पुरुषों के राज्य सम्बन्धी कामों में कोई भेद नहीं है; स्त्री पुरुष समान रूप से प्रत्येक पद के अधिकारी हैं। याद रहे कि उस जमाने के ऐथन्स में सार्वजनिक जीवन से स्त्रियों को बिल्कुल अलग रक्खा जाता था।

इस प्रसंग में अंतिम बात यह है कि अफ़लातून ने अपनी शिक्षा योजना में उत्पादक वर्ग का कोई उल्लेख नहीं किया है; उसने इस बात की कोई विवेचना नहीं की कि उसे किस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिये। शासकों तथा सैनिकों के दो उच्च वर्गों में उसका मन इतना रमा हुआ था कि तीसरे वर्ग की ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। यह कमी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; इससे शिक्षा के उद्देश्य के विषय में अफ़लातून की धारणा और हमारी अपनी धारणा का अन्तर इतना स्पष्ट हो जाता है जितना कि अन्य किसी बात से नहीं। अपनी शिक्षा योजना अफ़लातून ने अभीष्ट प्रकार का शासक वर्ग उत्पन्न करने के लिये बनाई थी; इसलिए उसने धन के उत्पादकों के तीसरे बड़े वर्ग की अवहेलना की। हमारा, अर्थात् बीसवीं शताब्दी के लोकतंत्रवादियों का उद्देश्य शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करना है ताकि समस्त व्यक्तियों की संस्कृति और ज्ञान की निहित सम्भावनाओं का विकास हो सके। इसी लिये हम इसे उदार कहते हैं।

शिक्षा का पाठ्य-क्रम (Curriculum)— जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं अफ़लातून नागरिकों की शिक्षा को दो भागों में विभक्त करता है; प्रारम्भिक तथा उच्च। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार आयु भेद है; किन्तु इसमें वर्ग भेद भी सम्मिलित है। प्रारम्भिक शिक्षा एक ओर तो किशोरावस्था के लिये है और दूसरी ओर सैनिक वर्ग के लिए। इसी प्रकार उच्च शिक्षा एक ओर तो प्रौढ़ावस्था के लिये है और दूसरी ओर शासक वर्ग के लिए। पहिली प्रकार की शिक्षा का ध्येय भावनाओं का परिमार्जन करके

* '...... a running criticism upon the democratic custom of leaving every man to purchase for his children such education as he fancies or as the market affords.' Sabine: *op. ct.*, page 60.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरित्र का निर्माण करना है और दूसरी का उद्देश्य है विज्ञान तथा ज्ञान द्वारा बुद्धि का परिष्कार करना।

(१) **प्रारम्भिक शिक्षा**— प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना अफ़लातून ने हमारे सामने रक्खी है वह सर्वथा नवीन नहीं है, बल्कि उसने ऐथन्स तथा स्पार्टा की पद्धतियों में से कुछ बातों को लेकर एक नवीन संमिश्रण तैयार किया है। उसका तत्त्व तो ऐथन्स से ही लिया गया था; किन्तु स्पार्टा की भावना का अनुसरण करते हुये उसने उसे एक सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन बनाया। परन्तु स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली का ध्येय जबकि एक शक्तिशाली सैनिक वर्ग को उत्पन्न करना था जो युद्ध में विजय प्राप्त कर सके, अफ़लातून का ध्येय उससे कहीं अधिक विस्तृत और सामान्य था। वह था व्यक्ति को राज्य में उसकी स्थिति के योग्य बनाना और उसमें बौद्धिक तथा नैतिक गुणों का विकास करना।

ऐथन्स की परम्परा के अनुसार ही अफ़लातून ने भी सोचा कि सर्वश्रेष्ठ शिक्षा आत्मा के लिये संगीत और शरीर के लिये व्यायाम है। परन्तु संगीत और व्यायाम शब्दों का अफ़लातून ने उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ लगाया है जो इन शब्दों का ऐथन्सवासी लगाते थे या हम आज लगाते हैं। संगीत केवल गायन, वादन तक ही सीमित न था; उसमें साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों का अध्ययन, काव्य, राग अलापना, इत्यादि भी सम्मिलित थे। यहाँ तक कि अन्य ललित कलायें भी उसके अन्तर्गत थीं। इसी प्रकार व्यायाम शब्द में भी शारीरिक व्यायाम के अतिरिक्त भोजन शास्त्र तथा औषधि शास्त्र भी सम्मिलित थे। इन दोनों प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण करना है; यह एक नैतिक उद्देश्य है। व्यायाम द्वारा एक ऐसे शरीर का निर्माण करना है जिसमें एक स्वस्थ और विशुद्ध मन का विकास हो सके; जिसमें साहस तथा धैर्य के गुण पनप सकें। इसका मूल ध्येय एक सैनिक जीवन की तैयारी करना है। सैनिक के शौर्य गुण को संतुलित रखने के लिये ही काव्य तथा अन्य साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था की गई है। 'इसका उद्देश्य तरुण आत्मा को उन समस्याओं के बारे में जिन्हें कि इसे हल करना है, सही अनुभूति करने की प्रेरणा तथा सामर्थ्य देना है और उस अनुभूति को इतना तीव्र तथा प्रबल बनाना है कि वह अपने वांछनीय कर्तव्यों का पालन बिना किसी शंका के करता रहे।'* संगीत तभी सार्थक हो सकता है जबकि शिक्षक अपरिपक्व मस्तिष्क के सामने ऐसी कोई चीज़ ही न आने दे जो आगे चल कर उसके लिये वाँछनीय या हितकर न हो। इसी लिये संगीत और काव्य में अफ़लातून एक ज़बर्दस्त सुधार करना चाहता है और

* 'It is meant to habituate the young soul, which is still in the stage of feeling, to feel as it should feel about such problems as it has to solve, and in the strength of feeling ingrained by habit to do as it ought to do without knowing the why and wherefore of its action.'

—Barker: *Ibid*, page 192.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके ऊपर राज्य का कड़ा नियन्त्रण लगाता है। वह सुधार संगीत के अंतरंग और बहिरंग अथवा भाव तथा कला दोनों पक्षों में होना चाहिये। तरुण बुद्धि के सामने देवताओं के सम्बन्ध में मिथ्या धारणायें नहीं आनी चाहियें और कविता की शैली वर्णनात्मक तथा रूप महाकाव्य होना चाहिये। सारांश यह कि साहित्य तथा संगीत अपने विशुद्ध नैतिक उद्देश्य की पूर्ति तभी कर सकते हैं जब कि उनका रूप सरल हो और राज्य का उन पर पूर्ण नियन्त्रण हो।

अफलातून द्वारा कवि और कलाकार को राज्य के शिकंजे में जकड़ने के इस प्रयत्न की बहुत से लोग कटु आलोचना तथा घोर निन्दा करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार के नियन्त्रण में तो कला का स्वतंत्र विकास हो ही नहीं सकता। कला-कामिनी के सौंदर्य के प्रस्फुटन के लिए स्वाधीनता पहिली शर्त है। 'नैतिक उपदेश के पाश में जकड़ी हुई कला मानव हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में मानव हृदय को नहीं गुदगुदा सकती वह उसके आचार विचार को भी प्रभावित नहीं कर सकती।'*

उच्च शिक्षा— जिस प्रारंभिक शिक्षा की रूपरेखा हमने ऊपर दी है उसके उपरान्त दो वर्ष का एक पाठ्यक्रम सैनिक शिक्षा का होगा। इसके समाप्त होने पर उन व्यक्तियों को छाँटा जायेगा जिनमें विज्ञान के लिए एक विशेष और स्पष्ट अभिरुचि होगी। पहिले प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य तरुणावस्था में नागरिक गुणों का आरोपण तथा विकास करना था; उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्था की शिक्षा है, इसका लक्ष्य कुछ चुनीदा व्यक्तियों को राज्य का योग्य अभिभावक (Guardians) या शासक बनाना है। यह २० वर्ष की आयु में आरंभ होकर ३० वर्ष तक की आयु तक अर्थात् १० वर्षों तक चलेगी। जिस प्रकार कि एक सैनिक का विशेष गुण साहस अथवा शौर्य है एक शासक का आवश्यक गुण ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता है। इसलिए उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम विद्यार्थियों में ज्ञान का संचार करके उन्हें बुद्धिमान बनाना है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये गणित तथा तत्कालीन ज्योतिष शास्त्रों को आवश्यक और उपयुक्त समझा गया है। दस वर्ष तक इन विषयों का अध्ययन करने के उपरान्त द्वन्द्ववाद (Dialectic) का अध्ययन आरंभ होता है जो पाँच वर्ष तक चलता है। द्वन्द्ववाद ही वह साधन है जिसके द्वारा विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तत्त्व सम्बन्धी समस्त विचारों में सर्वोच्च विचार शुभ (Good) की समीक्षा है जो समस्त प्राण का कारण और ज्ञान का लक्ष्य है। अफलातूनवाद में शुभ सम्बन्धी विचार का वही स्थान है जो वेदान्त में ब्रह्म का है। जिस

* 'Art cabined and confined by the state to a moral purpose, will lose its appeal to the emotions, and failing to touch the hearer or the reader as art it will fail to touch him as ethics.' —Barker: *Ibid*, page 195.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्ववेत्ता ने परम शुभ को जान लिया है वह सच्चा ज्ञानी है और केवल वही शासन करने का अधिकारी है। सारांश यह कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य दार्शनिक-राजा तथा अभिभावकों को उत्पन्न करना है जिनका राज्य में सर्वोच्च स्थान होगा। सैबाइन का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'रिपब्लिक की यह सबसे अधिक मौलिक तथा विशिष्ट योजना है।' उच्च शिक्षा की जो रूपरेखा हमने यहाँ दी है उसके बहुत बड़े भाग पर अकाडमी में अमल होता था जो ३८६ ई० पू० में 'रिपब्लिक' की रचना समाप्त होने के पहिले खोली जा चुकी थी। हमें यह याद रखना चाहिये कि अकाडमी की स्थापना प्रशासक और राजनीतिज्ञ उत्पन्न करने के लिए की गई थी, केवल विद्वान नहीं। हमारे आज के विश्व-विद्यालय शासक उत्पन्न करने के लिये नहीं बनाये गये हैं।

आदर्श राज्य में शासन के सिद्धान्त— प्रारंभिक तथा उच्च शिक्षा की उपरोक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही होगा कि दोनों प्रकार की शिक्षा का अन्तिम और प्रधान लक्ष्य ऐसे दो वर्गों की सृष्टि करना है जिनमें एक में शौर्य और साहस तथा दूसरे में ज्ञान तथा बुद्धि का प्रावल्य हो जिनके कारण वे राज्य की निष्काम सेवा कर सकें। इन वर्गों के घटक उत्पादक वर्ग के घटकों से कहीं श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें धर्माचरण की शक्ति अधिक है। इन दोनों वर्गों में भी शासक वर्ग सैनिक वर्ग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है; अधिक पुण्यशील होने के कारण ही वह राजनैतिक शक्ति वहन करने का पात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अफलातून के सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों में मुख्य भेद यह है कि अफलातून के अनुसार 'शासन कार्य के लिये आवश्यक योग्यता का आधार आचार (Virtue) की श्रेष्ठता है।' इसे हम शासन का सर्वप्रथम सिद्धान्त कह सकते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त में से ही अफलातून के विचार की एक अन्य विशेषता उत्पन्न होती है। सभी मनुष्य बराबर धर्मात्मा नहीं होते; इसलिये समता के आधार पर सभी मनुष्यों को शासन प्रबन्ध में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं है। धर्मशील व्यक्तियों को धर्म-विहीन प्राणियों पर शासन करना चाहिये। इसके विपरीत कोई भी व्यवस्था अन्यायपूर्ण तथा घातक है। न्याय की मांग यह है कि धर्मात्मा और ज्ञानी का धर्महीन और अज्ञानी पर प्रभुत्व होना चाहिये। जिस प्रकार एक आदर्श व्यक्ति वह है जो बुद्धि और साहस पूर्वक अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, इसी प्रकार आदर्श राज्य वह है जिसमें ज्ञानी और शूरवीर दूसरों के ऊपर शासन करते हैं। ज़ाहिर है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या कोई बहुत बड़ी नहीं हो सकती इसलिये अफ़लातून की आदर्श राज्य स्वाभाविक रूप से कुलीनतंत्री होगा। आज की जनतन्त्री धारा से अफलातून की यह धारणा कितनी दूर है। आज का लोकतंत्रवादी अफलातून की इस धारणा को स्वीकार नहीं करता कि शासन को एकाकी रूप से एक छोटे से वर्ग को सौंप दिया जाये जो कि आचार की श्रेष्ठता में दूसरों से विशिष्ट हो; वह अफलातून की इस बात को मानने के लिए तय्यार नहीं कि शासन एक पूर्ण-काल का कार्य है और उसके लिए विशिष्ट प्रकार की योग्यता की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो कि एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग में ही पाई जाती है। इसलिये वह दार्शनिक-राजाओं के सारे सिद्धान्त को ठुकराता है।

अफलातून के आदर्श राज्य में शासन का दूसरा मुख्य सिद्धान्त यह है कि उसमें शासक वर्ग के हित राज्य के हितों के बिल्कुल अनुरूप हो जाते हैं, या यों कहिये कि राज्य के कल्याण से अलग शासकों का कोई निजी हित है ही नहीं। समष्टि के कल्याण में ही वे परमानन्द का अनुभव करते हैं। शासकों की शिक्षा दीक्षा और उनकी चुनाव पद्धति का स्वाभाविक परिणाम ही इस प्रकार की निष्काम प्रवृत्ति का उदय होना है। यह कहा जा सकता है कि वे गीता की भाषा में कर्मयोगी, मुमुक्षु बन जाते हैं। शिव भाव का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य न केवल बुद्धिमान हो जाता है बल्कि वह उसे प्राप्त करने के लिये इच्छुक हो उठता है क्योंकि ज्ञान की सदा कर्म में निष्पत्ति होती है। किन्तु हो सकता है कि इन्द्रियजनित प्रलोभन मनुष्य को ज्ञान मार्ग से विचलित कर दे। इसी शंका को दूर करने के लिये अफलातून ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की योजना की है: वह है सुविख्यात पत्नियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद। इसकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

दार्शनिक राजाओं का शासन— यह धारणा कि आदर्श राज्य में शासन-कार्य परम बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिये उपरोक्त सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है। विशेषज्ञों द्वारा शासन की इस धारणा का प्रतिपादन अफलातून इस विख्यात और प्रायः उद्धृत अवतरण में करता है:

"जब तक कि दार्शनिक राज्य नहीं होते, अथवा इस संसार के राजाओं और शासकों में दर्शन शास्त्र की भावना और शक्ति नहीं हो जाती, और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमत्ता एक में नहीं मिल जातीं, और वे साधारण मनुष्य जो कि इनमें से केवल किसी एक गुण को (दूसरे की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, अलग हट जाने के लिए विवश नहीं कर दिये जाते, तब तक नगर-राज्य बुराइयों से मुक्त नहीं हो सकते— और न ही, जैसा कि मेरा विश्वास है, सम्पूर्ण मानव जाति को शान्ति प्राप्त हो सकती है— और केवल तब ही हमारे इस राज्य को जीवन की सम्भावना प्राप्त होगी और यह दिन का प्रकाश देखेगा।"

दार्शनिक-राजाओं द्वारा शासन की यह धारणा अफलातून की समस्त धारणाओं में सबसे अधिक मौलिक और गहरी है, इसकी हमें कुछ विस्तृत समीक्षा करनी चाहिये। यह हमारे लोकतंत्री विश्वास और व्यवहार के एकदम विपरीत है और स्वतंत्र नागरिकता के आदर्श वाले नगर-राज्य के राजनीतिक विश्वास का भी यह निषेध है, इसलिये यह हमारे विस्तृत अध्ययन का और भी अधिक पात्र है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, यह विचार कि शासन-कार्य आवश्यक रूप से ही कुछ विशिष्ट विशेषज्ञों के हाथ में रहना चाहिये उपरोक्त सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है, अर्थात् यह कि शासन-कार्य के लिए आवश्यक और पर्याप्त योग्यता आचार की श्रेष्ठता है, और इस कार्य के लिये विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की योग्यता की आवश्यकता है जो कि केवल थोड़े से ही व्यक्तियों में पाई जाती है। इन सिद्धान्तों की सत्यता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु अफलातून कुछ ऐसी बातें भी कहता है जो कि आधुनिक जनतंत्रवादी को मान्य नहीं हैं और जो न इतनी सत्य ही हैं। वह यह मानता है कि ऐसी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ केवल कुलीनतंत्री वर्ग में ही पाई जा सकती हैं, कृषकों और शिल्पकारों में नहीं। इसीलिये वह धन के उत्पादकों के वर्ग को जो कि राज्य में सबसे बड़ा वर्ग होता है अपनी शिक्षा योजना से बाहर रखता है। निस्संदेह वह यह तो मानता है कि अपने स्वभाव में स्वर्ण रखने वाला व्यक्ति ऐसे माता-पिता के यहाँ भी उत्पन्न हो सकता है जिसके स्वभाव में चाँदी या लोहा हो, परन्तु ऐसे व्यक्तियों को उत्पादक वर्ग के शेष घटकों से अलग छाँटने का कोई उपाय तो नहीं है। परन्तु अफलातून की योजना के इस दोष पर अत्यधिक बल देना आवश्यक नहीं है; हम इसके लोकतंत्र विरोधी स्वरूप को देखकर दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण बात पर आते हैं।

यह है दार्शनिक राजाओं का निरंकुश शासन। दार्शनिक राजा निरंकुश हैं क्योंकि किसी लिखित क़ानून की उनके ऊपर कोई सीमायें नहीं हैं और जनमत के प्रति वह उत्तरदायी नहीं है, और न ही वह उसका आदर करता है। इस शासन को एक दूसरे अर्थ में भी निरंकुश कहा जा सकता है। वह यह कि इसमें सर्वसाधारण का कोई भाग नहीं है; उन्हें चुपचाप शासक वर्ग की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। नागरिकों को दार्शनिक राजा के सामने उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिये जिस प्रकार कि एक रोगी को अपना उपचार करने वाले वैद्य के सामने करना पड़ता है। अफलातून ने शासन की तुलना कलाओं से प्रायः की है।

इस बात को देखकर कि आदर्श राज्य के नागरिकों से दार्शनिक राजाओं के निरंकुश शासन के सामने समर्पित करने की प्रत्याशा की जाती है और राज्य की नीति के निर्धारण में उनका कोई भाग नहीं होता, कोई आवाज़ नहीं होती, कुछ लोग यह कहते हैं कि हॉब्स के *लेवियाथन* (Leviathan) की प्रजा के सदृश अफलातून के नागरिक भी दासता की स्थिति में हैं; उन्हें केवल शासक वर्ग की इच्छाओं का पालन करना पड़ता है। चाहे यह बुद्धि की दासता ही सही, पर है तो दासता ही; सोने की ज़ंजीरें भी वैसे ही बाँधती हैं जैसे कि लोहे की ज़ंजीरें। इसी लिए विशेषज्ञों द्वारा शासन की यह धारणा स्वतन्त्र नागरिकता के यूनानी आदर्श का निषेध है जिसका अर्थ यह था कि प्रत्येक नागरिक कभी न कभी शासन के कर्त्तव्यों और अधिकारों में भाग ले सकता था, और आधुनिक लोकतन्त्री भावना के विरुद्ध है। नागरिकों की तुलना रोगियों से करना, जो कि स्वयं अपनी देखभाल नहीं कर सकते और इसलिये जिनकी देखभाल एक विशेषज्ञ को ही करनी चाहिये, ग़लत है।

दार्शनिक-राजाओं के शासन के आदर्श रूप से सर्वश्रेष्ठ होने की अफलातूनी धारणा के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि निर्बाध निरंकुशता है, यूनानियों की धारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आततायीतन्त्र (Tyranny) तो यह निश्चित रूप से ही नहीं है। लिखित क़ानून और जनमत के वन्धनों से यह स्वतन्त्र हो सकता था, किन्तु संविधान के मूलभूत सिद्धान्तों से स्वतन्त्र यह नहीं था। दार्शनिक राजाओं का यह देखना परम कर्त्तव्य है कि राज्य संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार चले जिनमें अफलातून चार गिनाता है। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि दार्शनिक राजा के जो आवश्यक नैतिक गुण हैं उनके कारण उसके शासन के दमनकारी और निरंकुश हो जाने की सम्भावना नहीं है। वह स्पष्ट रूप से अपने साध्य और उसके प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधनों को जानता है। उसे सत्य से प्रेम है जिसमें वे समस्त सद्गुण सम्मिलित हैं जो कि आदर्श मानव प्रकृति का अंग हैं। इसमें वास्तविक तत्त्व के लिए तीव्र उत्कंठा और प्रत्येक जानने योग्य वस्तु को जानने की इच्छा निहित है। एक सच्ची दार्शनिक प्रकृति वाले मनुष्य में पूर्ण आत्म-संयम होगा और उसका हृदय घृणा, द्वेष, क्षुद्रता आदि अवगुणों से सर्वथा रहित होगा। स्पष्टतः वह न्यायप्रिय भी होगा। सारांश यह कि दार्शनिक तत्त्व मूल रूप से मानवीय तत्त्व है; यही मनुष्य को सच्चा मानव वनाता है। ऐसा मनुष्य वास्तव में शासन करने योग्य है; इसके प्रति अधीनता एक निरंकुश आततायी के अधीन होना नहीं है।

यदि हम उन वातों को समझ लें जिनके कारण अफलातून ने लिखित क़ानून तथा लोकमत को अपने आदर्श राज्य से बाहर रक्खा तो उपरोक्त अनुच्छेद में जिस वात पर ज़ोर दिया गया है उसे हम कदाचित् अधिक समझ सकें। यह किसी सनक अथवा मनमानेपन का परिणाम नहीं था; तर्क इसकी माँग करता था। यदि ये मान्यतायें अर्थात् (१) आचार की ज्ञान के साथ एकरूपता, (२) वास्तविक अथवा वैज्ञानिक ज्ञान का विश्वास अथवा मत से विभेद, और उपरोक्त की अपेक्षा पूर्वोक्त की श्रेष्ठता (जो कि अफलातून के चिन्तन का आरम्भ बिन्दु हैं) सही मान ली जाती हैं तो *रिपब्लिक* के सारे ढांचे को हमें उसका तार्किक परिणाम मान कर स्वीकार करना होगा जिसके शिखर पर दार्शनिक राजा बैठे हुए हैं जो कि प्रदीप्त बुद्धि द्वारा शासन करते हैं और जिन्हें जनमत और लिखित क़ानून के निर्देशन की कोई आवश्यकता नहीं। *शुभ* की धारणा के ज्ञान से प्रसूत बुद्धि से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह क़ानून के सामने झुके जो कि परम्परा के ऊपर आधारित होता है। वार्कर के शब्दों में, "दार्शनिक राजा ऊपर लादा हुआ या एक दावा मात्र नहीं है: वह उस सम्पूर्ण पद्धति का तर्कसंगत परिणाम है जिसके ऊपर राज्य की रचना चली है।"

दार्शनिक राजा की धारणा में मौलिक सत्य— फोस्टर (Foster) का कहना है कि अफलातून के सम्पूर्ण राजनीतिक विचार में दार्शनिक राजा की धारणा सबसे अधिक मौलिक है। यह हम देख ही चुके हैं कि जनतन्त्र की दृष्टि में यह एकदम हेय है; ऐथन्स के स्वतन्त्र नागरिकता के आदर्श से भी यह ताल नहीं खाती। अरस्तु ने इस विचार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण तिरस्कार किया; उसके आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा के लिये कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या अफलातून की यह सबसे अधिक नवीन और मौलिक धारणा एकदम गलत है? क्या विशेषज्ञ बुद्धि द्वारा शासन में सत्य का कुछ अंश नहीं है? नहीं। बात ऐसी नहीं है। अफलातून के सिद्धान्त में निस्सन्देह एक आधारभूत सत्य है जिसे प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अपनाया जा सकता है। अफलातून की इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि शासन एक कठिन कला है जिसके लिए एक विशेष शिक्षा और दीक्षा अपेक्षित है। शासन की समस्याओं का वैज्ञानिक ज्ञान रखने वाले और उन्हें सुलझाने की विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्तियों के अभाव में तो स्वयं जनतन्त्र भी विफल हो जायगा। इस तत्त्व का प्रतिपादन करना अफ़लातून की एक महान् महत्ता थी कि जब तक राजनीतिक सत्ता बुद्धिमान के हाथ में नहीं आ जाती और बुद्धिहीन व्यक्तियों को राजनीतिक शक्ति से अलग नहीं कर दिया जाता तब तक राज्य के दोष दूर नहीं किये जा सकते। हमारे आज के संकटों और विनाश का प्रधान कारण शासन शक्ति का बुद्धि से अलग होना है। अतः अफ़लातून का यह मूल सिद्धान्त कि बुद्धि को ही शासन करने का अधिकार है सही है। हाँ जिस प्रकार उसने इसे क्रियान्वित करने की चेष्टा की है वह अवश्य ही दोषपूर्ण है। उसका कुछ वर्गों को राजनीतिक सत्ता से सदा के लिये वंचित कर देना अनुचित और अन्यायपूर्ण है।

दार्शनिक-राजाओं का शासन न केवल राज्य के उच्चतम अंग में बुद्धि और राजनीतिक शक्ति का संमिश्रण कर देता है, बल्कि यह वर्ग संघर्ष का, जिसमें प्रत्येक युग में राज्य ग्रस्त रहे हैं, अन्त करने का भी सर्वोत्तम उपाय है। वर्ग संघर्ष तब खड़ा होता है जबकि शासक वर्ग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग करता है; एक ऐसे समाज में यह नहीं पाया जा सकता जिसमें कि शासकगण अपने को सम्पूर्ण समाज की सेवा में लगा देते हैं और जहाँ सार्वजनिक सेवा में पद प्राप्त करने का एक मात्र आधार योग्यता, सच्चरित्रता तथा उत्तरदायित्व को वहन करने की सामर्थ्य होती है। दार्शनिक राजा तथा अभिभावकों की धारणा में ही यह बात निहित है कि वे अपने निजी सुखों से ऊपर उठ जाते हैं और सामान्य हित की साधना में रत होकर हीं उन्हें सच्चा परमानन्द प्राप्त होता है। सार्वजनिक हित के वेष में निजी स्वार्थ सिद्ध करना उनके लिये असम्भव है। यह कहना कि यह शासन भ्रष्ट और स्वार्थी हो सकता है अफ़लातून की धारणा के दार्शनिक स्वभाव से अनभिज्ञता का परिचय देना है।

अन्त में, हमें यह भी याद रखना चाहिये कि दार्शनिक-राजाओं तथा अभिभावकों का जीवन त्याग और समर्पण का जीवन है। यदि उन्हें राजनीतिक शक्ति प्राप्त है तो उसके लिये उन्हें धन का मोह, ऐन्द्रिक सुख तथा पारिवारिक जीवन इत्यादि व्यक्तिगत हितों का बलिदान करना पड़ता है। अफलातून किसी वर्ग से नहीं, बल्कि समाज के समस्त वर्गों से बलिदान चाहता है। यदि आर्थिक वर्ग को राजनीतिक शक्ति का परित्याग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना पड़ता है और अपनी नागरिक स्वतंत्रतायें खो देता है तो दो उच्च वर्गों को आर्थिक शक्ति से वंचित कर दिया जाता है। एक ऐसे समाज में जिसकी प्रधान तान सर्व हित है, वर्ग संघर्ष का होना और पनपना सम्भव नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस धारण में कई तत्त्व ऐसे हैं जिनका महान् और स्थायी मूल्य है। किन्तु इसका सब से बड़ा दोष यह है कि इसके लिये अपेक्षित मनुष्य बहुत कम मिलते हैं। इतिहास में दार्शनिक-राजाओं का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पहिले तो पर्याप्त संख्या में ऐसे मनुष्य नहीं मिल सकते जिन्हें कि शुभ की धारणा का ज्ञान हो और जिनका स्वभाव ऐसा दार्शनिक हो जैसा कि ऊपर बताया गया है। यदि किसी समाज में ऐसे व्यक्ति हों भी तो उन्हें छाँटना और इस बात की व्यवस्था करना कि राजनीतिक शक्ति उन्हीं तक सीमित रहे असम्भव होगा। अन्य नागरिक अपने आप को स्थायी रूप से शक्ति से वंचित किये जाने को सहन नहीं करेंगे। मनुष्य जैसे यथार्थ में हैं, उन्हें देखते हुए कोई भी व्यक्ति इतना अच्छा नहीं है जिसे कि निरंकुश शक्ति सौंपी जा सके, और अधिकतर मनुष्य ऐसे निरपेक्ष रूप से आज्ञाकारी भी नहीं रहेंगे जैसा कि अफ़लातून चाहता है। कदाचित् यही कारण है कि अफ़लातूनी आदर्श कहीं भी यथार्थ नहीं हुआ है।

रिपब्लिक में साम्यवाद का सिद्धान्त

परिचयात्मक— हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि अपने आदर्श राज्य में न्याय की सिद्धि के लिए अफ़लातून ने दो बातों की व्यवस्था की है। एक है राज्याधिकृत शिक्षा और दूसरी है सैनिकों तथा शासकों के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद। इन दोनों वर्गों को सामूहिक रूप से अभिभावक गण कह कर पुकारा गया है। यहाँ पर हम साम्यवाद की विवेचना करेंगे।

सम्पत्ति का साम्यवाद— अफ़लातून का विश्वास है कि एक समुचित तथा स्वस्थ शिक्षा प्रणाली द्वारा अभिभावक वर्ग को अपने विशेष कार्य करने तथा समाज के प्रति निःस्वार्थ भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये तय्यार किया जा सकता है। यह उनके अन्दर यह भावना उत्पन्न करेगी कि राज्य की एकता और सुदृढ़ता कायम रखना उनका परम धर्म है और उसके अतिरिक्त उनका अपना कोई हित नहीं है। किन्तु हो सकता है कि विपरीत वातावरण में पहुँच कर शिक्षा द्वारा उत्पन्न हुए ये संस्कार उनके हृदय से मिट जायें। हो सकता है कि उनकी जीवन पद्धति ऐसी हो जिसमें उनके अपने हित तथा समाजहित में संघर्ष होने लगे और वे स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने सामाजिक कर्त्तव्यों की अवहेलना करें। अफ़लातून इस खतरे से अनभिज्ञ नहीं है। इसलिये अपने उद्देश्य की सिद्धि को सर्वथा निर्बाध तथा निश्चित बनाने के लिये अभिभावक वर्ग के लिए एक ऐसी जीवन पद्धति का आविष्कार करता है 'जो कि न तो उनके अभिभावक धर्म के पालन में बाधक हो और जिसमें न उनके लिये अन्य नागरिकों का शोषण करने के लिये कोई प्रलोभन हो। उस जीवन पद्धति का वर्णन उसी के शब्दों में सुनिये:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पहिली बात तो यह कि उनके पास केवल उतनी ही सम्पत्ति होगी जो जीवन के लिये नितान्त अनिवार्य है। न तो उनके पास अपना कोई घर होगा और न कोई ऐसा गोदाम जो सब के लिये खुला न हो। उनको वही वस्तुएँ दी जायँगी जो कि कुशल सैनिकों के लिये आवश्यक हैं जो धीर तथा साहसी मनुष्य होते हैं। उन्हें नागरिकों से केवल वही निर्धारित वेतन लेना चाहिये जो उनकी वर्ष भर की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, उससे अधिक कुछ नहीं लेना चाहिये। उन्हें सामान्य भोजनालय में भोजन करना चाहिये और सिपाहियों की तरह डेरों में रहना चाहिये। ··· और केवल ये ही ऐसे नागरिक हैं जिन्हें सोना चाँदी छूना तक न चाहिये, न पहिनना चाहिये और न उनके बर्तनों में पीना चाहिये। इसी में उनकी मुक्ति है और ऐसा ही करने से वे राज्य के रक्षक बन सकेंगे। परन्तु यदि उन्होंने घर या भूमि या धन का संचय कर लिया तो वे अभिभावक की जगह गृहस्थी और कृषक बन जायेंगे; दूसरे नागरिकों के मित्र न रह कर उनके शत्रु बन जायेंगे और उनके ऊपर अत्याचार करने लगेंगे। वे दूसरों से घृणा करेंगे और दूसरे लोग उनसे घृणा करेंगे; वे दूसरों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचेंगे और दूसरे लोग उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचेंगे। इस प्रकार आजीवन उनके ऊपर बाहरी शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं का ही भय अधिक छाया रहेगा और उनका तथा समस्त राज्य का विनाश होने में कोई देर न लगेगी।"

अफलातून के उपरोक्त कथन में सम्पत्ति के साम्यवाद के राजनीतिक तथा व्यावहारिक आधार पर ज़ोर दिया गया है। उसे पूर्ण विश्वास है कि शासन की स्वच्छता तथा कुशलता के लिये कोई चीज़ इतनी घातक नहीं होती जितनी कि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का एक ही हाथ में इकट्ठा हो जाना। राज्य में जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक शक्ति है यदि उनके कुछ निजी आर्थिक हित भी हों तो हो सकता है कि वे निःस्वार्थ तथा ज्ञान का मार्ग छोड़ कर अपना पेट भरना तथा दूसरों का शोषण करना शुरु कर दें। यह वही तो सिद्धान्त है जिसके ऊपर कार्ल मार्क्स ने इतना बल दिया है कि वह आर्थिक वर्ग जिसके हाथ में राजनीतिक शक्ति होती है अन्य वर्गों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करता है। इसीलिए अफलातून राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों को अलग अलग रखना चाहता है। वह चाहता है कि जो लोग आर्थिक क्रियाओं में लगे हों उनका राजनीतिक शक्ति में कोई भाग नहीं होना चाहिए और जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक सत्ता हो उनके कोई आर्थिक हित नहीं होने चाहियें। इसी तथ्य को मनोवैज्ञानिक भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: यदि अभिभावकगण अपने शौर्य तथा बुद्धि द्वारा विहित कार्यों को तत्परता तथा एकाग्रता के साथ करना चाहते हैं तो उन्हें तृष्णाजनित (Appetitive) आर्थिक जीवन व्यापार का परित्याग करना ही पड़ेगा। बिना साम्यवाद के बुद्धि या तो निष्क्रिय पड़ी रहेगी या तृष्णा उसे उद्वेलित करती रहेगी। धन की लालसा अभिभावकों के समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन के मार्ग में एक गम्भीर बाधा होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिभावक वर्ग के इस अपरिग्रह का विधान करने का एक दूसरा कारण भी है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि अफ़लातून केवल उन्हीं व्यक्तियों को रक्षा तथा शासन की बागडोर सौंपना चाहता है जिनमें क्रमशः साहस और बुद्धि है, अर्थात् वह धर्म की श्रेष्ठता को सरकार में भाग लेने के लिए एकमात्र योग्यता मानता है। अब यदि राज्य में सभी नागरिकों को सम्पत्ति संग्रह की छूट दे दी जावे तो हो सकता है कि राजनीतिक पदों के लिये चुनाव का आधार धर्म (Virtue) न रह कर सम्पत्ति हो जावे। इसलिये यदि राजनीतिक योग्यता का आधार स्वयं मनुष्य को रखना है न कि उसके बाहरी उपकरणों को, तो उच्च वर्गों को निजी सम्पत्ति से वंचित ही कर देना चाहिये। निजी सम्पत्ति का विनाश इस बात की गारंटी है कि सरकारी पदों पर लोग अपने गुणों के कारण आयेंगे न कि अपने धन के बल पर। इसी युक्ति को सैबाइन ने इस प्रकार व्यक्त किया है: "सरकार के ऊपर धन के खतरनाक़ प्रभाव का अफ़लातून को इतना दृढ़ विश्वास था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति का ही विनाश करना पड़ा, जहाँ तक कि सिपाहियों और शासकों का सम्बन्ध है।"* इस प्रसंग में यह बात दिलचस्पी से खाली नहीं है कि अफलातून आदर्श राज्य के उत्तरोत्तर अधःपतन का कारण राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का सम्मिश्रण बतलाता है।

अफलातून के इस मन्तव्य को कि सैनिकों तथा शासकों का न कोई अपना घर होना चाहिये और न निजी सम्पत्ति, साधारणतया साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इस संज्ञा के औचित्य में सन्देह हो सकता है क्योंकि अफलातून ने अभिभावकों के लिए परिवार तथा उसके लिये अपरिहार्य धन का सर्वथा निषेध कर दिया है। उनको बहुत थोड़ी सी सामान्य सम्पत्ति उसने दी है। यह कहना अधिक उचित होगा कि उनका सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार नहीं बल्कि सम्पत्ति त्याग में वे समान भागीदार हैं। यही त्याग तो राज्य की एकता का सूत्र है। यदि इस शब्द के औचित्य को स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी हमें यह याद रखना चाहिये कि अफलातून के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद में आकाश पाताल का अन्तर है। उस अन्तर को समझना उपयोगी होगा। अतः उनके मुख्य मुख्य भेदों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

अफलातूनी साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद— पहिली बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि अफलातून ने सम्पत्ति का विनाश केवल अभिभावक वर्ग के लिए किया है; उत्पादक वर्ग को उसने अछूता छोड़ दिया है। इसलिए राज्य के आर्थिक ढाँचे के ऊपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उत्पादन की व्यक्तिवादी व्यवस्था में यह

---

* 'So firmly was Plato convinced of the pernicious effects of wealth upon government that he saw no way to abolish the evil except by abolishing wealth itself, so far as the soldiers and rulers are concerned.' —Sabine: *op. ct.*, page 57.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई परिवर्त्तन नहीं करता; एक भी उत्पादक के ऊपर रत्ती भर प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद का लक्ष्य राज्य के आर्थिक ढांचे में आमूल चूल परिवर्तन करना है; वे उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पूर्ण विनाश करके उन्हें सामूहिक हाथों में सौंप देना चाहते हैं। इसलिए जहाँ तक उत्पादन प्रणाली के ऊपर प्रभाव का सम्बन्ध है अफलातून का साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद दो बिल्कुल अलग अलग चीज़ें हैं; उनमें नाम के अतिरिक्त कुछ भी साम्य नहीं है। अफलातून का साम्यवाद केवल उपभोग सामग्री को प्रभावित करता है, उत्पादन के भौतिक साधनों को नहीं। अभिभावकगण खाने, कपड़े तथा रहने की बैरकों में समान भागीदार हैं, भूमि और पूंजी पर उनका समानाधिकार नहीं। उनका साझा धन में नहीं गरीबी में है। इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद उपभोग की वस्तुओं पर निजी प्रभुत्व का सिद्धान्त स्वीकार करता है जो अफलातून को मान्य नहीं है। अभिभावकगण को जीवन निर्वाह के लिये उत्पादक वर्ग जो कुछ देता है उसके ऊपर अभिभावकों का निजी स्वामित्व नहीं हो सकता, उसका वे सामान्य उपभोग ही कर सकते हैं। दूसरी बात यह कि अफलातून के साम्यवाद का स्वरूप राजनीतिक है क्योंकि उसका लक्ष्य राज्य की एकता प्राप्त करना है, धन का समान वितरण करना नहीं। उसकी योजना में उत्पादक वर्ग में आर्थिक विषमतायें रहेंगी। वह निजी सम्पत्ति का विनाश राजनीति में आर्थिक उद्देश्य को नष्ट करने के लिये ही करना चाहता है। आधुनिक साम्यवाद तथा समाजवाद का प्रधान चरित्र आर्थिक है, आधुनिकतम समाजवादी तथा साम्यवादी तो श्रमिकों के हाथ में ही राज्यशक्ति दे देना चाहते हैं। तीसरी बात यह जैसा कि पहिले बार बार कहा जा चुका है, कि अफलातून का साम्यवाद अधूरा साम्यवाद है; वह नागरिकों के छोटे से ही वर्ग को प्रभावित करता है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी वह दो तरह से है। एक तो इसलिये कि वह राज्य के समस्त नागरिकों को आच्छादित करता है, दूसरे उसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय है। आज का साम्यवादी एक ऐसे विश्व समाज की कल्पना करता है जिसमें कोई राष्ट्रराज्य न होंगे। उसका नारा है: संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ! अफलातून ने ऐसे विश्व संगठन का, नगर-राज्य जिसके अङ्ग मात्र हों, कभी सपना भी न देखा था; वह तो स्वतंत्र जीवन वाले स्वतन्त्र नगर-राज्य को सामाजिक संघटन का सर्वोत्कृष्ट रूप समझता था। अन्तिम बात यह कि अफलातून का साम्यवाद त्याग प्रधान है; 'यह एक त्याग का मार्ग है और इस समर्पण की माँग सर्वोत्तम और केवल सर्वोत्तम मनुष्य से की गई है।'* अफलातून भौतिक सम्पदा को बाधा समझता है इसलिये वह अभिभावक वर्ग से उनका परित्याग करने की माँग करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद धन सम्पत्ति की वांछनीयता में कोई सन्देह नहीं करता; वह उनका अधिक न्याय-संगत

* 'It is the way of surrender; and it is surrender imposed on the best and only on the best.' —Barker: *ibid*, page 212.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वितरण चाहता है। इसीलिये तो हम देखते हैं कि अफलातून उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की कोई मांग नहीं करता। वह तो केवल उत्पत्ति के एक अंश का समाजीकरण करना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद अफलातून के लिये गौण है; उसका लक्ष्य राजनीतिक है। हाँ उस के लिए वह एक विशिष्ट प्रकार की आर्थिक प्रणाली को आवश्यक समझता है, इसी लिए उसकी व्यवस्था वह करता है। विपरीत इसके आधुनिक साम्यवादियों का प्रधान लक्ष्य आर्थिक है, उनके राजनीतिक उद्देश्य उसके परिणामस्वरूप हैं। इस प्रकार इन दोनों में राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों का बिल्कुल विपर्यय हो गया है। दोनों में इतना विभेद होते हुए भी इतना तो मानना ही होगा कि इन दोनों का आदर्श एक है और वह है एक ऐसे समाज की स्थापना करना जिसका आधार सामान्य जनसेवा है, जिसमें जन्म या सम्पत्ति की दीवारें नहीं हैं।

पत्नियों का साम्यवाद— अभिभावकगण के लिये निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ ही साथ अफलातून उन्हें निजी परिवार से भी वंचित कर देता है। सम्पत्ति और परिवार अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरा टिक ही नहीं सकता। सम्पत्ति के साम्यवाद की अपेक्षा पत्नियों के साम्यवाद का अफलातून ने अधिक विस्तार के साथ निरूपण किया है और आलोचना के घात से इसकी रक्षा करने में उसने अधिक तत्परता दिखाई है। शायद वह जानता था कि वह एक ऐसी बात कह रहा है जो एकदम नवीन तो है ही, साथ ही साथ विरोधाभासी (Paradoxical) भी है।

परिवार के उन्मूलन के पक्ष में अफलातून ने कई युक्तियाँ दी हैं। उसका विचार है कि परिवार का संकुचित जीवन, घर की चारदीवारी में वन्द स्त्रियाँ और धन-संग्रह की भावना राज्य की एकता और उसके समस्त घटकों के स्वतन्त्र विकास की शत्रु हैं। पारिवारिक मोह और राज्य-भक्ति में घोर प्रतिस्पर्धा है और अनुभव हमें बतलाता है कि पहिले की दूसरे के ऊपर साधारणतया विजय होती है। अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता के आवरण में माता-पिता का घोर स्वार्थ और संकुचित दृष्टिकोण छिपा रहता है। इसलिए अफलातून निजी परिवार को स्वार्थपरता का अड्डा समझता है। इसके अतिरिक्त वह एक ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य की प्रतिभा का हनन और शक्तियों का दमन होता है। यह दो तरह से होता है। एक तो यह कि परिवार पुरुषों और स्त्रियों को, विशेष रूप से स्त्रियों को, अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने से रोकता है। स्त्रियों को घर की चार-दीवारी में बन्द कर दिया जाता है जहाँ उनका कार्य केवल बच्चों का प्रजनन और पालन पोषण होता है। इस प्रकार राज्य अपने लगभग आधे नागरिकों की सेवाओं से वंचित रह जाता है। दूसरी बात यह कि घरों में बच्चों को जो शिक्षा मिलती है वह उससे कहीं हीन और निकृष्ट है जो राज्य द्वारा नियंत्रित प्रणाली में उन्हें दी जा सकती है। परिवार का उन्मूलन न केवल स्वार्थपरता के गढ़ को गिरा देगा बल्कि स्त्रियों को घर के नीरस परिश्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मुक्त करके उन्हें राज्य सेवा का अवसर और स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। अफलातून स्त्री और पुरुष में लिंग भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं देखता; वह दोनों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने का बराबर अधिकारी समझता है। जिस प्रकार एक कुतिया भी उतनी ही अच्छी पहरेदार हो सकती है जितना कि एक कुत्ता, उसी प्रकार स्त्री भी उन कामों को कर सकती है जिनको कि पुरुष, भले ही उसकी कार्यमात्रा पुरुष से कुछ कम रहे। पशु-जगत का यह दृष्टान्त मानव जीवन पर लागू नहीं हो सकता है। एक कुत्ते और कुतिया में शारीरिक बल के भेद के अतिरिक्त कोई मौलिक अन्तर भले ही न हो; किन्तु यह बात कदापि मान्य नहीं हो सकती कि पुरुष और स्त्री में कोई बुनियादी अन्तर नहीं है और एक स्त्री केवल एक दुर्बलतर पुरुष है और एक पुरुष केवल एक सबलतर स्त्री है। "स्त्री की प्रकृति में लिंग एकांगी तथ्य नहीं है जिसमें वह पुरुष से भिन्न है। उसे हम दूसरे तथ्यों से अलग नहीं कर सकते वह तो उसके समस्त जीवन को प्रभावित करता है।"*

अफलातून ने परिवार का उन्मूलन करने का प्रयास न केवल इसलिए किया कि उसे वह स्वार्थपरता का केन्द्र और राज्य का एक घोर प्रतिद्वन्द्वी समझता था, बल्कि इस कारण भी कि उसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का स्थान हीन था। प्राचीन यूनान में पत्नी आर्थिक रूप से पति के ऊपर निर्भर करती थी और उसे कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। उसका स्थान एक गृह-प्रबन्धक और शिशु-जननी से बढ़ कर और कुछ न था। क्रॉसमैन के शब्दों में, "इस बात के लिये कि वह विवाह किससे करे वह अपने माता-पिता की दास थी और उनकी दया पर निर्भर करती थी, और विवाह होने पर वह अपने पति की दास हो जाती थी। ऐसे दासों को अपने शासक वर्ग के घटक बनने और अपने सर्वोत्तम वर्ग के साथ रहने की अनुमति अफलातून नहीं दे सकता था। उसके शासक वर्ग को ऐसी स्त्रियों की आवश्यकता थी जो कि अपने पुरुषों के समान हों।" इसलिए सर्वोत्कृष्ट स्त्रियों को राज्य की सेवा के लिए भरती करने और उन्हें उच्चतम शिक्षा प्रदान करने के लिए अफलातून उन्हें गार्हस्थ्य की चाकरी से स्वतन्त्र करना चाहता था। इस प्रकार विवाह के संस्थान का उन्मूलन 'नारी के अधिकारों का एक ज़बरदस्त दावा था। यह उसे पुरुष के स्तर पर उठाता था, और उसके विवेक-प्रधान स्वभाव को स्वीकार करता था।'

अफलातून परिवार का उन्मूलन संतति सुधार के लिये भी करना चाहता था। विवाह सुधार की योजना में उसने अपना यह उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। परिवार का उन्मूलन करके वह इस प्रश्न पर आता है कि जाति (Race) को किस प्रकार जीवित रक्खा जाये और अभिभावकों में बच्चों का प्रजनन तथा पालन पोषण किस प्रकार हो।

* "The fact of sex is not one isolated thing in a woman's nature, in which and in which alone, she differs from man: it colours her whole being." —Barker: *Ibid*, page 225.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्य उसका ध्येय न था। वह कहता है कि उचित ऋतु और काल में राज्य की ओर से विवाह संस्कार सम्पन्न कराये जायेंगे और केवल उतने ही विवाह कराये जायेंगे जो राज्य के लिए आवश्यक बालकों को उत्पन्न कर सकें। उचित आयु के केवल सर्वोत्तम पुरुषों और स्त्रियों को ही विवाह सूत्र में बाँधा जायेगा। केवल इसी प्रकार जाति का परिमार्जन हो सकेगा। अफलातून चाहता है कि इस मामले में राज्य को उसी सिद्धान्त पर अमल करना चाहिये जिस पर कि एक पशुपालक करता है, अर्थात् एक श्रेष्ठ नर को उतने मादीनों और एक श्रेष्ठ मादीन को उतने नरों के साथ जोड़ देना चाहिये जितने कि वह सुगमतापूर्वक संभाल सके। इस प्रकार के क्षणिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले बच्चों का राज्य द्वारा शिशुगृहों (Creches) में पालन पोषण होगा ताकि न तो किसी बालक को यह पता चलेगा कि उसके माता-पिता कौन हैं और न किसी माता-पिता को ही पता चलेगा कि उनके बच्चे कौन हैं। एक ऋतु में उत्पन्न होने वाले सभी शिशु उस समय विवाहित हुए व्यक्तियों के सामान्य पुत्र पुत्री होंगे। इस तरह से पूर्ण एकता स्थापित हो सकेगी। ऐसा राज्य स्वयं ही एक वृहत् परिवार होगा जिसमें समस्त प्रौढ़ समस्त बच्चों को अपना समझेंगे और 'मेरे' 'तेरे' का अन्तर बिल्कुल मिट जायेगा। ऐसे राज्य में, जिसके शासक-गण का एक ही परिवार होगा और जो सब प्रेम के सूत्र में गुंथे होंगे, राजद्रोह का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अफलातून की विवाह सुधार की योजना एक साथ कई उद्देश्यों की पूर्ति करती है। इससे राज्य में एकता आती है; इससे संतति का सुधार होता है और यह स्त्रियों को राज्य सेवा के लिये मुक्ति प्रदान करती है। निस्सन्देह पत्नियों का यह साम्यवाद एक नवीन कल्पना है; संसार के साहित्य में इसका जोड़ मिलना प्रायः असम्भव है।

अफलातून की विवाह सुधार की योजना के जो कतिपय उद्देश्य हैं उनको हम सभी पसन्द करेंगे। भला कौन ऐसा व्यक्ति है जो स्त्री स्वतंत्रता, राज्य की एकता तथा संतति सुधार जैसे उद्देश्यों पर आपत्ति करे। परन्तु इनकी प्राप्ति के जो साधन उसने सुझाये हैं उन्हें शायद ही कोई स्वीकार करे। पुरुष और स्त्री का संसर्ग केवल प्रजनन के लिये नहीं होता; पति पत्नी का सम्बन्ध एक गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध है और वह समस्त जीवन का विषय है। इसी प्रकार माता और संतान का स्नेह भी क्षणिक नहीं बल्कि आजीवन का विषय सम्बन्ध है। क्षणिक संसर्ग की योजना बनाते समय न जाने क्यों अफलातून ने इस स्वयंसिद्ध सत्य की अवहेलना कर डाली। बालक को जिस चीज़ की सबसे बड़ी आवश्यकता है वह है माता का प्रेम और स्नेह। सार्वजनिक शिशुगृह में वह उसे कहाँ मिलेगा? माना कि परिवार बहुधा पृथकता और स्वार्थ की भावनाओं का पोषण करता है; प्रायः वह उसे राज्य के प्रति कर्त्तव्य से भी विमुख कर देता है और अपने विकृत रूप में वह स्त्रियों के लिये जीवन को एक भार बना देता है। यह उसका अन्धकार पक्ष है; किन्तु हमें उसके उज्ज्वल पक्ष को न भूलना चाहिये। जैसा कि आगे चलकर अरस्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने कहा है, परिवार वह स्थान है जहाँ प्रेम का विकास होता है और जहाँ दूसरे मानवी गुण प्राप्त किये जाते हैं। यहाँ स्त्री पुरुष जीवन साथी के रूप में एक दूसरे से मिलते हैं न कि एक क्षणिक कामना की तृप्ति के लिए।

राज्य की एकता भी अत्यन्त वांछनीय है; किन्तु इस बात में सन्देह है कि उसकी सिद्धि राज्य को एक परिवार बनाकर ही की जा सकती है। यदि राज्य को परिवार बना दिया गया तो फिर राज्य कहाँ रह जायेगा? राज्य और परिवार में आधारभूत अन्तर है; इन दोनों को एक दूसरे का समानार्थक समझना भूल है। अफलातून की यह मांग कि एक व्यक्ति को राज्य के अतिरिक्त समाज के किसी अन्य समूह को अपना नहीं समझना चाहिये राज्य की एकता पर आवश्यकता से अधिक बल देना है। मानव स्वभाव के यथार्थ रूप से यह ताल नहीं खाता। मानव स्वभाव अपनी तृप्ति के लिये अनेक समुदाय चाहता है। परिवार तथा सम्पत्ति के समर्थन के लिये पाठकों को अरस्तु का अध्ययन करना चाहिये।

जो बात हम दार्शनिक राजा के विषय में कह चुके हैं वही पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद के बारे में भी सही है। यहाँ भी अफलातून का ध्येय निर्दोष है और सिद्धान्त अकाट्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज में से स्वार्थ भावना और भ्रष्टाचार को तब तक दूर नहीं किया जा सकता और राज्य में एकता तब तक स्थापित नहीं की जा सकती जब तक कि अभिभावक वर्ग के ऐसे निजी आर्थिक हित मौजूद हैं जो प्रजाजन के हितों से टकराते हैं। मुट्ठी भर हाथों में राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक शक्ति एकत्रित हो जाने के कारण ही तो जनतंत्र को वह सफलता न मिल सकी जो मिल सकती थी और मिलनी चाहिये थी। राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति में पृथक्करण का सुझाव देना अफलातून की महान् राजनीतिक सूझ बूझ का परिचायक है। परन्तु इस बात में सन्देह है कि परिवार का उन्मूलन इस लक्ष्य को प्राप्त करने का सब से अच्छा साधन है। परिवार और सम्पत्ति स्वभावतः पापमय नहीं हैं, उनमें अच्छाई भी है। अरस्तु इनको व्यक्तित्व के विकास तथा नैतिक मूल्यों की प्राप्ति का आधार मानता है। अफलातून ने सही सिद्धान्तों को गलत रूप से लागू किया। जैसा कि बार्कर ने कहा है 'आत्मा का विस्तार करने की धुन में वह यह भूल गया कि उसमें पूर्व तीव्रता भी होनी चाहिये।' परिवार तथा निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करके अफलातून उस यन्त्र को ही नष्ट कर देता है जिसके द्वारा व्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। इसके अतिरिक्त मानव स्वभाव के लिए यह अव्यावहारिक तो है ही।

परिवार का उन्मूलन अफलातून के आधारभूत सिद्धान्त का एक आवश्यक उप-सिद्धान्त है। यदि हम उसकी यह धारणा स्वीकार करलें कि आत्मा का त्रिगुणात्मक स्वभाव है, ज्ञान ही धर्म है और शासन एक कला है तो हम निश्चित रूप से उन परिणामों पर पहुँचेंगे जिन पर कि वह पहुँचा था। राजनीति के ऊपर बहुत थोड़ी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकें इतनी युक्तियुक्त तथा संश्लिष्ट हैं जितनी कि 'रिपब्लिक'। वह बिना किसी हिचकिचाहट के अपने सिद्धान्त को तर्क की अंतिम सीमा तक ले जाने को तैयार था। रीति रिवाज और परम्पराओं की उसे कोई परवाह न थी। तभी तो सैबाइन ने कहा है कि 'रिपब्लिक' एक पंडित की वाणी है, उस ऋषि के विश्वास की अभिव्यंजना है जो ज्ञान में ही सामाजिक प्रगति की शक्तियों को देखता है।

आगे बढ़ने से पहिले यहाँ पर एक आपत्ति का उल्लेख कर देना वांछनीय दिखाई पड़ता है जो कि कभी कभी अफ़लातून के सम्पत्ति तथा पत्नियों के साम्यवाद के विरुद्ध उठाई जाती है; यह कहा जाता है कि परिवार का उन्मूलन करके तथा उच्च दो वर्गों को सम्पत्ति से वंचित करके अफ़लातून व्यक्ति को समाज पर बलिदान कर देता है और व्यक्तित्व के अधिकारों की अवहेलना करता है। यह आपत्ति उचित प्रतीत नहीं होती; यह व्यक्तित्व के संकुचित और इसलिए ग़लत अर्थ पर आधारित है। व्यक्ति का व्यक्तित्व मनमानी करने, या अपने आप को समाज के विरुद्ध खड़ा करने में नहीं है। हमें याद रखना चाहिये कि एक निर्विकल्प (Abstract) व्यक्ति जैसी कोई चीज़ नहीं होती; व्यक्ति और समाज में कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी है सामाजिक सम्बन्धों के कारण ही है; हम अपने व्यक्तित्व का विकास समाज के जीवन में भाग लेकर और उसमें योग देकर करते हैं। एक जनसेवक जो कि सच्चे मन से सर्वहित की साधना में लगा हुआ है और जिसका जीवन दूसरों के लिए है उसका व्यक्तित्व घटता नहीं, बल्कि ऐसा करने से अधिक उदात्त हो जाता है। भारत, बल्कि सम्पूर्ण ईश्वर सृष्टि के लिये जीवित रहकर और कार्य करके गांधी जी ने अपना व्यक्तित्व खोया नहीं, वरन् उसका प्रसरण किया और उसे अधिक उदात्त बनाया। वह ईश्वरभक्त जो कि अपने आप को परमात्मा के हाथ का एक यन्त्र मात्र बना लेता है और ऐसा करके अपने को दैविकता के स्तर पर ले जाता है, अपना व्यक्तित्व खो नहीं देता बल्कि उसे पूर्ण बना लेता है। अफ़लातून ने इस सत्य को पूर्ण रूप से जान लिया था कि उच्चतर 'स्व' (Self) के जीवित रहने के लिए निम्नतर 'स्व' को मारना ही पड़ेगा। अफ़लातून ऐन्द्रिक निकृष्ट 'स्व' को उत्कृष्ट 'स्व' के अधीन करता है, मनुष्य के उत्कृष्ट 'स्व' को समाज के अधीन नहीं करता।

अफ़लातून के विरुद्ध उचित आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि सर्वहित के लिए एकांगी समर्पण जो कि वह अपने अभिभावकों से चाहता है, सामान्य मनुष्य के लिए एक अत्यधिक उत्कृष्ट आदर्श है कि अधिकतर मनुष्य निम्नतर स्तर पर रहते हैं और दार्शनिक राजा की महान् ऊँचाई तक पहुँचने में असमर्थ हैं। परन्तु आदर्श तो सभी ऊँचे होते हैं, यदि उन्हें सर्व साधारण प्राप्त कर सके तो वे आदर्श ही न रह जायें। हां, अफ़लातून के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना युक्तिसंगत होगा कि उसकी राज्य की एकता की धारणा एक-पक्षीय है और इसलिए वह दोषपूर्ण है। राज्य के अन्तर्गत कतिपय समुदाय रहते हुए भी उसकी एकता रह सकती है; मानव समाज में एकता की स्थापना विविधता के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती है और होनी चाहिये। जैसा कि आगे चल कर अरस्तु ने कहा, राज्य को एक वृहद् परिवार बनाना ग़लत है; राज्य की एकता और परिवार की एकता में गुणात्मक भेद है। पारिवारिक जीवन को राज्य की सेवा के लिए एक तय्यारी के रूप में माना जा सकता है और ऐसा ही माना जाना चाहिये।

रिपब्लिक एक आदर्श के रूप में— 'रिपब्लिक' के सम्बन्ध में हमने अभी जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष यह है कि यह ग्रन्थ कुछ मूल सिद्धान्तों का वियोजन है; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह एक कल्पना मात्र है जिसका जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं। 'रिपब्लिक' यूनानी जीवन के तथ्यों पर आधारित है। इसे एक व्यावहारिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये लिखा गया है। स्पार्टा और ऐथन्स के राजनीतिक जीवन में अफलातून ने जो रोग देखे, 'रिपब्लिक' उन्हीं का एक निदान है। उसने देखा कि राजनीति के क्षेत्र में अज्ञान और अविद्या ने ज्ञान तथा बुद्धि को व्याभूत कर रक्खा है। वह बुद्धि की प्रभुता स्थापित करना चाहता है। बार्कर के अत्यन्त सुन्दर तथा सारगर्भित शब्दों में अफलातून द्वारा किया हुआ निदान 'एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक शिक्षा द्वारा तर्क को ज्ञानमय बनाना है; साम्यवाद द्वारा तर्क को तृष्णा से मुक्त करना है और एक सुदीक्षित तर्क द्वारा दो राज्यों का एकीकरण करना है।'* स्वयं रोग में उपचार का संकेत मिलता है। यूनानी जीवन तथा चिन्तन धारा में बहुत सी बातें ऐसी थीं जो 'रिपब्लिक' का आधार कही जा सकती हैं। अफलातून ने 'रिपब्लिक' की रचना वास्तविक जीवन को प्रभावित करने के लिए की थी। हमें याद होगा कि उसने साइरेक्यूज़ के निरंकुश शासक को दार्शनिक राजा बनाने का प्रयास किया था, यद्यपि वह विफल रहा। अत्यन्त दुष्कर मानते हुए भी वह 'रिपब्लिक' के आदर्श की प्राप्ति को असम्भव नहीं समझ सकता था। उसका कहना है कि जिस नगर की वह स्थापना कर रहा है वह असम्भव नहीं है, हाँ, कठिन अवश्य है। किन्तु ज्यों ज्यों उसकी आयु बढ़ती गई वह महसूस करने लगा कि आदर्श को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसने स्वयं ही स्वीकार किया कि "नगर की स्थापना केवल शब्दों में है; क्योंकि मेरे विचार में इस भूतल पर वह कहीं नहीं है।"† इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह केवल एक स्वप्न है जिसका मानव विचार और व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं। यद्यपि 'रिपब्लिक' के आदर्शों की पूर्ण और साकार अभिव्यक्ति किसी वास्तविक राज्य में नहीं हो सकती है, तथापि यह सत्य है कि

* '...... the training of reason in the ways of knowledge by a scientific and philosophic education, the liberation of reason from the yoke of appetite by a system of communism; the unification of the two states into one by the free working of a trained reason under that system.' —Barker: *op. ct.*, page 239.

† 'The city is founded in words, for on earth I imagine it nowhere exists.'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी न किसी अंश में उसकी अन्तर्निहित भावना की अनुभूति प्रत्येक राज्य में की जा रही है। यह तो यूक्लिड (Euclid) के उस पूर्ण वृत्त के सदृश है जिससे मनुष्य द्वारा बनाये गये सभी वृत्त न्यूनाधिक अंश में मिलते जुलते होते हैं किन्तु उनके पूर्ण अनुरूप कोई नहीं होता। यह सही है कि यथार्थ जगत् में दार्शनिक राजा का मिलना दुर्लभ है; किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कोई भी राज्य राज्य नहीं रह सकता यदि उस में बुद्धि सर्वोपरि न हो। इस दृष्टिकोण से इस धारणा की अनुभूति हम वास्तविक जीवन में प्रति क्षण कर रहे हैं। इसी प्रकार यद्यपि शासकों के जीवन में से आर्थिक प्रलोभन को बिल्कुल दूर करना तो असम्भव है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक प्रलोभन का एक जगह मिलना राज्य के लिये घातक है। याद रखने की बात यह है कि 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त यथार्थ जगत के हैं और इस संसार को न केवल अधिक बोधगम्य बल्कि रहने के योग्य भी बनाते हैं। इस के अतिरिक्त आदर्श यथार्थ का मापदण्ड होने के नाते भी उपयोगी है।

राज्य का अधःपतन तथा इस के भ्रष्ट रूप— आदर्श राज्य की रूपरेखा अङ्कित करने और संरक्षकों की शिक्षा तथा जीवन का वर्णन करने के उपरान्त अफलातून उसके अधःपतन तथा उसके उत्तरोत्तरनिकृष्ट रूपों का वर्णन करता है और अन्त में राज्य के सबसे अधिक निकृष्ट तथा सबसे अधिक भ्रष्ट रूप को हमारे सामने रखता है। इस अध्ययन का उद्देश्य मानव आत्मा के अधःपतन का चित्र दिखला कर अन्याय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराना है। हमें यह न भूलना चाहिए कि ग्लॉकन तथा दूसरे लोगों ने सुकरात के सामने जो समस्या रक्खी है वह न्याय तथा अन्याय का विशुद्ध रूप दिखाना अर्थात् बाह्य जगत में उनके प्रभाव से अलग उनके स्वरूप की विवेचना करना तथा अन्याय की अपेक्षा न्याय की श्रेष्ठता सिद्ध करना है। 'रिपब्लिक' के आठवें और नवें प्रकरण में अफलातून ने अन्याय का अध्ययन करने का प्रयास किया है जो एक अन्यायी राज्य में अपने वृहत्तर स्वरूप में पाया जाता है। यद्यपि अफलातून ने भ्रष्टाचार के इस वर्णन को एक अर्द्ध-ऐतिहासिक रूप दिया है तथापि उसका यह चित्र मुख्य रूप से तार्किक और वियोजक (*a'priori*) है। जिस प्रकार मानव आत्मा के एक के बाद दूसरे विभिन्न मनोवैज्ञानिक गुणों का समावेश करके उसने एक आदर्श राज्य का पूर्ण भवन खड़ा किया था उसी प्रकार वह उन तत्त्वों को निकाल लेता है। राज्य में इन तत्त्वों का ह्रास उनके महत्त्व के क्रम से होता है। आदर्श राज्य का आधार तीनों तत्त्वों का सामंजस्य तथा बुद्धि का अन्य दो गुणों के ऊपर शासन था। जब बुद्धि को पदच्युत करके शौर्य उस का स्थान ग्रहण कर लेता है तो राज्य का पहिला भ्रष्ट रूप हमारे सामने आता है जिसे अफलातून सैनिकतन्त्र (Timocracy) कह कर पुकारता है। इससे अगली और स्वाभाविक स्थिति वह होती है जब कि बुद्धि और शौर्य दोनों को पराभूत करके तृष्णा स्वयं शासक बन बैठती है, यह धनतन्त्र (Oligarchy) है। अगली अधोन्मुखी स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह है जब कि वित्तैषणा का प्रभुत्व नष्ट हो जाता है और विभिन्न तृष्णायें प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये आपस में संघर्ष करती हैं। यह जनतन्त्रवाद (Democracy) है। पतन की अन्तिम सीढ़ी वह है जब कि निकृष्टतम इच्छायें हावी हो जाती हैं और काम तथा लोभ इत्यादि व्यक्तियों और समाज को वशीभूत कर लेते हैं। यह है आततायीवाद (Tyranny) जो राज्य का निकृष्टतम रूप है और जिस में मानव आत्मा पतन के गहरे गर्त में जा गिरती है। यह है पाप का आदर्श इतिहास जैसे कि आदर्श राज्य की रचना पुण्य का आदर्श इतिहास है। वास्तव में यह इतिहास नहीं है वल्कि मानव समाज में संचरित कुछ निश्चित सिद्धान्तों के प्रकाश में इतिहास को समझाने का एक प्रयास है।

मानव इतिहास के कार्य-क्रम में सबसे पहिला सिद्धान्त जो हम देखते हैं वह यह है कि समाज का पतन आन्तरिक कारणों से होता है, किसी दैवयोग या बाह्य कारणों से नहीं। मानव समाज में भी विकास और विनाश का वही क़ानून लागू होता है जो कि वनस्पति जगत में हम देखते हैं। आदर्श राज्य पतित हो कर सैनिकतन्त्र इसलिये वन जाता है क्योंकि जीवन के अटल क़ानूनों की जानकारी न होने के कारण स्त्री पुरुष ग़लत समय में समागम कर बैठते हैं जिसका परिणाम होता है कि एक निकृष्ट संतान का जन्म। इसी प्रकार आन्तरिक शक्तियों के कारण ही यह पतन होता रहता है और राज्य का एक से एक अधिक भ्रष्ट रूप हमारे सामने आता है।

दूसरा सिद्धान्त जो स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है यह है कि अति सर्वत्र वर्जित है। अति का निश्चित रूप से पराभव होता है। प्रत्येक राज्य का नियामक सिद्धान्त अति को पहुँच जाता है और वही उसके विनाश का कारण होता है। धनतन्त्र धन के पीछे ही पड़ा रहता है जब तक कि धन ही उसका विनाश न कर दे। इसी प्रकार जनतन्त्र के विनाश का कारण भी यही है कि वह स्वतन्त्रता तथा समता के सिद्धान्त को अति तक पहुँचा देता है।

अन्तिम सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक राज्य एक विशेष प्रकार के मस्तिष्क की उपज है। जितना निकृष्ट मस्तिष्क होगा उतना ही निकृष्ट राज्य होगा। धनतन्त्र सैनिकतन्त्र की अपेक्षा इसलिये हीन है क्योंकि धनलोलुप व्यक्ति सम्मान पर मरने वाले व्यक्ति की अपेक्षा कहीं नीचा है। इसी प्रकार जनतन्त्र धनतन्त्र से निकृष्ट है क्योंकि धनतन्त्रवादी मनुष्य में आवश्यक और व्यवस्थित इच्छायें प्रधान होती हैं जब कि जनतन्त्रवादी मनुष्य में कोई विशेष इच्छा प्रधान नहीं होती जिसका परिणाम यह होता है कि जनतन्त्र में कोई निरपेक्ष सिद्धान्त ही नहीं होता।

राज्य के विभिन्न भ्रष्ट रूपों में से प्रत्येक की विशेषतायें और प्रत्येक में लोगों की जीवन पद्धति का वर्णन करना आवश्यक नहीं। इतना ही कहना काफी होगा कि अफलातून ने जनतन्त्र को एक बहुत ही नीचा स्थान दिया है; वह निकृष्टतम रूप के सब से अधिक निकट है। 'लॉज़' में अफलातून ने जनतन्त्र के विषय में अपनी धारणाओं में कुछ परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया है ; वहाँ उसने उसे कुछ ऊँचा स्थान दिया है। 'रिपब्लिक' में उसने जनतन्त्र को इतना नीचा स्थान इसलिए दिया है क्योंकि उसे वह अराजकता का ही दूसरा रूप समझता है ; वह उसमें व्यवस्था और अनुशासन नहीं पाता। वह जनतन्त्र के दो आधार-भूत सिद्धान्तों, स्वतन्त्रता तया समता की घोर निन्दा करता है क्योंकि जनतन्त्री समानता सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक स्तरों (Hierarchy) का निषेध है और स्वतन्त्रता सामाजिक दक्षता और नमूने की शत्रु है। समान, असमान दोनों को समता प्रदान करके यह इस बात की घोषणा करती है कि किसी व्यक्ति को शासन करने के लिए योग्य होने या योग्यता प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अफलातून जब 'रिपब्लिक' की रचना कर रहा था तो अपने श्रद्धेय गुरु सुकरात का अभियोग तथा मृत्यु-दण्ड की स्मृति उसके मन में ताज़ा थी।

अन्त में, आततायी के आन्तरिक जीवन को चित्रित करके और यह दिखा कर कि वह अतृप्त वासनाओं की साकार मूर्ति है और अपने साथियों से बिलकुल अलग अलग है और पूर्ण आत्मा को संतुष्ट करने वाली इच्छाओं को तृप्त करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है अफलातून यह सिद्ध करता है कि एक अन्यायी मनुष्य सब से कम सुखी और सब से अधिक दुखी होता है। यदि न्याय आत्मा के विभिन्न गुणों के परस्पर उचित सम्बन्ध में अर्थात् रज तथा तम पर सत् के प्रभुत्व में निहित है तो इस सम्बन्ध के विकृत होते ही अर्थात् सत् और रज पर तम का शासन होते ही अन्याय की निष्पत्ति हो जाती है। मन की यह स्थिति कभी भी सुखद नहीं हो सकती।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ५

अफ़लातून (क्रमशः)

स्टेट्समैन तथा लॉज़ (The Statesman and The Laws)

परिचयात्मक— 'स्टेट्समैन' अथवा पॉलीटिकस (Politicus) तथा 'लॉज़' अफलातून के जीवन के उत्तर काल की कृतियाँ हैं। उनमें वह बौद्धिक बल तथा साहित्यिक शैली देखने को नहीं मिलती, जिनके कारण 'रिपब्लिक' अफलातून की महानतम कृति और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल की महानतम कृतियों में से एक बनी। उनका यहाँ पर संक्षिप्त विवरण ही दिया जायेगा यद्यपि अरस्तु तथा उससे पीछे होने वाले विचारकों पर इनका 'रिपब्लिक' की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। 'लॉज़' 'स्टेट्समैन' की अपेक्षा न केवल आकार में बड़ा है बल्कि उसका चरित्र भी उससे अधिक राजनीतिक है; इस में क़ानून की अधिक पूर्ण अभिव्यंजना हुई है। 'स्टेट्समैन' की मान्यता इसलिये है कि उसमें अफलातून ने क़ानून पर एक नये दृष्टिकोण से विचार किया है और जनतन्त्र की उतनी निन्दा नहीं की जितनी कि 'रिपब्लिक' में। इसमें मिश्रित संविधान का संकेत भी मिलता है जिसका पूर्ण विकास 'लॉज़' में हुआ है।

रिपब्लिक से स्टेट्समैन पर— आदर्श राज्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें क़ानून का सर्वथा अभाव है, दार्शनिक राजा अपनी कुशल बुद्धि से शासन करता है; वह रीति-रिवाज तथा लिखित क़ानून से बाध्य नहीं है। यद्यपि क़ानून की अवहेलना अफलातून के मूल सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है और उसके आदर्श राज्य में शासन की एक प्रमुख विशेषता है; किन्तु वह नगर राज्य के राजनीतिक विश्वास और परम्पराओं के विरुद्ध है। अफलातून आदर्श और यथार्थ के इस संघर्ष को जानता था। वह महसूस करता था कि राज्य को एक शिक्षा संस्थान बना कर उसमें दार्शनिक राजा का निरंकुश शासन स्थापित करना और नागरिकों का स्थायी रूप से उसके अधीन हो जाना एक ऐसी कल्पना है जो राजनीतिक वास्तविकताओं से दूर है। इसलिये 'स्टेट्समैन' में उसने इसी बुनियादी प्रश्न की विवेचना की है कि आया कि आदर्श राज्य में नागरिकों को अपने शासकों पर इतना ही निर्भर करना चाहिये जितना कि बालकों को अपने माता पिता पर या उन्हें उत्तरदायी और स्वनियंता बनाना चाहिये; अर्थात् दार्शनिक राजा को अनिच्छुक अथवा इच्छुक नागरिकों के ऊपर शासन करना चाहिये अथवा नहीं। इस प्रश्न का गहरा विश्लेषण करने के उपरान्त अफलातून इस परिणाम पर पहुँचा कि एक बुद्धिमान् शासक को जिसे कि शुद्ध तत्व का ज्ञान प्राप्त है, शासित की रज़ामन्दी लेने की या रीति या परम्परा का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार 'स्टेट्समैन' 'रिपब्लिक' के आदर्श की ही पुष्टि करता है किन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार करता है कि यह आदर्श केवल स्वर्ग का है; इस भूतल पर इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक के अन्त में अफ़लातून यह मान लेता है कि यथार्थ राज्यों में निरंकुश शासक से काम नहीं चलेगा और इसलिये उनके राजनीतिक जीवन में क़ानून और रज़ामन्दी आवश्यक हो सकते हैं। जीवन की वास्तविकताओं के सामने वह झुक जाता है और 'लॉज़' में वह राज्य में कानून को उसके उचित स्थान पर फिर प्रतिष्ठित कर देता है।

अफलातून के दृष्टिकोण में जो यह परिवर्तन आया है वह 'स्टेट्समैन' में दिये हुए राज्यों के वर्गीकरण में स्पष्ट अभिलक्षित है। यह 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण से दो महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न है। 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य सर्वोत्कृष्ट है और सैनिकतन्त्र, धनतन्त्र, जनतन्त्र तथा आततायीतन्त्र उसके विभिन्न भ्रष्ट रूप हैं। किन्तु 'स्टेट्समैन' में उसने आदर्श राज्य को वर्गीकरण से अलग रक्खा है; उसमें केवल वास्तविक राज्यों का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के दो आधार हैं, एक रूप में कानून का स्थान और दूसरा शासकों की संख्या। अफलातून ने मोटे रूप से राज्यों को दो वर्गों में विभक्त किया है, १. क़ानूनप्रिय राज्य, २. क़ानूनहीन राज्य। इनमें से प्रत्येक के तीन रूप हो सकते हैं: १. एक का शासन, २. कुछ का शासन तथा ३. बहुतों का शासन। क़ानूनप्रिय राज्य में यदि एक का शासन है तो वह राजतन्त्र कहलाता है; परन्तु यदि कुछ का है तो कुलीनतन्त्र और बहुतों का है तो नम्र जनतन्त्र कहलाता है। एक क़ानूनहीन राज्य में ये रूप क्रमशः आततायीतन्त्र, धनतन्त्र तथा उग्र जनतन्त्र बन जाते हैं। क़ानूनप्रिय राज्य क़ानूनहीन राज्य की अपेक्षा सदैव अधिक श्रेष्ठ है इसलिये नम्र जनतन्त्र एक धनतन्त्र की अपेक्षा सर्वदा अधिक मान्य और ग्राह्य है। इसी वर्गीकरण को आगे चलकर अरस्तु ने अपनाया है जो उसी नाम से सम्बद्ध है। क़ानूनहीन राज्यों में भी उसने जनतन्त्र को धनतन्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा है। इस प्रकार जनतन्त्र क़ानूनविहित राज्य का निकृष्टतम किन्तु क़ानूनहीन राज्यों में सर्वोत्कृष्ट है। धनतन्त्र से तो यह दोनों ही अवस्थाओं में अच्छा है। 'रिपब्लिक' में जनतन्त्र की जो घोर निन्दा अफलातून ने की है उसका उसने 'स्टेट्समैन' में पूर्ण परित्याग कर दिया है। 'अनुभव के फल तथा बुद्धि के आविष्कार के रूप में क़ानून के गुण को समझ लेने पर अब अफलातून जनतन्त्र का, जोकि क़ानून द्वारा शासन के सिद्धान्त पर आधारित है, मूल्य जान सकता है।'*

उपरोक्त पैरा में जिसे हमने कानूनी राज्य कहा है वह कानून के रूप में ज्ञान द्वारा संचालित राज्य है। इसमें लोग कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं। एक कानूनहीन

* 'Seeing the virtue of law, as the fruit of experience and invention of wisdom, Plato can now see the value of democracy which is based on the rule of law.' —Barker: *op. ct.*, page 291.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य वह है जिसमें शासक और शासित कोई भी कानून का पालन न करे बल्कि अपनी मनमानी करे। इसलिये ऐसे राज्य में कर्म पर ज्ञान का अधिकार नहीं होता।

लॉज़ (The Laws)— राजनीतिक वास्तविकताओं का राजनीतिक कल्प विकल्प में उचित स्थान देने तथा कानून को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की जो प्रवृत्तियाँ 'स्टेट्समैन' में उदय हुईं थीं उनका पूर्ण विकास 'लॉज़' में हुआ है। 'स्टेट्समैन' में अफलातून ने एक आदर्श शासक का चित्र अंकित किया है और उसके गुणों का वर्णन किया है; किन्तु आदर्श राजा की तरह वह भी इस मृत्यु लोक में मिलना असम्भव है। विवश होकर अफलातून को कानून द्वारा शासन का ही प्रतिपादन करना पड़ा, हाँ कानून होना चाहिये सच्चे ज्ञान का साकार रूप। इस प्रकार 'लॉज़' में अफलातून एक ऐसी शासन प्रणाली का आयोजन करता है जिसमें कानून की प्रभुता होगी; किन्तु अमूर्त कानून के द्वारा शासन ज्ञान और दर्शन ही करेंगे। इस ग्रन्थ के नाम से ही यह व्यंजित हो जाता है कि इसका उद्देश्य एक कानूनी राज्य की रचना है।

'लॉज़' में प्रतिपादित उपादर्श राज्य का चित्र खींचने में अफलातून ने 'रिपब्लिक' वाली स्वतन्त्र तर्कप्रधान तथा कल्पनात्मक पद्धति को नहीं अपनाया क्योंकि इस वार वह एक ऐसे राज्य की रचना करना चाहता है जिसे इस धरती पर ही प्राप्त किया जा सके। अतः उसे वास्तविकताओं से जूझना पड़ता है; यहाँ वह स्वच्छन्द कल्पना के पंखों पर नहीं उड़ सकता। सैवाइन के शब्दों में इस पुस्तक में उसने 'मानव सभ्यता के विकास का अनुसन्धान करने, उसकी विभिन्न अवस्थाओं को देखने, उत्थान पतन के कारणों का अनुशीलन करने और सम्पूर्ण का विश्लेषण करके राजनीतिक स्थिरता के उन कानूनों को, जिन का कि बुद्धिमान् शासक मानव समाज में होने वाले परिवर्त्तनों को नियंत्रित तथा निर्वेशित करने के लिये पालन करेंगे, विकसित करने' का प्रयास किया है। उसका यह सुझाव कि राजनीति का अध्ययन सभ्यता के इतिहास के प्रकाश में अधिक सार्थक हो सकता है 'रिपब्लिक' की कल्पना प्रधान पद्धति से कहीं अधिक सफल सिद्ध हुआ है। इसने अरस्तु की पद्धति को प्रभावित किया जिस पर 'लॉज़' का वहुत बड़ा ऋण है।

लॉज़ में राज्य का सिद्धान्त— 'लॉज़' में अंकित राज्य 'रिपब्लिक' में निरूपित राज्य से कई वातों में भिन्न है। दोनों में सबसे वड़ा अन्तर यह है कि 'लॉज़' का राज्य एक कानूनी राज्य है क्योंकि उसका शासन प्रवन्ध कानून के अनुसार होगा; उस में कानून की प्रभुता है शासक की नहीं जवकि 'रिपब्लिक' के दार्शनिक राजा के ऊपर कानून या परम्परा का कोई अंकुश नहीं। यह एक आधारभूत परिवर्त्तन है। इसने राज्य में कानून को, जो कि 'रिपब्लिक' में विल्कुल उखाड़ फेंका गया था, फिर से प्रतिष्ठित कर दिया है। क़ानून के इस पुनर्वास का तात्पर्य यह नहीं है कि अफलातून ने 'रिपब्लिक' के आदर्श को ग़लत समझ कर उसका परित्याग कर दिया। नहीं, अफलातून उसे अब भी सर्वश्रेष्ठ आदर्श समझता है। हाँ, उसने अब अनुभव कर लिया है कि वह आदर्श स्वर्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये है, इस धरती के लिये नहीं। दार्शनिक राजा अपूर्ण मानवों के अपूर्ण जगत में मिलना असम्भव है। इसलिये अफलातून को एक ऐसी शासन पद्धति का आयोजन करना पड़ा जिसमें कि यथार्थ मनुष्यों को परोक्ष रूप से ज्ञान द्वारा शासन का वरदान प्राप्त हो सके। ऐसा तभी हो सकता है जबकि शासन पर नियन्त्रण क़ानून का हो और क़ानून का आधार सच्चा ज्ञान तथा दर्शन हो। ऐसा राज्य निरपेक्ष रूप से तो सर्वोत्तम नहीं होगा; किन्तु मानव जीवन की वास्तविकताओं को देखते हुये सापेक्षिक रूप से सर्वोत्तम अवश्य होगा। यह एक उपादर्श (Sub-ideal) राज्य है। अफलातून के राजनीतिक सिद्धान्त में यह दराड़ दिखलाई पड़ती है, उसने आदर्श और यथार्थ में भेद कर दिया है। उसका आदर्श निरपेक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता और जो प्राप्त किया जा सकता है वह सर्वोत्तम नहीं, सापेक्ष सर्वोत्तम है। यह 'लॉज़' में प्रतिपादित उपादर्श राज्य मानो दुर्बलता के साथ एक रियायत है। यह रियायत देकर अफलातून अपने राजनीतिक विचारों को स्वतन्त्र नागरिकता की यूनानी परम्परा के अधिक निकट ले आया है। यह आदर्श और यथार्थ की सन्धि है। इस आदर्श राज्य के नागरिक दूसरों के हाथ की कठपुतलियाँ नहीं हैं; वे उत्तरदायी और एक अंश तक स्वशासक हैं। शासक और शासित दोनों को राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं; शासकों को पारिवारिक जीवन तथा निजी सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार है और शासकों के चुनाव में शासितों का हाथ है। सारांश यह कि आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के विच्छेद का, जो कि 'रिपब्लिक' की सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है, परित्याग कर दिया गया है और कार्य विभाजन तथा विशेषीकरण का स्थान विभिन्न तत्त्वों को एकता के सूत्र में गूंथ कर उनमें तारतम्य स्थापित करने के सिद्धान्त ने ले लिया है।

राज्य विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का संगठन है। 'रिपब्लिक' में राज्य की एकता विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त की गई है। प्रत्येक वर्ग अपने कर्त्तव्य का पालन करता है और किसी दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। श्रमिक वर्ग जिसमें तृष्णा का तत्त्व प्रधान है स्वेच्छापूर्वक शासक वर्ग की अधीनता स्वीकार कर लेता है जिसमें बुद्धि-तत्त्व प्रधान है। या यों कहिये कि 'रिपब्लिक' का आधार वह न्याय है जिसका अर्थ है उसके घटकों का ऐक्य सूत्र। 'लॉज़' के उपादर्श राज्य का आधार आत्म-नियन्त्रण तथा संयम है; उसकी एकता विभिन्न तत्त्वों के तारतम्य से उत्पन्न होती है; उसमें एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व के अधीन नहीं होना पड़ता। 'लॉज़' में इस बात का आग्रह नहीं है कि बुद्धि को तृष्णा के ऊपर शासन करने का एकाधिकार प्राप्त है; इसमें तो इन दोनों के सामंजस्य पर बल दिया गया है। इस सामंजस्य को आत्म-नियन्त्रण अथवा संयम द्वारा प्राप्त किया गया है जिसका अर्थ सैबाइन के शब्दों में 'एक क़ानून-प्रिय प्रवृत्ति या राज्य के संस्थानों के प्रति सम्मान की भावना तथा राज्य की क़ानूनविहित शक्तियों के सामने समर्पण करने की इच्छा' है। तो उपादर्श राज्य की एकता का आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहानुभूति और संवेदना है। वार्कर का कहना है कि "आत्मसंयम से सहानुभूति उत्पन्न होती है; इसलिए इसने जिस वातावरण की सृष्टि की है वह 'रिपब्लिक' के वातावरण से भिन्न है। यह वातावरण यद्यपि कुछ कम वैभवपूर्ण है किन्तु यह अधिक मानवीय है; यद्यपि यह कम स्पष्ट है; किन्तु यह नीरस भी उतना नहीं है।"*

'रिपब्लिक' में अफलातून ने सैनिकतन्त्र को आदर्श राज्य से दूसरा स्थान दिया है; सैनिकतन्त्र का सिद्धान्त है सम्मान और गौरव और उसका मुख्य गुण है साहस। स्पार्टा का राज्य सैनिकतन्त्र के सबसे अधिक निकट था। जाहिर है कि 'रिपब्लिक' ने स्पार्टा की प्रणाली की सराहना की है तभी तो उसे इतना ऊँचा स्थान दिया है। 'लॉज़' में इसके विपरीत है; उसमें स्पार्टा की युद्धप्रियता की निन्दा की गई है। अफलातून युद्धप्रिय राज्यों की घोर भर्त्सना करता है। उसके अनुसार राज्य का लक्ष्य आन्तरिक एवं वाह्य नीति द्वारा तालमेल स्थापित करना है, युद्ध करना नहीं।

क़ानून की आवश्यकता तथा उसका स्वभाव— दार्शनिक राजा उपलब्ध न होने पर अफलातून राज्य में क़ानून का शासन स्थापित करना चाहता है क्योंकि क़ानून दर्शन तथा ज्ञान का साकार रूप है। समाज के लिये क्या श्रेयस्कर है इसका सही उत्तर व्यक्ति-विशेष ही सदा नहीं दे सकते; इसके लिये उन्हें क़ानून का सहारा लेने की आवश्यकता है क्योंकि क़ानून समस्त समाज के ज्ञान और अनुभव तथा मानवता के अपने आपको पशुता से ऊपर उठाने के युगयुगान्तरों के प्रयास की अभिव्यक्ति है। यह कहना असत्य न होगा कि क़ानून ही सभ्यता है; वही मानव को पशु से भिन्न करता है। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाये कि हम यह जानते हैं कि समाज का हित किस बात में है तो भी ऐसा तो हो ही सकता है कि उसे प्राप्त करने की हमें सामर्थ्य न हो या इच्छा न हो। यह सामर्थ्य और इच्छा उत्पन्न करने के लिये क़ानून की आवश्यकता है। सामान्य क़ानून तथा उन्हें लागू करने वाली एक केन्द्रीय व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति स्वार्थ का शिकार हो सकता है।

परन्तु समाज सेवा के कार्य में हमारा सही पथ-प्रदर्शन करने तथा हमें प्रेरित करने वाले क़ानून व्यवस्थापकों के आदेशमात्र नहीं हो सकते; वे मानव व्यवहार के ऐसे सिद्धांत होने चाहियें जो बुद्धि को ग्राह्य हों और जो तर्क की कसौटी पर खरे उतरें। इस मामले में पूर्वकथन सब से अधिक सहायता दे सकता है। प्रत्येक कानून का उद्देश्य और औचित्य उसके पूर्वकथन में दिया हुआ होना चाहिये। अफलातून इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि एक कानूनप्रिय समाज की रचना नागरिकों की कानून के प्रति

* 'Issuing as it does in sympathy, self-control bring us into a different atmosphere from that of Republican atmosphere, less rare but more human, less clear but also less cold.'

—Barker : *Ibid*, page 298.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मान और भक्ति की भावना उत्पन्न करके तथा उनका अधिकतम सहयोग प्राप्त करके ही की जा सकती है; निरी शक्ति द्वारा कानूनों को उनके ऊपर लाद कर नहीं। आधुनिक विचारकों और लेखकों को भी इस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु अफलातून की इस बात का पूर्ण समर्थन वे शायद न कर सकें कि कानून सर्वोपरि है; राज्य का शासन कानून के आधीन होना चाहिये, कानून सरकार के आधीन नहीं। और कानून में परिवर्तन केवल तभी होना चाहिये जबकि ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो और तब भी वह परिवर्तन समस्त जनता तथा शासकों की इच्छा से ही होना चाहिये।

अफ़लातून की कानून सम्बन्धी धारणा आधुनिक धारणा से कहीं अधिक व्यापक है; उसका कानून तो समस्त जीवन का नियन्ता है। अफलातून कानून और नीति में कोई भेद न करता था जैसा कि हम आज करते हैं। वह समस्त नैतिक जीवन का कानून द्वारा नियन्त्रण और नियमन चाहता है। इसका कारण यह है कि अफलातून के लिये कानून व्यक्ति को प्रभावित करने वाली कोई बाहरी शक्ति नहीं बल्कि वह भावना है जो उनके अन्तस्तल से ही निसृत होनी चाहिये। इसलिये मनुष्य को कानूनपरायण बनाने का सब से अच्छा साधन शिक्षा है। इसीलिये अफलातूनी राज्य, चाहे वह 'रिपब्लिक' में हो चाहे 'लॉज़' में, एक शिक्षात्मक संस्था है।

'लॉज' तथा मिश्रित (Mixed) संविधान की धारणा— अफलातून के उपादर्श राज्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है मिश्रित संविधान का सिद्धान्त जो किसी भी दशा में कानून की पुनर्प्रतिष्ठा से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अरस्तु तथा पोलीबियस के लेखों में इनका उल्लेख मिलता है और इसे 'मॉन्टेस्क्यू' (Montesquieu) के शक्ति विभाजन के सिद्धांत का पूर्वज समझा जा सकता है जिसे वह राजनीतिक बुद्धिमत्ता का सार समझता था।

'लॉज़' में राज्यों के पतन के कारणों का अध्ययन करते हुए अफलातून कहता है कि स्पार्टा का पतन उसके सैनिक शिक्षा पर एकांगी बल और ईरान का पतन उसके राजाओं के निरंकुश अधिकार के कारण हुआ। इसी प्रकार जनतंत्री ऐथन्स का ह्रास अत्यधिक स्वतंत्रता के कारण हुआ। यह है वह अति का सिद्धान्त जिसका परिणाम सदा पूर्ण अधःपतन होता है और जिसका प्रतिपादन उसने स्वयं 'रिपब्लिक' में किया था। अफलातून इस परिणाम पर पहुँचा है कि यदि ये राज्य संयम से काम लेते और 'शक्ति को बुद्धि से तथा स्वतन्त्रता को अनुशासन से संयत कर देते' तो इनका पतन न होता; ये सम्पन्न होते और फलते फूलते। उनके विनाश का कारण यह है कि उन्होंने अपने प्रेरक सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। राज्य को स्थायी बनने के लिये उसे राज्यतंत्र अर्थात् कानून के आधीन एक न्यायशील एवं बुद्धिमान् सरकार के सिद्धान्त तथा जनतंत्र के स्वतंत्रता तथा रज़ामन्दी के सिद्धान्त का सम्मिश्रण करना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि मिश्रित संविधान के सिद्धान्त को अपनाया जाये। इससे विभिन्न प्रवृत्तियों में एक स्वस्थ संतुलन स्थापित हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक शक्ति पर अधिकार जताने के कई आधार हैं। कोई बुद्धि को, कोई धन को, कोई कुल को तथा कोई बाहुबल को शासनाधिकार का पात्र समझता है। अफलातून केवल बुद्धि के दावे को ही स्वीकार करता है। परन्तु विशुद्ध बुद्धि द्वारा शासन केवल एक आदर्श राज्य में ही सम्भव हो सकता है और आदर्श राज्य की प्राप्ति यथार्थ जगत में नहीं हो सकती। विवश होकर वह इन परस्पर विरोधी तत्त्वों के दावों को इस प्रकार संतुलित करना चाहता है जिसके फलस्वरूप एक सुव्यवस्थित तथा कानूनविहित राज्य की स्थापना हो सके। अफलातून के अनुसार वयोवृद्धता, अच्छा कुल तथा सम्पत्ति ज्ञान के स्रोत हैं। इसलिए ज्ञान द्वारा शासन के लिये इन तीनों को उचित स्थान मिलना चाहिये। इसके साथ ही साथ स्वतन्त्रता तथा रज़ामन्दी के ऊपर आधारित जन-तन्त्री सिद्धान्त को भी अपनाना चाहिये। इस प्रकार, अफलातून कहता है कि एक मिश्रित राज्य में राजतंत्र तथा जनतंत्र का सम्मिश्रण रहता है। लॉज़ में वर्णित कतिपय सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का ध्येय मिश्रित राज्य के सिद्धान्त को क्रियान्वित करना ही है, और मिश्रित संविधान के सिद्धांत को इसलिए ही अपनाया गया है क्योंकि उसे स्थिरता का सर्वोत्तम उपाय समझा गया है। स्थिरता एक ऐसी सांविधानिक व्यवस्था में पाई जाती है जो कि शासक वर्गों का निर्देशन करता है और समाज के विभिन्न तत्त्वों में एक संतुलित संबन्ध को सम्भव बनाता है।

सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ— लॉज़ में प्रतिपादित सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के बारे में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ अफलातून शासक वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा पत्नियों के उस साम्यवाद का तिरस्कार कर देता है जिसका अनुमोदन 'रिपब्लिक' में उसने इतनी तत्परता और उत्साह के साथ किया था। अब वह महसूस करता है कि वह इतना ऊँचा तथा इतना श्रेष्ठ है कि मानव स्वभाव उस तक नहीं पहुंच सकता। इसलिए वह समस्त नागरिकों को, चाहे वे शासक हों या शासित, निजी सम्पत्ति तथा परिवार सुख का उपभोग करने की स्वतंत्रता देता है। परन्तु इन पर उसने कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये हैं। वह चाहता है कि भूमि का समस्त नागरिकों में समान वितरण हो जिनकी संख्या ५,०४० से अधिक न होगी; किसी को भी अपनी भूमि बेचने तथा रहन रखने का अधिकार नहीं होना चाहिये। इस प्रकार भूमि की सम्पत्ति का समान वितरण होगा। व्यक्तिगत सम्पत्ति में असमानता हो सकती है; किन्तु किसी को भी एक भूखण्ड के मूल्य से चार गुणा से अधिक धन संग्रह करने का अधिकार नहीं होगा। सम्पत्ति पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगा कर अफलातून राज्य में अत्यन्त गरीबी और अत्यन्त अमीरी को मिटाना चाहता था। स्थायी रूप से एक पति-पत्नी के सम्बन्ध की वह आज्ञा देता है। परन्तु उसके ऊपर एक असह्य राजनियन्त्रण लगा देता है।

अफलातून नगर सभाओं, परिषदों तथा न्यायरक्षकों (Magistrates) की भी व्यवस्था करता है। न्यायरक्षक तथा परिषद के सदस्य चुने हुए होने चाहियें। परिषद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३६० सदस्य होंगे जिनकी चुनाव पद्धति कुछ ऐसी रक्खी गई है कि उसमें धनिक वर्गों का प्रभुत्व रहेगा। इसी निर्वाचन पद्धति को देखकर तो अरस्तु यह कह उठा कि अफलातून ने उपादर्श राज्य में राजतन्त्र तथा जनतन्त्र का नहीं वल्कि धनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का सम्मिश्रण किया है और उसका झुकाव निश्चित रूप से धनतन्त्र की ओर है। अरस्तू के इस कथन में सत्य का काफ़ी अंश है। 'लॉज़' में शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर भी अफलातून ने काफ़ी विचार किया है। वह स्त्री-पुरुषों के लिए एक सी शिक्षा की व्यवस्था करता है। किन्तु इस प्रश्न पर कि स्त्रियों को सार्वजनिक पद मिलने चाहियें या नहीं वह मौन है। यहाँ पर शिक्षा पद्धति तथा धार्मिक संस्थाओं का अधिक विवरण देना कोई अवश्यक नहीं।

रिपब्लिक तथा लॉज की तुलना— 'रिपब्लिक' में अफलातून ने नगर राज्य का दर्शन तथा मानव समाज में अन्तर्निहित नितान्त सामान्य सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है। उसने यह दिखाया है कि राज्य का सदस्य होने से किस प्रकार व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास होता है और वह किस प्रकार समाजहित में योग दे सकता है। अफलातून ने जिस समाज का विश्लेषण किया है उसका आधार सामान्य हित के लिए सेवाओं का परस्पर आदान प्रदान है। सोफिस्टस के स्वार्थ प्रधान आचार शास्त्र का यह सब से अधिक सन्तोषजनक उत्तर है। परन्तु सुकरात के ज्ञान तथा धर्म की अनुरूपता के सिद्धान्त पर आधारित उसके दार्शनिक राजा जो विना कानून के ही शासन करता है, की कल्पना में स्वतन्त्र नागरिकता का जो कि नगर राज्य का प्राण थी, कोई स्थान नहीं हो सकता, इस लिये उसने उस का सर्वथा परित्याग कर दिया। 'लॉज़' में कानून को पुनःप्रतिष्ठित करके उसने इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है। इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए मानव मनोविज्ञान तथा ज्ञान सम्बन्धी अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करना और उनमें संशोधन करना आवश्यक था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। परन्तु यह परिवर्त्तन और संशोधन किस दिशा में होना चाहिये इसका सबसे पहिले सुझाव अरस्तु को 'लॉज़' के अध्ययन से ही मिला और अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में वह इस कार्य में लग गया। 'लॉज़' में अफलातून ने "वास्तविक संस्थाओं का सचमुच ही सावधानी के साथ विश्लेषण किया और इतिहास से उनके सम्बन्ध का संकेत किया। उसने संतुलन सिद्धान्त अर्थात् एक सांविधानिक राज्य का निर्माण करने के लिये एक उचित साधन के रूप में विभिन्न हितों एवं दावों के निर्वाह का भी सुझाव दिया। यह वह विन्दु है जहाँ से अरस्तु ने अपना विचार आरम्भ किया। 'रिपब्लिक' के सामान्य सिद्धान्तों का त्याग किये विना ही उसने लगभग प्रत्येक मामले में 'लॉज़' के सुझावों को अपनाया। हाँ, अपने अधिक परिश्रम तथा अनुभवसिद्ध और ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक विस्तृत विश्लेषण से उन्हें अधिक सम्पन्न बना दिया।"*

---

* "....... turned to a really careful analysis of actual institutions and laws and suggested the attachment of such studies to history. He

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफलातून का प्रभाव— यद्यपि अग्रगामी राजनीतिक विचार पर अफलातून के प्रभाव का उल्लेख पूर्वोक्त विवेचन में हम यत्र तत्र करते रहे हैं तथापि यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका व्यवस्थित रूप से अलग विवेचन करना अनावश्यक न होगा।

स्मरण रहे कि अफलातून के राजनीतिक विचार को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है और वह अधिकतर दो सम्वादों में पाया जाता है। 'रिपब्लिक' में अफलातून का आधार विन्दु यह है कि शासन एक विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है। इसीलिए वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक दार्शनिक राजा की ज्ञानपूर्ण निरंकुशता शासन का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वश्रेष्ठ रूप है। -और इसी कारण से आदर्श राज्य में वह कानून, जनमत तथा जनता की इच्छा की पूर्ण अवहेलना करता है। एक आदर्श शासक को इन सब की क्या आवश्यकता। जहाँ तक इन मौलिक धारणाओं तथा साम्यवाद के सिद्धान्त का सम्वन्ध है 'रिपब्लिक' का आने वाले राजनीतिक विचारकों पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। यदि अफलातून के सिद्धान्त के सबसे अधिक निकट कोई चीज़ है तो वह है हीगल (Hegel) द्वारा राजतन्त्र की प्रशंसा तथा विशिष्ट व्यक्तियों (Elite) द्वारा शासन का फासिस्टवादी सिद्धान्त। 'रिपब्लिक' का अरस्तु के ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा जिसने दार्शनिक राजा तथा पत्नियों के साम्यवाद के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' को प्रेरणा 'स्टेट्समैन' से, विशेषकर 'लॉज़' से मिली है, 'रिपब्लिक' से नहीं। अरस्तु ने 'रिपब्लिक' के आदर्श को ठुकरा दिया क्योंकि वह नगर राज्य के स्वतन्त्र नागरिकता के ऊपर आधारित राजनीतिक धर्म की पूर्ण अवहेलना थी। उस पर तथा उससे पीछे होने वाले अन्य विचारकों पर 'लॉज़' का प्रभाव कहीं अधिक पड़ा क्योंकि वह अधिक यथार्थवादी ग्रंथ है और यूनान के सांविधानिक शासन तथा नीति निर्धारण में नागरिकों के स्वतन्त्र भाग के आदर्श के कहीं अधिक निकट है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, 'लॉज़' में न केवल कानून को फिर से प्रतिष्ठित कर दिया गया है वल्कि राज्य की सुरक्षा तथा स्थिरता के लिए सर्वोत्तम साधन के रूप में मिश्रित संविधान का भी उसमें प्रतिपादन किया गया है।

यह बात कि 'लॉज़' का अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' पर वड़ा भारी प्रभाव पड़ा है इन

---

also suggested the principle of balance of a mutual adjustment of claims and interests– as the proper means for forming a constitutional state .... It was from these beginnings in the Laws that Aristotle started. Without abandoning the general principles stated in the Republic .... he adopted almost in every case the hints thrown out in the Laws, enriching them with more painstaking and more extensive examinations of the empirical and historical evidence."

—Sabine: *op. ct.*, page 86.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो महान् ग्रन्थों में पाये जाने वाले कई समानान्तरों से भली प्रकार सिद्ध हो जाती है। क़ानून की सम्प्रभुता की धारणा की जो कि 'लॉज़' में आधारभूत है, अरस्तु ने अपनी 'पॉलिटिक्स' में पुनरावृत्ति की है। सच्ची अफलातूनी भावना के साथ अरस्तु शासकों को क़ानून के अभिभावक और उसके नौकर कह कर पुकारता है। जब अरस्तु यह कहता है कि राज्य से बाहर एक मनुष्य या तो एक देवता है, या एक पशु, तो वह 'लॉज़' में अफलातून द्वारा व्यक्त विचारों की ही गूंज प्रतीत होती है। राज्य के परिवार से विकसित होने का जो विवरण अरस्तु ने दिया है वह 'लॉज़' में अफलातून के विचारों के बहुत निकट है। अरस्तु ने युद्ध को स्वयं में एक साध्य बनाने की, जैसा कि स्पार्टा में होता था, नीति की जो भर्त्सना की है उसका मूल भी हम 'लॉज़' में अफलातून की तद्विषयक शिक्षाओं में देख सकते हैं। अरस्तु के मिश्रित संविधान के सिद्धान्त का स्रोत भी वही समझा जा सकता है। और यदि हम अरस्तु द्वारा अंकित आदर्श राज्य की मुख्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि वे 'लॉज़' में अफलातून द्वारा चित्रित उपादर्श (Sub-ideal) राज्य की विशेषताओं से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। इसी कारण कुछ लोग कह देते हैं कि अफलातून का उपादर्श अरस्तु का आदर्श है। प्रो० बार्कर ने ऐसी बहुत सी बातों का उल्लेख किया है जिनमें कि हम अफलातून के 'लॉज़' और अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' में साम्य खोज सकते हैं।*

यद्यपि अरस्तु तथा प्राचीन संसार के राजनीतिक विचार की रूपरेखा निर्धारित करने में 'रिपब्लिक' की अपेक्षा 'लॉज़' का अधिक प्रभाव पड़ा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'रिपब्लिक' बिल्कुल ही निष्फल रही। "यह सच है कि लगभग एक हजार वर्ष तक संसार इस ग्रन्थ को भूला रहा, पुनरुत्थान के युग में जाकर इसकी फिर खोज हुई; किन्तु इसका प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। इसके सिद्धान्त और मध्ययुग के सिद्धान्त तथा व्यवहार में बहुत सी बातें समानान्तर हैं। 'रिपब्लिक' का साम्यवाद बहुत कुछ मठ प्रणाली के साम्यवाद से मिलता जुलता है जिसके अन्तर्गत कृषक वर्ग अपनी उत्पत्ति का एक भाग उन साधुओं के उपभोग के लिए देता था जो अपनी प्रार्थना द्वारा उनकी रक्षा करते थे; चर्च के नियमों का यह एक भाग था और सम्पत्ति सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्त को प्रभावित करता था। ········· अफलातून के सिद्धान्त तथा मध्यकाल के व्यवहार में इससे भी गहरा सम्बन्ध उस साम्य में है जो अफलातून के सम्पूर्ण आदर्श राज्य तथा मध्यकालीन चर्च में पाया जाता है। संघटन तथा कार्य इन दोनों का एक जैसा है और बहुत से बिन्दुओं पर ये एक दूसरे को छूते तथा एक दूसरे से मिलते हैं। जिस प्रकार अफलातून 'रिपब्लिक' के राज्य को तीन वर्गों में विभक्त करके दार्शनिक राजाओं के सर्वोच्च वर्ग को शासन सत्ता सौंप देता है उसी प्रकार मध्ययुगीन चर्च के घटक भी

* विस्तृत अध्ययन के लिए बार्कर के ग्रन्थ 'Plato and His Predecessors' को पृष्ठ ३८०–८२ पर देखिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्लेरीसी (Clerici), रेगुलर्स (Regulares) तथा लेसी (Laici) नामक तीन वर्गों में विभक्त थे और पहिले वर्ग के हाथ में, विशेषकर पोप के हाथ में, दूसरे वर्गों को नियन्त्रित करने की पूर्ण शक्ति थी। जिस प्रकार अफलातून यह चाहता था कि दार्शनिक राजा को परम शुभ के आदर्श के अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर शासन करना चाहिये उसी प्रकार मध्ययुगीन चर्च भी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अपने घटकों की प्रत्येक क्रिया— युद्ध; अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध; उद्योग तथा वाणिज्य; साहित्य तथा शिक्षा को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता था।"* इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मध्यकालीन चर्च ने अफलातून से ही उपरोक्त बातें उधार ली हैं; बार्कर ने तो इन दोनों में केवल एक समानान्तर दिखाने की चेष्टा की है।

यद्यपि 'रिपब्लिक' का पुनर्जन्म पुनरुत्थान के युग में हुआ और यद्यपि सर टॉमस मोर की 'कल्पना' (Utopia) में इसका उल्लेख यत्र तत्र मिलता है तो भी पश्चिम के राजनीतिक विचार पर उसका गहरा तथा मंथक प्रभाव केवल तब से पड़ना आरम्भ हुआ जबकि रूसो उसकी ओर आकृष्ट हुआ। रूसो सबसे पहिला आधुनिक विचारक है जिसने 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का विचार किया कि राज्य अपने सदस्यों के क़ानूनी अधिकारों की रक्षा करने के लिये बना हुआ एक क़ानूनी समुदाय नहीं है बल्कि एक नैतिक समुदाय है जिसके सामान्य जीवन में भाग लेकर मनुष्य अपने नैतिक व्यक्तित्व की अनुभूति कर सकता है। उसने अफलातून के इस विचार का भी समर्थन किया कि राज्य मुख्य रूप से एक शिक्षात्मक संस्था है। आगे चल कर हीगल के विचार पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन में ग्रीन, बोसान्के (Bosanquet) तथा अन्य आदर्शवादियों के विचारों के निर्माण में इसका बड़ा हाथ रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी ब्रिटिश विद्यार्थी अफलातून (तथा अरस्तु) से यह सीखते रहे हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है, राज्य के द्वारा ही मनुष्य पुण्य की प्राप्ति करता है, क़ानून विशुद्ध बुद्धि की अभिव्यंजना है और सच्चा धर्म अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में निहित है। 'रिपब्लिक' के सिद्धान्त देश और काल से परे हैं। इसीलिये हमें आज भी उनसे प्रेरणा मिलती है।

———

* Barker: *Ibid*, page 586–87.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ६

अरस्तु— राजनीतिक आदर्श

परिचयात्मक— गत अध्ययन के अन्त में आप देख चुके हैं कि अफलातून के राजनीतिक दर्शन का मुख्य दोष यह है कि वह ऐसे दो भागों में विभाजित है जिन में कोई सामंजस्य स्थापित करना प्रायः असम्भव है। 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित आदर्श राज्य में एक दार्शनिक राजा राज्य करता है जिसे लिखित कानून और जनता की रज़ामन्दी की कोई आवश्यकता नहीं है। 'लॉज़' में अंकित उपादर्श राज्य में अफलातून कानून को फिर से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है और जनमत को एक स्थान देता है। उसका यह प्रयत्न आंशिक रूप से सफल भी हुआ है; किन्तु यथार्थ और आदर्श की यह संधि दिल खोल कर नहीं की। आदर्श से हटने में उसे मानसिक वेदना होती थी। राज्य में कानून को उचित स्थान देने के लिए उस मनोविज्ञान और सिद्धान्त पर जो कि 'रिपब्लिक' के आधार हैं, पूर्ण रूप से पुनर्विचार करना आवश्यक था। अफलातून ऐसा न कर सका। इसका श्रेय उसके महान् शिष्य अरस्तु को है। अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में उसने राज्य में न केवल कानून को अपने उचित स्थान पर आसीन कर दिया है बल्कि राज्य के वास्तविक प्रशासन में अनुभव और रीति रिवाज के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। इस तथा अगले अध्याय में हम 'पॉलिटिक्स' में सन्निहित अरस्तु के राजनीतिक दर्शन का एक संक्षिप्त विवरण देंगे।

अरस्तु का जीवन— अरस्तु के राजनीतिक दर्शन को तथा उसके और अफलातून में पाये जाने वाले अन्तर को अच्छी तरह से समझाने के लिये इस दार्शनिक के जीवन तथा उसकी रचनाओं की पृष्ठभूमि पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक होगा।

अरस्तु ऐथन्स का जन्मजात नागरिक नहीं था। उसका जन्म ३८४ ई० पू० में मकदूनिया के तट पर स्टेगीरा नामक स्थान में हुआ था जहाँ कि उसका पिता शाही हकीम था। स्टेगीरा की परम्परागत संस्कृति यूनान विशेष की संस्कृति से भिन्न थी। मकदूनिया में राजतन्त्र था और नगर राज्य न थे। इसलिए वहाँ के निवासियों को सच्चा हैलन (Hellenes) नहीं समझा जाता था। उसकी संस्कृति वैज्ञानिक थी। हो सकता है कि अरस्तु की भौतिक विज्ञान में रुचि का कारण स्टेगीरा में उसके प्रारम्भिक जीवन का वातावरण ही हो और विश्व को जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से देखने की उसकी प्रवृत्ति अपने वैद्य पूर्वजों से उसे विरासत में मिली हो।

१८ वर्ष की अवस्था में वह ऐथन्स में आया, ऐकाडेमी में भरती हुआ और ३४७ ई० पू० में अफलातून की मृत्यु तक २० वर्ष तक वहीं रहा। हम यह कह सकते हैं कि ऐकाडेमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसे दर्शन शास्त्र का प्रेम खींच कर नहीं लाया ; वह वहाँ इसलिये आया था क्योंकि वहाँ यूनान की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा दी जाती थी। वह उस अवस्था में जब कि मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय पर वाह्य संस्कार सबसे अधिक पड़ सकते हैं, यूनान के सबसे गहरे विचारक के निकट सम्पर्क में आया और उस के जीवन पर अफलातून के दर्शनशास्त्र का सब से गहरा प्रभाव पड़ा। ऐथन्स छोड़ने के बाद अरस्तु 'एशिया माइनर' में गया जहाँ वह दो राजाओं के दरबार में ठहरा, जिनमें से हर्मीज़ (Hermeas) एक था, जिसके दरबार में उसे ईरान का पतनोन्मुख निरंकुशवाद देखने का अवसर प्राप्त हुआ और जिसका उल्लेख उसने अपनी 'पॉलिटिक्स' में किया है। मिटीलीन में उसने अपना समय उस द्वीप के पशुओं का अध्ययन करने में लगाया और उस विषय पर उसने उपयोगी सामग्री एकत्रित कर ली। ३४२ ई० पू० में उसे मकदूनिया बुलाया गया जहाँ वह सिकन्दर का शिक्षक बना। हो सकता है कि राजतन्त्र तथा आततायीतन्त्र के बारे में उसकी धारणायें उसके मकदूनिया में रहने का ही परिणाम हों। ऐथन्स में वह ३३५--४ ई० पू० में वापिस आया और वहाँ एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में जम गया और अपना एक निजी शिक्षालय स्थापित कर दिया जो 'लीसियम' (Lyceum) के नाम से विख्यात हुआ। वह १२ वर्षों तक उसका प्रधान रहा और इस बीच में सिकन्दर की सहायता उसे मिलती रही। ३२२ ई० पू० में सिकन्दर के मरने के बाद जब मकदूनिया विरोधी दल को ऐथन्स में शासन सत्ता प्राप्त हुई तो अपने आप को सुकरात वाली स्थिति से बचाने के लिये वह कैलसिस (Chalcis) को भाग गया क्योंकि धर्म के प्रति अविश्वास का अपराध उस पर लगाय जा चुका था। उसी वर्ष वह मर गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु के ६२ वर्ष के जीवन काल में यूनान के इतिहास का एक अत्यन्त फैस्लेकुन और संकटपूर्ण काल निहित है। उसका जीवन और लेखन काल वह है जब कि यूनान के नगर राज्यों का वैभव बीत चुका था और मकदूनिया के राजा फिलिप ने उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया था। परन्तु अपने समय के अधःपतन पर आँसू बहाने तथा उसका कृतियों में एक सीमा तक राजनीतिक भाग्यवाद प्रगट होने के अतिरिक्त उसके विचार पर उसके समकालीन संसार की ऐतिहासिक घटनाओं का कोई विशेष प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई नहीं देता। फ़ॉस्टर कहता है : 'उस पर अपने समय की हलचलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ; वह समकालीन घटनाओं से बिल्कुल विरक्त रहा। (कम से कम अपनी राजनीतिक कृतियों में) उसने यूनान के उस प्राचीन युग की भावना को अभिव्यक्त किया है जो उसके जन्म लेने से पहिले ही बीत चुका था।'*

* 'He is unaffected by the movements of his own time, and detached from contemporary happening. The spirit which he expresses (at least in his political works) is that of the classical age of Greece which was past before he was born.' —Foster: *op. ct.*, page 122.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि अरस्तु का जन्म स्टेगीरा में हुआ और वहीं उसका पालन पोषण हुआ तो भी वह अपने पूर्वगामी अफलातून की भांति नगरराज्य का ही सिद्धांतवेत्ता था। परन्तु अफलातून की भांति कल्पना और पुराण कथाओं का सहारा उसने नहीं लिया है; उसने तथ्यों की अवहेलना कभी नहीं की। फ़ॉस्टर के शब्दों में, अरस्तु शुद्ध सिद्धान्तवादी था जैसा कि अफलातून कभी नहीं था।

अरस्तु तथा अफलातून का सम्बन्ध— अरस्तु तथा अफलातून में कुछ ऐसे जबर्दस्त और स्पष्ट अन्तर हैं कि जिन्हें देखकर कुछ लोग कह उठते हैं कि प्रत्येक विचारक व्यक्ति या तो अफलातूनवादी होता है या अरस्तुवादी। इसका मतलब साफ तौर से यह है कि ये दोनों महान् विचारक ऐसी दो विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और विपरीत हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अरस्तु ने जगह जगह अपने गुरु की आलोचना की है और उससे अभिन्नता की अपेक्षा विभिन्नता पर ही अधिक जोर दिया है, किन्तु विभिन्नताओं को देखकर हमें अभिन्नता को नहीं भुला देना चाहिये और न उसका महत्व ही कम करना चाहिये। हम फ़ॉस्टर की इस बात का पूर्ण समर्थन किये बिना नहीं रह सकते कि अरस्तु सबसे बड़ा अफलातूनवादी है और "अफलातूनवाद का जितना गहरा प्रभाव उसके ऊपर पड़ा है उतना उसके अतिरिक्त शायद किसी भी दूसरे विचारक पर किसी दूसरे के विचार का नहीं पड़ा।" और यदि वह अफलातूनवाद से इतना अधिक ओत प्रोत है तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? आखिर वह २० वर्ष तक अफलातून की अकाडेमी में रहा और उसके निकट सम्पर्क में आया। क्या यह सब कुछ व्यर्थ ही जाता? उसे अफलातून के उत्तराधिकारी के रूप में अकाडेमी का अध्यक्ष बनने की आशा थी; उसने उसे केवल तभी छोड़ा जबकि स्पेसीपस (Speusippus) को उसका निर्देशक नियुक्त कर दिया गया। होमर (Homer) से लेकर सुकरात तक की समस्त राजनीतिक विचार तथा नैतिक और शिक्षात्मक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि उन दोनों की एक सामान्य विरासत थी। इससे भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनमें बहुत सी बातें अवश्य ही सामान्य होनी चाहियें। वे दोनों "यूनान के राजनीतिक जीवन की अस्थिरता तथा अपने मतानुसार उसके मूलकारण नैतिक अव्यवस्था को भय की दृष्टि से देखते थे; और दोनों के विचारानुसार उसका इलाज एक श्रेष्ठ जीवन की शिक्षा में निहित है। दोनों का ही यह विश्वास था कि एक सुखी जीवन केवल एक छोटे आकार के नगर राज्य में ही व्यतीत किया जा सकता है और उसकी प्राप्ति सब लोग नहीं कर सकते; बल्कि केवल वे ही लोग कर सकते हैं जिनके पास ऐसा करने के काफी साधन हैं और शिक्षा है। इसलिये दोनों ही नागरिकता को सीमित करना चाहते थे और दोनों ही यह उचित समझते थे कि सारा शारीरिक श्रम केवल दासों तथा अनागरिकों द्वारा किया जाना चाहिये।"*

---

* Sinclair : *A History of Greek Political Thought*, page 209.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद तथा दार्शनिक राजा की धारणा, जिनकी अरस्तु ने कटु आलोचना की है, अफलातूनवाद का प्रधान तत्त्व नहीं है। तत्त्व की बात तो उसका यह विश्वास है कि एक मनुष्य के योग्य जीवन धर्म का जीवन है और व्यक्ति इसकी प्राप्ति राज्य में रहकर और उसका सदस्य रहते हुए ही कर सकता है। अरस्तु इस धारणा से पूर्ण रूप से सहमत है। वे दोनों ही इस विषय में 'सोफिस्ट्स' के विरोधी हैं और यह मानते हैं कि राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ और जीवन को सुखी बनाने के लिए वह जीवित है। यही वह बात है जो अरस्तु को एक सच्चा अफलातूनवादी बनाती है। अपने गुरु की भाँति अरस्तु भी राज्य को एक नैतिक तथा आध्यात्मिक इकाई समझता है। और यह मानता है कि आचार शास्त्र तथा राजनीति दोनों मिलकर एक और अविभाज्य विज्ञान का निर्माण होता है। दोनों ही नगर राज्य की समस्याओं को नैतिक दृष्टिकोण से देखते हैं; दोनों ही के राजनीतिक विचार का स्वरूप नैतिक है। दोनों ही राजनीति के व्यवहारिक पहलू पर जोर देते हैं। अफलातून की 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज़' की तरह ही अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' भी एक राजनीतिज्ञ के लिए एक शिक्षा पत्रिका का काम दे सकती है। अरस्तु का यह विश्वास कि उसके समय की सब से बड़ी आवश्यकता शासकों की उचित शिक्षा थी इस बात का प्रमाण है कि वह एक सच्चा अफलातून-भक्त था। शायद उसका यही विश्वास उसे मक़दूनिया के दरबार में ले गया जहाँ कि उसने सिकन्दर सरीखे महान् राजा को अपने महान् गुरु के सिद्धान्तों की शिक्षा देने का अवसर देखा। परन्तु किसी भी प्रकार के राजनीतिक आदर्श के पनपने के लिये उसे मक़दूनिया के राजदरबार में एक उपयुक्त वातावरण नहीं मिला। अंतिम बात यह है कि अरस्तु की सर्वतोमुखी प्रतिभा और समस्त ज्ञान को अपने अधिकार क्षेत्र में रखने की भावना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह एकाडेमी का एक सच्चा शिशु था।

परन्तु यद्यपि अरस्तु एक सच्चा अफलातूनवादी था और अफलातून की गहरी और अमिट छाप उस पर पड़ी थी; किन्तु वह उसका अन्धा भक्त नहीं था। वह अपने गुरु की किसी भी बात को बिना सोचे विचारे स्वीकार करने वाला न था। उसकी प्रखर और तर्कप्रधान बुद्धि उसे हरगिज ऐसा करने की इजाज़त न देती। उसने अपने शिक्षक की शिक्षाओं को अपने विचारों का आधार अवश्य बनाया परन्तु उनका विकास और उनके अंतिम रूप का निर्धारण उसके प्रारंभिक जीवन के जीवशास्त्र के अध्ययन तथा उसकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा ही हुआ। अफलातून इन्द्रियपरक जगत को मिथ्या समझ कर उसकी अवहेलना करता था किन्तु अरस्तु को यथार्थ से प्रेम था; वह तथ्यों का संग्रह करके उनका विश्लेषण करता था; वह उनको सबसे अधिक महत्त्व देता था। अफलातून के अपने विचार के विकास में पौराणिक कथाओं तथा काव्य का बहुत बड़ा भाग है; बौद्धिक व्याख्याओं की जगह उसने काव्यात्मक रूपकों से अधिक काम लिया है। अरस्तु की तर्क-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान और वैज्ञानिक मनोवृत्ति को उससे कोई सहानुभूति नहीं हो सकती थी। वह सुनिश्चित और वैज्ञानिक ज्ञान का प्यासा था। अपने तथ्य-प्रेम तथा वैज्ञानिक भावना के कारण उसने 'रिपब्लिक' में निरूपित आदर्श राज्य की घोर निन्दा की क्योंकि यथार्थ जगत में उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती थी और इसी लिये उसका अपना आदर्श राज्य 'लॉज़' के उपादर्श राज्य के इतना निकट है। इसी व्यवहार-प्रधान दृष्टिकोण के कारण अरस्तु के हाथों में आकर राजनीति विज्ञान का एक बृहत्तर स्वरूप हमारे सामने आया। इसका उल्लेख अन्यत्र किया जायेगा। सारांश यह कि यद्यपि अफलातून और अरस्तु का ध्येय एक ही है जो कि एक ऐसे ज्ञान का सम्पादन करता है जिस पर कि राजनीतिज्ञ आगे बढ़ सकते हैं, किन्तु उनकी पद्धतियाँ भिन्न हैं। अफ़लातून के चिंतन का स्वरूप कल्प-विकल्पात्मक था; उसकी धारणा थी कि ज्ञान 'अमूर्त्त विचारों को प्रतिबिम्बित करता है'; जब कि अरस्तु ने अपनी विचार प्रणाली को तथ्यों के पर्यवेक्षण और विश्लेषण पर आधारित किया। मैक्सी का यह कहना ठीक ही है कि अरस्तु प्रथम वैज्ञानिक था। वैज्ञानिक रुचि उसके राजनीतिक विचार पर आच्छादित है।

इस वृत्ति भेद तथा प्रारंभिक वैज्ञानिक शिक्षा के अतिरिक्त अरस्तु अफलातून से एक और बात में भी भिन्न है। अरस्तु एक मध्यम वर्ग का पेशेवर आदमी था, वह एक गृहस्थी था, एक व्यवहारिक प्रशासक था। इसके विपरीत अफलातून एक अभिजात्य, रहस्यवादी तथा तपस्वी था। तभी तो अरस्तु में ऐसी अ-अफलातूनी बातें पाई जाती हैं जैसा कि गार्हस्थ्य जीवन का सम्मान, सम्पत्ति का महत्त्व और आवश्यकता, सुख और स्वास्थ्य की चाह, जनमत का आदर और सब से बढ़कर यथार्थ का प्रेम और उसका यह विश्वास कि राजनीति का सार हमारे यथार्थ जीवन को सर्वोत्तम बनाने में है।

इन दोनों महान् दार्शनिकों में एक अन्य अन्तर भी हमारे अध्ययन का पात्र है। उन दोनों की शैलियों में बड़ा भेद है। अफ़लातून एक सर्वोत्कृष्ट कलाकार था; उसका शब्द-प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। परन्तु अरस्तु शैली-सौंदर्य की कोई परवाह न करता था; वह शब्दों के केवल अर्थ पर ध्यान देता था। शब्द-चमत्कार और काव्यात्मक रूपकों के ऊपर उसने अपने विचारों और तर्कनाओं को बलिदान नहीं किया।

इस प्रसंग में अन्तिम बात यह है कि अरस्तु ने बुद्धि के केवल सैद्धान्तिक स्वरूप और व्यवहारिक प्रयोग में एक बुनियादी विभाजक रेखा खींची है जिसका अफ़लातून को कोई पता न था। यही वह भेद है जिसके कारण अरस्तु ने अफलातून के दार्शनिक राजा के सबसे अधिक मौलिक सिद्धान्त का घोर खण्डन किया।

अरस्तु ने विज्ञानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :— १. 'सैद्धान्तिक विज्ञान' जिसमें अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र सम्मिलित हैं। २. 'व्यवहारिक विज्ञान' जिसमें आचार शास्त्र तथा राजनीतिक शास्त्र जैसे सामाजिक शास्त्र शामिल हैं। ३. 'उत्पादक विज्ञान' जिसमें वास्तु कला, संगतराशी, चित्रकला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि शामिल हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक विज्ञान के भेद की विवेचना करना है। उत्पादक विज्ञान को हम छोड़े देते हैं।

अरस्तु के अनुसार मनुष्य अपनी विचार शक्ति का दो प्रकार से प्रयोग करता है जिससे दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के विज्ञानों का जन्म होता है। एक तो वह प्रकृति जगत को तथा बुद्धि की प्रक्रिया को समझने की चेष्टा करता है; दूसरे वह दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित तथा निर्देशित करना चाहता है। पहिले प्रयोग को हम सैद्धान्तिक तथा दूसरे को व्यवहारिक कह सकते हैं। विचार शक्ति के सैद्धांतिक प्रयोग द्वारा हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है जो आवश्यक और सर्वव्यापक है। इस प्रकार के ज्ञान का सबसे अच्छा उदाहरण गणित शास्त्र है और दूसरा है प्रकृति जगत्। इसलिये प्रकृति वैज्ञानिक ज्ञान का एक उचित विषय है। हम ऐसा ज्ञान प्रकृति के केवल उसी तत्व का प्राप्त कर सकते हैं जो अपरिवर्तनीय और सदा एकरस रहने वाला है। परन्तु मानव जगत का घटनाचक्र अधिकतर दैवयोग और स्थिति विशेष पर निर्भर करता है; उसमें अपरिवर्तनीयता और एकरसता का अधिक स्थान नहीं है; इसलिये इनके विषय में हम वैज्ञानिक अर्थात् आवश्यक तथा सर्वव्यापक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते; यहाँ तो हमें केवल सम्भावनाओं के जान लेने पर ही सन्तोष करना पड़ता है। बिशप बटलर के इस कथन से कि सम्भावना ही जीवन का निर्देशक है, अरस्तु पूर्ण रूप से सहमत हो सकता था। इसलिये आचार शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र जिनका विषय मनुष्य का सामाजिक चरित्र है, कभी भी सैद्धान्तिक विज्ञान नहीं हो सकते। अरस्तु ने उन्हें व्यवहारिक विज्ञान की श्रेणी में रक्खा है। वह उन्हें दो अलग अलग विज्ञान नहीं मानता, बल्कि एक ही विज्ञान के अभिन्न अंग मानता है। व्यवहारिक राजकला की मुख्य समस्या मानव चरित्र के अमूर्त सिद्धान्तों को समझ लेना नहीं है बल्कि यह जानना है कि स्थिति-विशेष में क्या करना सही और श्रेयस्कर है तथा दूसरों को किस प्रकार विनियमित तथा नियन्त्रित किया जाये। यह सब कुछ वैज्ञानिक ज्ञान का विषय नहीं बल्कि सम्भावनाओं को आंकने का प्रश्न है। केवल अनुभव, अभ्यास तथा नैतिक अनुशासन द्वारा ही इस कला में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, गणित या द्वन्द्ववाद के अध्ययन द्वारा नहीं जैसा कि अफलातून समझता था। इसलिए अरस्तु इस परिणाम पर पहुँचता है कि वैज्ञानिक ज्ञान जो कि एक दार्शनिक की विशेषता है किसी भी तरह शासन करने की कोई विशेष योग्यता प्रदान नहीं करता। राजनीति अथवा राज-कला एक व्यवहारिक विज्ञान है, उसका एक अपना लक्ष्य है और उसका विषय सैद्धांतिक शास्त्रों से भिन्न है; इसमें सिद्धहस्त होने के लिए मस्तिष्क के उन गुणों से काम नहीं चल सकता जिनके द्वारा निरपेक्ष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। एक राजनीतिज्ञ की पहिली योग्यता विशुद्ध ज्ञान नहीं वरन् व्यवहारिक बुद्धिमत्ता है जो शासन के अनुभव और अभ्यास से ही प्राप्त होती है। "अरस्तु का राजनीति के ऊपर अपना ग्रंथ ठीक इसी प्रकार की व्यवहारिक बुद्धि की कृति है। वह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासक के लिए एक निर्देशन पत्र है। ऐसा दिखाई पड़ता है मानों यूनानी राज्यों के सामूहिक राजनीतिक अनुभव का सार उसमें निहित है।"*

अरस्तु की पद्धति— सैद्धान्तिक और व्यवहारिक विज्ञान में किया हुआ अरस्तु का भेद और राजनीति को एक व्यवहारिक विज्ञान समझने की धारणा के स्वरूप 'राज्य' तथा उसकी समस्याओं का अध्ययन करने की उसकी पद्धति अफलातून की पद्धति से बहुत भिन्न होनी चाहिये। बात सचमुच ऐसी ही है।

आदर्श राज्य तथा उसके संस्थानों की रचना करने में अफलातून ने कल्पनाप्रधान पद्धति को अपनाया था। वह कुछ निश्चित मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को लेकर चला और जो भी परिणाम उनमें से निकले उन्हें उसने विना किसी हिचक और आशंका के स्वीकार किया। जैसाकि सैबाइन का कहना है, 'रिपब्लिक' का रोमांस एक स्वच्छन्द बुद्धि का रोमांस है जिस पर रीति रिवाज का कोई प्रतिबन्ध नहीं, जो मानव मूर्खता तथा अहंकार से बिल्कुल अक्षुण्ण है। अफलातून ने निहायत इतमिनान के साथ तथ्यों की अवहेलना की और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें तोड़ा मरोड़ा भी। यहाँ तक कि इतिहास का प्रयोग भी उसका अपना निराला है। अरस्तु की सबसे बड़ी शिकायत अफलातून के विरुद्ध यह है कि उसने इतिहास पर काफी ध्यान नहीं दिया और शासन योजनायें तय्यार करते समय मानव स्वभाव तथा भूतकाल में पाई जानेवाली सरकारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उसके बाल्यकाल की जीवशास्त्र की शिक्षा तथा उसके वैज्ञानिक अध्ययन ने अरस्तु में तथ्यों के प्रति एक बड़ा प्रेम उत्पन्न कर दिया था। वह बड़ी सावधानी तथा नियमित रूप से चीज़ों का पर्यवेक्षण करता था। अपने समकालीन तथा भूतकाल के राजनीतिक संस्थानों का उसे असाधारण ज्ञान प्राप्त था। कहा जाता है कि अपनी 'पॉलिटिक्स' की रचना करने से पहिले उसने लगभग दो सौ सविधानों का अध्ययन किया था। इस प्रकार उसके हाथ में आकर राजनीति शास्त्र अनुभवसिद्ध तथा निगमनात्मक (Inductive) हो उठा। बहुत से लेखकों का विचार है कि अरस्तु की ख्याति का मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति को अपनाया है। राजनीतिक विज्ञान को उसकी यह एक मुख्य देन है।

अरस्तु ने वैज्ञानिक पद्धति के लिए आवश्यक तथ्य संग्रह के महत्त्व पर ही बल नहीं दिया; उसने तथ्यों का मूल्यांकन भी राज्य के लक्ष्य के दृष्टिकोण से ही करने की चेष्टा की। उसके इस तथ्य-प्रेम ने ही उसे एक क्रांतिकारी होने से रोका; वह केवल

* 'Aristotle's own treatise on politics is a work of just such practical reason. It is a handbook for the statesman, containing the wisdom distilled, as it were, from the collective political experience of the Greek States.' —Foster: *op. ct.*, page 13.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सुधारक ही हो सकता था। जो व्यक्ति भूतकाल के संचित अनुभव और बुद्धिमत्ता का इतना अधिक सम्मान करता हो वह कभी एक क्रांतिकारी नहीं बन सकता। अरस्तु की सारी मानसिक प्रवृत्ति इस विश्वास की ओर झुकी हुई थी कि केवल वही आदर्श प्रभावकारक हो सकता है जो वस्तु स्थिति के विपरीत न हो। इसलिए सिद्धान्त तथा व्यवहार का संघर्ष अरस्तु के मार्ग में अफलातून की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन समस्यायें उत्पन्न करता था। अपने आदर्श और यथार्थ में सामंजस्य स्थापित करना उसे कठिन जान पड़ा, इसलिये उसने आदर्श राज्य की रचना का विचार ही छोड़ दिया। वास्तव में वह काम उसके स्वभाव के अनुकूल न था।

सारांश यह कि अरस्तु की पद्धति उसकी अनुभूति-प्रधान अथवा आगमनात्मक मनोवृत्ति, ऐतिहासिक प्रवृत्ति, परम्परा-प्रेम तथा जनमत का सम्मान करने की तत्परता से निर्धारित हुई। इस सब बातों में उसका अफ़लातून से गहरा भेद था। इन्होंने उसके विचारों को नरम बनाने में सहायता दी।

यह संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम अरस्तु के उस राजनीतिक दर्शन की विवेचना करेंगे जो कि 'पॉलिटिक्स' में संकलित है।

पॉलिटिक्स एक अपूर्ण कृति— दुर्भाग्य की बात है कि जो 'पॉलिटिक्स' आज हमें उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति है। वह प्राचीन राजनीति दर्शन का सबसे अधिक चक्कर में डालने वाला ग्रंथ है। इसके मूल्य के बारे में विद्वानों में सबसे अधिक मतभेद पाया जाता है। एक ओर डा० ज़ैलर (Zeeller) हैं जो इसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हैं और जिन के अनुसार हमारे पास यह सबसे बड़ा प्राचीन खजाना है और आज तक के राजनीतिक दर्शन के लिए सबसे बड़ी देन है। इसी प्रकार प्रो० बाउल का कहना है कि अपने विषय पर 'पॉलिटिक्स' सबसे अधिक प्रभावक और सबसे अधिक गहरा ग्रंथ है। यह वह ग्रंथ है जिसका गहरा अध्ययन सबसे पहिले किया जाना चाहिये। इसके विपरीत डा० टेलर (Taylor) का मत यह है कि इतने बड़े विषय का निरूपण जितना साधारण इस ग्रंथ में है उतना अरस्तु की किसी अन्य कृति में नहीं। 'पॉलिटिक्स' में इस उलझन का कारण यह है कि उसमें कहीं कहीं तो किसी विषय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे उसका विवेचन पहिले ही हो चुका हो जबकि पहिले उसकी ओर संकेत तक नहीं किया गया और कहीं कहीं उन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चल कर हुआ है। सारा ग्रंथ अव्यवस्थित विषय परिवर्तन से भरा पड़ा है। इन दोषों की सफाई यह दी जा सकती है कि वह पूर्ण ग्रंथ नहीं है और इसके वर्तमान रूप में अरस्तु शायद उसे प्रकाशित न कराना चाहता हो। 'पॉलिटिक्स' की इस अव्यवस्था के बारे में कतिपय अटकल लगाई जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यह उन नोटों का संग्रह मात्र है जो अरस्तु के व्याख्यानों में से उसके शिष्यों ने तैयार किये और सुरक्षित रख लिये। कुछ लोग कहते हैं कि ये नोट स्वयं अरस्तु ने ही अपने व्याख्यानों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये तैयार किये थे जिन्हें उसने बाद में एक ग्रन्थ के रूप में संकलित कर दिया। कुछ ऐसे भी हैं जिनका विश्वास यह है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तु ने नहीं बल्कि लेसियम में उसके शिष्यों ने की। इस विषय में सबसे अधिक संतोषप्रजनक विचार हमें यह दिखाई पड़ता है कि 'पॉलिटिक्स' के विभिन्न अनुच्छेद वे नोट हैं जो अरस्तु ने विभिन्न समय पर अपने व्याख्यानों के लिये तय्यार किये थे। हो सकता है उनमें से कुछ उसके अधिक विस्तृत ग्रंथों का भाग हों जो अब लुप्त हो गये हैं।

'पॉलिटिक्स' आठ पुस्तकों में विभाजित है। इन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, जिनका आपस में सम्बन्ध तो है परन्तु जिन में दृष्टिकोण और विषय के विवेचन में बड़ा भेद है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पुस्तकों का एक समूह है; ये वह आधार निर्माण करती हैं जिनके ऊपर एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र दो रचनायें तय्यार की गई हैं। इन में से एक रचना में आदर्श राज्य और उसके सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। यह सातवीं तथा आठवीं पुस्तकों में पाई जाती है। दूसरी रचना में संविधानों के स्वरूप, उनमें भेद तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों का वर्णन है। इन विषयों का विवेचन चौथी, पाँचवी तथा छटी पुस्तकों में किया गया है। कुछ समालोचक दूसरी, तीसरी, सातवीं तथा आठवीं पुस्तकों को एक समूह में और चौथी, पाँचवीं तथा छटी पुस्तकों को दूसरे समूह में रखते हैं और प्रथम पुस्तक को सम्पूर्ण ग्रंथ की एक सामान्य भूमिका समझते हैं। यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि 'पॉलिटिक्स' जिन पुस्तकों में विभक्त है उन्हें तीन समूहों में क्यों रक्खा जा सकता है।

जेगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' में हमें अरस्तु के राजनीतिक विचार के दो तल मिलते हैं और इसके विषय को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। पहिले भाग में आदर्श राज्य तथा प्रारंभिक सिद्धान्तों का अध्ययन और अफलातून की समालोचना सम्मिलित हैं। इस भाग में दूसरी, तीसरी, सातवीं तथा आठवीं पुस्तकें हैं। इनमें से अन्तिम दो पुस्तकों में अरस्तु ने आदर्श राज्य की रचना का प्रयास किया है; तीसरी पुस्तक में राज्य तथा नागरिकता के स्वरूप का अध्ययन है, यह मानों आदर्श राज्य की रचना की एक भूमिका है। दूसरी पुस्तक तीसरी, सातवीं तथा आठवीं पुस्तकों के लिये एक तय्यारी के रूप में है। उसकी यह एक विशेषता थी कि अपने विचारों को व्यक्त करने से पहिले वह अपने से पूर्व के विचारों और सिद्धान्तों का परीक्षण करता था और उनकी आलोचना द्वारा ही अपने विचारों को विकसित करता था। ऐसा लगता है कि दूसरी, तीसरी, सातवीं और आठवीं पुस्तकें अफलातून के मरने पर अरस्तु के ऐथन्स छोड़ने के कुछ बहुत दिन बाद नहीं लिखी गईं। सातवीं और आठवीं पुस्तक में अरस्तु के ऊपर अफलातून का जो प्रभाव झलकता है वह 'पॉलिटिक्स' के किसी दूसरे भाग में नहीं। यहाँ पर उसने अपने गुरु की इसी धारणा को अपनाया है कि राजनीतिक दर्शन का मुख्य कार्य एक आदर्श राज्य की रचना करना है और उसका आदर्श राज्य 'लॉज़' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपादर्श से अधिक भिन्न नहीं है। इस भाग में उसका प्रधान उद्देश्य नैतिक है, यहाँ राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों में सर्वोच्च धर्म का उदय करना है। कम से कम आदर्श राज्य में वह अच्छा मनुष्य बनना और अच्छा नागरिक होना एक ही बात समझता है।

चौथी, पाँचवीं और छटी पुस्तकें इनसे एकदम विपरीत हैं। इनमें राज्य के स्वरूप तथा आदर्श राज्य का निरूपण नहीं, बल्कि वास्तविक संविधानों, उनके भेदों और वर्गों का अध्ययन है। इनमें उसका ध्यान वर्गतंत्र, जनतंत्र तथा उनके उपविभाग, उनके पतन के कारण तथा उनको सुरक्षित रखने के साधनों में लगा हुआ है। दूसरी पुस्तकों की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति आदर्शवादी कम और व्यवहारिक अधिक है और उनमें विपुल ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। इस भाग में अरस्तु का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से अनुभव प्रधान है; नैतिक विचार एकदम पृष्ठभूमि में जा पड़े हैं। इन्हीं पुस्तकों में राजनीति तथा आचार शास्त्र में वियोग दिखलाई पड़ता है और आधुनिकतम रूप में प्रगट होता है। इन पुस्तकों में अरस्तु का वह राजनीतिक दर्शन है जिसकी उद्भावना उसने डेढ़ सौ से अधिक संविधानों का अध्ययन करने के बाद की थी। उन्हें मूल मसविदे (दूसरी, तीसरी, सातवीं तथा आठवीं पुस्तकें) के बीच में बढ़ा दिया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि मूल कृति जिसका प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से राज्य का स्वरूप और आदर्श राज्य की रचना था, बढ़ कर राजनीति विज्ञान पर एक समान्य ग्रन्थ बन गया जिसमें आदर्श और यथार्थ, दोनों प्रकार के राज्यों की विवेचना थी। प्रथम पुस्तक सम्पूर्ण कृति की एक सामान्य भूमिका है। कालान्तर में की गई वृद्धि को दृष्टि में रखते हुए अरस्तु को पहिले मसविदे को संशोधित करना चाहिये था, परन्तु उसने ऐसा कभी नहीं किया। फलतः विषय तथा उद्देश्य में एक दूसरे से भिन्न दो स्वतन्त्र भागों को एक में संयुक्त करने की इच्छा से विभ्रम उत्पन्न हो गया।

राजनीति का नया विज्ञान— इस प्रकार आदर्श की स्थापना तथा यथार्थ का विश्लेषण एक ही ग्रन्थ में कर अरस्तु ने एक नवीन राजनीति विज्ञान को जन्म दिया। उसके विषय में यहाँ दो शब्द कह देना आवश्यक मालूम होता है। इस नवीन विज्ञान का अर्थ यह है कि अरस्तु के लिये राजनीति विज्ञान का क्षेत्र केवल आदर्श राज्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये; उसे वास्तविक राज्यों का भी अध्ययन करना चाहिये। यथार्थ आदर्श से कितना भी दूर क्यों न हो उसकी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। राजनीतिक विज्ञान को अच्छे बुरे सभी प्रकार के राज्यों का शासन तथा संगठन करने की कला सिखानी चाहिये। अरस्तु ने तो अत्याचारी राज्यों को भी सुरक्षित रखने के साधनों पर विचार किया है। ज़ाहिर है कि वास्तविक राज्यों का वर्णन करने के लिये अरस्तु को कल्पना-प्रधान पद्धति को छोड़कर जोकि अफलातून की 'रिपब्लिक' की एक विशेषता थी; वर्णनात्मक पद्धति को अपनाना पड़ा। वर्गतंत्री, जनतंत्री और यहाँ तक कि आततायी भी अपने शासन को सुरक्षित रखने के लिये कैसी राजनीतिक व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनाये, इसके लिये सुझाव देने में एक राजनीतिक दार्शनिक को ऐसी भी बातें कहनी पड़ती हैं जो नीति से बिल्कुल स्वतन्त्र हों। इसीलिये चौथी, पाँचवीं और छटी पुस्तक में अरस्तु का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से अनुभव-प्रधान है और नैतिक विचारों की उस में अवहेलना की गई है। कहीं कहीं तो उसका निरूपण एक दम मैकाइवली (Machiavelli) से मिलता जुलता है। इसका यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि अरस्तु ने अफलातून की इस धारणा का परित्याग कर दिया कि राजनीतिक दर्शन राज्य की एक नैतिक व्याख्या है और राज्य-कला का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक जीवन में नैतिक ध्येय की प्राप्ति करना है। ये मूल आदर्श उसने अफलातून से लिए हैं; वह राज्य को सभ्य जीवन में एक साधन के रूप में देखता है और उस साधन के सच्चे अर्थ की खोज करना चाहता है। परन्तु वह अपने गुरु से एक क़दम आगे बढ़ता है और उसकी विचारधारा में आधारभूत परिवर्तन कर देता है। उसके राजनीति के नवीन और अधिक व्यापक विज्ञान में न केवल राज्य का नैतिक उद्‌देश्य शामिल है, वरन् उसमें 'उसके सामाजिक तथा राजनीतिक तत्त्वों, वास्तविक संविधानों, उनके सम्मिश्रण और तद्-जनित परिणामों का एक अनुभवगम्य अध्ययन भी शामिल है।'* निरपेक्ष तथा सापेक्ष राजनीतिक श्रेय तथा अच्छे बुरे सभी प्रकार के राजनीतिक ध्येय के लिए आवश्यक राजनीतिक यन्त्र का ज्ञान नवीन विज्ञान का एक भाग है। राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र को इतना विस्तृत करना इस विषय को अरस्तु की सबसे बड़ी देन है। अपने गुरु से वह कितना दूर चला गया, इसका प्रमाण इससे बढ़कर और कोई नहीं हो सकता।

राज्य, उसका स्वरूप, जन्म तथा लक्ष्य— 'पॉलिटिक्स' की पहिली पुस्तक में जो कि अरस्तु द्वारा प्रतिपादित राजनीति के नवीन विज्ञान की एक भूमिका सी है उस महान् दार्शनिक समस्या पर विचार किया गया है जिसके सुलझाने की चेष्टा अफलातून ने भी की थी। वह समस्या है: राज्य का स्वरूप, जन्म तथा लक्ष्य। अपने गुरु के सदृश उसका लक्ष्य भी 'सोफिस्ट्स' के इस सिद्धान्त का खण्डन करना है कि राज्य एक परम्पराजनित संस्था है और अपने सदस्यों की भक्ति पर उसका कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। इस धारणा के विपरीत वह यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है और उसका अपना निजी नैतिक मूल्य है; वह कोई ऊपर से थोपी हुई चीज़ नहीं है।

(१) राज्य एक स्वाभाविक समुदाय— अफलातून की तरह अरस्तु भी यह मानता है कि राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है। इसकी स्वाभाविकता का प्रमाण यह है कि इसका जन्म हुआ जीवन के लिये और एक सुखी जीवन के लिए यह जीवित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अरस्तु राज्य को स्वाभाविक इसलिए समझता है क्योंकि इससे अलग और बाहर रहकर मनुष्य अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता;

* Sabine: *A History of Political Theory*, page 115.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है और प्रकृति ने उसे राज्य के सदस्य के रूप में रहने के लिए ही बनाया है। उसका कहना है कि राज्य एक 'Knoinonia' है, एक समुदाय है, एक बन्धुत्व है, एक जाति (Community) है। राज्य उन लोगों का संघटन है जो एक दूसरे से भिन्न होते हुये भी कुछ सामान्य आवश्यकतायें रखते हैं और वस्तुओं तथा सेवाओं के परस्पर आदान प्रदान द्वारा उनकी पूर्ति करने के लिए प्रकृति उन्हें प्रेरित करती है। यह और 'रिपब्लिक' का यह सिद्धांत कि राज्य का आधार श्रमविभाग तथा सेवाओं का आदान प्रदान है मूलतः एक हैं। परन्तु अफलातून ने विभिन्न समुदायों और संघटनों में कोई भेद नहीं किया और न यह दिखाने की चेष्टा की कि राज्य तथा अन्य समुदायों में क्या भिन्नता है; अरस्तु ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि राज्य किस प्रकार का समुदाय है और परिवार तथा अन्य समुदायों से वह किस प्रकार भिन्न है। उसका कहना है कि राज्य एकांकी व्यक्तियों का समूह नहीं है बल्कि समुदायों का समुदाय है। व्यक्तियों से मिलकर परिवार तथा ग्राम जैसे छोटे समुदाय बनते हैं और इन छोटे समुदायों के मिलने से राज्य बन जाता है। इसके विपरीत अफलातून परिवार तथा अन्य समुदायों से घृणा करता था; वह उन्हें राज्य का प्रतिद्वन्द्वी समझकर उनका उन्मूलन करना चाहता था। अरस्तु अधिक यथार्थवादी है; वह परिवार और ग्राम को अक्षुण्ण रखता है। राज्य को वह सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए परिवारों तथा ग्रामों का एक संघटन बताता है। अफलातून तथा अरस्तु में यह एक बुनियादी अन्तर है। किन्तु जहाँ तक कि यह अपने साधनों से अपने घटकों की समस्त नैतिक तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है दोनों ही उसे शुभ जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं। यह अपने में पूर्ण, स्वपर्याप्त है।

राज्य भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि परिवार। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी क्रान्तिप्रिय क्यों न हो यह नहीं सोच सकता कि परिवार एक कृत्रिम मानवीय संस्था है जिसे बाहर से उसके ऊपर लादा गया है। वह मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है, इसलिए वह स्वाभाविक है। "इसलिये वह मानव विकास के मार्ग में बाधक नहीं बल्कि साधक है। यह एक घोंसले के सदृश है, पिंजरे के नहीं।"* यदि परिवार एक स्वाभाविक संस्था है और मानव के विकास के लिये आवश्यक है तो राज्य तो और भी अधिक स्वाभाविक और आवश्यक होना चाहिये क्योंकि वह परिवार का ही एक स्वाभाविक परिणाम है। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में आरम्भ होता है उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य में ही की जा सकती है। यदि परिवार और ग्राम उन सब सुविधाओं और साधनों को जुटा पाते जो मानव के विकास के लिए आवश्यक हैं तो और कोई समुदाय न बनता। परन्तु वे स्वपर्याप्त नहीं हैं; इसलिये अन्य समुदाय भी बनते हैं। अफलातून और अरस्तु

* "Therefore it does not thwart human growth but fosters it; it is like a nest, not like a cage." —Foster: *op. ct.*, page 128.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार इस ध्येय की पूर्ति केवल नगर राज्य में ही हो सकती है। इसलिये वे नगर राज्य को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप समझते हैं, जिस की ओर मनुष्य अपनी आन्तरिक वृत्ति के कारण खिंचता है जो कि उसे विभिन्न रूपों में ऊपर की ओर ले जाती है।

वह स्वपर्याप्तता, जो अफलातून और अरस्तु के अनुसार केवल राज्य में ही प्राप्त हो सकती है, क्या है? इस प्रश्न के ऊपर हमने दूसरे अध्याय में कुछ प्रकाश डाला था, यहाँ हम उस पर अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे। इसका अर्थ आर्थिक स्वपर्याप्तता नहीं है। एक ग्राम को आर्थिक रूप से स्वपर्याप्त-तथा आत्मनिर्भर तभी समझा जा सकता है जबकि हम अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त सीमित करके जीवन की केवल नग्नतम आवश्यकताओं पर सन्तोष करने को तय्यार हों। किन्तु यदि इस शब्द का हम व्यापक अर्थ लें तो एक परिवार और ग्राम, तथा नगर राज्य का तो कहना ही क्या; रूस अमेरिका, भारत जैसे महान् देश और ब्रिटिश जैसे महान् साम्राज्य भी स्वपर्याप्त नहीं हो सकते; उन्हें भी कुछ कच्चे माल तथा कल-कारखानों में बने सामान को दूसरे देशों से मंगाना पड़ता है। नगर राज्य को स्वपर्याप्त कहने से अफलातून और अरस्तु का अभिप्राय यह था कि नगर राज्य उन तमाम स्थितियों और वातावरण की पूर्ति करता है जो कि व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं। "समाज के ग्राम सरीखे निम्नतर रूप अपर्याप्त न केवल इसलिये हैं कि वे मनुष्य की समस्त इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, बल्कि इसलिये कि वे उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की भी समुचित रूप से पूर्ति नहीं कर सकते। इनकी पूर्ति तो केवल एक राजनीतिक समाज में, जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है, हो सकती है और मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया में ही हो सकता है जो आर्थिक क्रिया से भिन्न है।"*

राज्य स्वाभाविक किस प्रकार और क्यों है, यह जानना आवश्यक है। राज्य स्वाभाविक इसलिये है क्योंकि मनुष्य में अन्य मनुष्यों में मिलने की एक स्वाभाविक चाह होती है। किन्तु एक कालविशेष और देशविशेष में उसका रूपविशेष उसके सदस्यों के कार्यों के ऊपर निर्भर करता है। राज्य यद्यपि एक स्वाभाविक संस्था है, फिर भी मानव इच्छा से वह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। मानव प्रयत्न से ही यह कायम रहता है और मनुष्य की इच्छा के अनुसार इसका रूप निर्धारित होता है। वास्तव में अरस्तु कला और प्रकृति में कोई भेद नहीं देखता; मनुष्य अपने प्रयत्न से प्रकृति की सहायता भी कर सकता है और उसके मार्ग में बाधा भी डाल सकता है। काव्य का विकास प्राकृतिक रूप से हुआ; किन्तु मनुष्य ने उसे परवान चढ़ाया। इसी प्रकार राज्य के रूप में अपने आप को संघटित करने की इच्छा मनुष्य में प्रकृतिदत्त है; किन्तु

* Foster: *op. ct.*, page 129.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की आधारशिला रखने वाला सबसे पहिला मनुष्य मानव जाति का सबसे बड़ा हितैषी था। प्राकृतिक व्यापार में मनुष्य को हस्तक्षेप करने का अवसर इसलिये मिलता है क्योंकि प्रकृति में अपूर्णतायें हैं। इस प्रकार प्रकृति के दोष मनुष्य को अपनी प्रतिभा दिखाने का एक अवसर प्रदान करते हैं। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक संस्था है— ये दोनों कथन एक दूसरे में निहित हैं। राज्य मनुष्य का स्वाभाविक लक्ष्य है क्योंकि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, क्योंकि जो स्वभाव से ही राज्य के बाहर रहता है (किसी विवशतावश नहीं) वह या तो देवता है या पशु, वह या तो मानवता से ऊपर है या नीचे है, वह मानव नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी इसलिए है क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य राज्य है। जो चीज़ उसे एक राजनीतिक प्राणी बनाती है वह है उसकी भाषण शक्ति। अन्य पशु यूथचारी (Gregarious) हैं; किन्तु मनुष्य ही केवल राजनीतिक प्राणी है; केवल उसे ही भाषण शक्ति प्रदान की गई है। अपनी इसी शक्ति द्वारा वह शुभ व अशुभ तथा न्याय व अन्याय में भेद कर सकता है और एक शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए अन्य मनुष्यों से मिल जुल सकता है।

(२) **राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में**— अरस्तु के अनुसार राज्य समुदायों का समुदायमात्र नहीं है; वह सर्वोच्च समुदाय है। वह इसलिये सर्वोच है क्योंकि यह सब के ऊपर है और सब इसके अंक में लिपटे हुए हैं। यह इसलिये सर्वोच्च है क्योंकि इसका लक्ष्य सर्वोच है जो अपने नागरिकों के जीवन को शुभ बनाना है। प्रत्येक अन्य समुदाय का ध्येय किसी विशिष्ट तथा हीनतर शुभ की प्राप्ति करना है जबकि राज्य का ध्येय परम शुभ की प्राप्ति करना है। अरस्तु राज्य की परिभाषा उसके लक्ष्य के अनुसार करता है; उसका दृष्टिकोण लक्ष्य प्रधान है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं राज्य का उद्देश्य है मनुष्य की एक सुखी जीवन की इच्छा को तृप्त करना जो अन्य किसी साधन से पूर्ण रूप से तृप्त नहीं हो सकती। शुभ और सुखी जीवन के अन्तर्गत मनुष्य की नैतिक और बौद्धिक क्रियायें शामिल हैं; इन्हें तृप्त करने के लिये राज्य में अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र मिलता है; इसमें अधिक भिन्न भिन्न सम्बन्ध कायम होते हैं जिनमें धर्म की अभिव्यंजना की जा सकती है।

(३) **राज्य, विभिन्न अंगों वाला सम्पूर्ण**— हम पहिले ही कह चुके हैं कि राज्य एक सर्वोच समुदाय है और अन्य सभी मानवी समुदाय इसमें शामिल हैं। इस बात पर विचार करने पर अरस्तु के राज्य विषयक सिद्धान्त में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामने आता है। जिस प्रकार एक सम्पूर्ण में उसके समस्त अंग शामिल होते हैं और वह उनसे ऊपर होता है इसी प्रकार राज्य में अन्य समुदाय शामिल हैं और राज्य उनसे ऊपर है। मानव शरीर हड्डियों, मांस, तथा नसों का एक समूहमात्र नहीं है बल्कि इन सब तथा इन्हें एक जगह गुंथित करने वाले सिद्धान्त को मिलाकर ही मानव शरीर की संज्ञा दी जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है। उस सिद्धान्त के अभाव में शरीर के समस्त अंगों को मिलाकर भी एक शरीर न बन सकेगा और अंग भी अंग न रह जायेंगे। आँख तभी देख सकती हैं और हाथ तभी स्पर्श कर सकते हैं जबकि वे एक जैविक रूप से समस्त शरीर का अभिन्न अंग हों। इसी प्रकार से कोई गृहस्थ सच्चा गृहस्थ और कोई ग्राम सच्चा ग्राम नहीं रह सकता यदि वे किसी राज्य के सक्रिय सदस्य न हों। यही बात व्यक्तियों के ऊपर भी लागू होती है। राज्य का सदस्य रह कर ही व्यक्ति पूर्ण मनुष्य बन सकता है उससे अलग रह कर वह एक मूर्ख तथा सीमित प्राणी है, एक पशु है।

परिवार, ग्राम तथा अन्य मानव समुदाय राज्य की ओर ले जाने वाली सीढ़ियाँ हैं; राज्य में उनका अवसान हुए बिना वे पूर्ण नहीं हो सकते, उनकी अन्तर्निहित शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। इस प्रकार समय और स्वभाव क्रम से नहीं तो विचार क्रम से राज्य अन्य समुदायों का पूर्वाधार है। विचार क्रम से सम्पूर्ण सदा अपने अंगों के पहिले आता है; सम्पूर्ण की कल्पना ही उसके अंगों को महत्व प्रदान करती है। किन्तु काल क्रम से अंग सम्पूर्ण से पहिले आते हैं। अतः ऐतिहासिक रूप से तो परिवार, ग्राम इत्यादि राज्य से पहिले आते हैं, परन्तु तर्क की दृष्टि और विचार के क्रम से राज्य इनके पहिले आता है।

(४) **राज्य का जैविक स्वरूप**— अपनी लक्ष्यप्रधान मीमांसा (Teleology) के कारण अरस्तु इस परिणाम पर पहुँचता है कि राज्य का स्वरूप जैविक है; वह नाना प्रकार के अंगों से मिल कर बना हुआ एक सम्पूर्ण अथवा सम्मिश्रण है। व्यक्तियों और समुदायों का जो कुछ भी मूल्य या महत्व है वह सब राज्य की संजीवनी शक्ति के कारण है; राज्य के अभाव में ये सब जड़ हो जायेंगे और इनका विनाश हो जायेगा। राज्य की सदस्यता मनुष्य जीवन का लक्ष्य है; राज्य में रह कर और राज्य के द्वारा ही वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। यदि हम व्यक्ति और राज्य के इस परस्पर सम्बन्ध को ध्यान में न रखें तो हम मनुष्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों की सही धारणा नहीं बना सकते।

याद रहे कि अरस्तु राज्य को जीव नहीं समझता। हीगल तथा उसके अनुयाइयों की तरह वह यह नहीं कहता कि राज्य एक अति-प्राणी (Super-being) है जो अपने नागरिकों से ऊपर है और नागरिक जिसके पूर्ण रूप से अधीन हैं। नागरिकों की सुख वृद्धि तथा धर्मोन्नति के अतिरिक्त राज्य का और कोई उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार वह अराजकतावादी व्यक्तिवाद तथा निरंकुशवाद दोनों के दोषों से मुक्त है। राज्य मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है, किन्तु उसका अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं है।

(५) राज्य के स्वरूप की उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है कि अरस्तु राज्य को एक विकासशील चीज़ समझता है। इस बात में वह तथा राज्य के विकासवादी सिद्धान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधुनिक समर्थक एकमत हैं। परन्तु एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात में उसका उनसे मत-भेद है। उसके लिये नगर राज्य ही सब कुछ है ; वह उसको मानव समुदाय का अन्तिम तथा पूर्णतम रूप समझता है। अपने ही शिष्य, सिकन्दर महान् द्वारा स्थापित किये हुए विश्व साम्राज्य की ओर उसने आँख उठा कर भी नहीं देखा। उसके विचार में साम्राज्य की स्थापना मानव समाज की प्रगति का नहीं अवनति का सूचक है। इस बात में वह पूर्णतया अफलातूनवादी था।

(६) **राज्य के कार्य**— अरस्तु द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझाने के लिये यह जानना कि उसने राज्य को क्या क्या कार्य सौंपे हैं तथा उसका लॉक तथा ग्रीन जैसे आधुनिक लेखकों के विचारों से तुलना करना आवश्यक है। राज्य के कार्य उसकी राज्य की इस परिभाषा में ही निहित हैं कि "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक पूर्ण एवं स्वपर्याप्त संगठन है जिसके द्वारा हम एक सुखी एवं सम्मानपूर्ण जीवन की प्राप्ति करते हैं"। इनका आभास हमें उसके इस सुप्रसिद्ध वाक्य से भी मिल सकता है कि 'राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और एक सुखी एवं पूर्ण जीवन के लिए वह जीवित है।' लॉक तथा स्पेन्सर सरीखे आधुनिक व्यक्तिवादियों की भांति वह राज्य के कार्यों को अपने सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करने तथा न्याय प्रदान करने तक ही सीमित नहीं करता ; वह राज्य को अन्याय से बचाने के लिये एक संगठन मात्र नहीं मानता। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण विधेयात्मक (Positive) है। वह चाहता है कि राज्य को मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक कार्य करने चाहियें। मूलरूप से राज्य का कार्य मानव जीवन को नैतिक और धर्मसंगत बनाना है, उसे केवल पाप से रोकना नहीं। राज्य की माँग अपने नागरिकों से केवल यही नहीं है कि एक दूसरे के साथ पाप या दुष्टतापूर्ण व्यवहार न करें, बल्कि यह है कि वे पाप और दुष्टता का पूर्ण परित्याग कर दें। अरस्तु का कहना है कि वह समाज जो अपने सदस्यों की पापवृत्तियों को दबाने तक ही सीमित रहता है और उन्हें एक धर्मपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कोई शिक्षा नहीं देता वह एक सच्चा राज्य हर्गिज नहीं हो सकता। ग्रीन सरीखा आदर्शवादी भी राज्य के कार्यों का इतना व्यापक क्षेत्र नहीं मानता। उसके अनुसार राज्य के कार्यों का स्वरूप निषेधात्मक है। राज्य का कार्य सुखी जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है, मनुष्य को अच्छा बनाना नहीं। इस अन्तर का कारण अच्छे जीवन की परिभाषा में परिवर्त्तन हो जाना है जो कि ईसाइयत के प्रभाव से हुआ है। नैतिक जीवन का मनुष्य के अन्तःकरण से जितना गहरा सम्बन्ध हम आज समझते हैं उतना यूनानी लोग नहीं समझते थे। नैतिकता का आधार सद्वृत्ति है और राज्य किसी भी तरह से मनुष्य में सद्वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं कर सकता। हाँ, वह केवल उसके मार्ग में से बाधाओं को हटा कर नैतिक जीवन के लिये मार्ग प्रशस्त कर सकता है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है जिनमें नैतिक जीवन का विकास हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य अपने नागरिकों से यह तो कह सकता है कि वे चोरी न करें, डाका न डालें और किसी की हत्या न करें, किन्तु वह उन्हें कुविचारों और पापवृत्तियों को त्यागने के लिये विवश नहीं कर सकता। नैतिक जीवन के बारे में आधुनिक और यूनानी धारणाओं में जितने भी भेद हैं उन सब का उल्लेख करना तो यहाँ न सम्भव ही है और न आवश्यक ही। देखने की बात यह है कि आज के बड़े से बड़े समाजवादी और आदर्शवादी भी अफलातून और अरस्तु की इस बात का समर्थन नहीं करेंगे कि राज्य का कार्य मनुष्य को एक सच्चा और अच्छा व्यक्ति बनाना है। जो राज्य धर्म का पोषण नहीं करता वह सच्चा राज्य नहीं, केवल तथाकथित राज्य है। यह धारणा हमारे हिन्दू धर्म की परम्पराओं के कितना निकट है।

गार्हस्थ्य का स्वरूप— ऐतिहासिक रूप से परिवार राज्य का मूल है। इसलिये अरस्तु इस के स्वरूप और निर्मायक तत्त्वों का विश्लेषण करता है। इस विषय का निरूपण करते करते उसने बहुत से आधारभूत आर्थिक प्रश्नों के ऊपर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

इस सम्बन्ध में पहिली बात तो यह है कि परिवार तथा राज्य में केवल आकार का ही नहीं, बल्कि प्रकार का भी भेद है; अरस्तु ने अफलातून की इस धारणा को ठुकरा दिया है कि एक बड़ा परिवार तथा छोटा राज्य मूलतः एक ही चीज़ है और दोनों का शासन प्रबन्ध एक ही विज्ञान है। राज्य में केवल एक प्रकार का सम्बन्ध होता है और वह सम्बध है शासक और शासित का; परिवार में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, पति पत्नी का, दूसरा माता पिता तथा सन्तान का, और तीसरा स्वामी और दास का। राज्य के शासन का सम्बन्ध प्रत्येक नागरिक से एकसा ही होता है; किन्तु परिवार के प्रधान का सम्बन्ध पत्नी, सन्तान तथा दासों से भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। पति पत्नी तथा माता पिता और सन्तान के सम्बन्धों पर विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है और न ही यह दिखाना आवश्यक है कि शासक और शासित के सम्बन्ध से वे किस प्रकार भिन्न हैं; हाँ, स्वामी तथा दास के सम्बन्ध का तनिक विस्तृत अध्ययन करना वाँछनीय है।

दासप्रथा का स्वरूप तथा उसका औचित्य— परिवार के सम्बन्ध में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिस पर अरस्तु ने विचार किया है वह दासप्रथा का स्वरूप तथा उसका औचित्य है। वह कहता है कि परिवार को समुचित कार्य करने के लिये कुछ यन्त्रों की आवश्यकता है; वे यन्त्र चैतन्य भी हो सकते हैं और जड़ भी। दास चैतन्य और सम्पत्ति जड़ यन्त्र हैं।

अरस्तु ने दासप्रथा का समर्थन करते हुए एएटीफ़ोन तथा एलसीडेमास जैसे सोफिस्ट्स का विरोध किया जो कि इस प्रथा को अन्यायपूर्ण समझते थे क्योंकि इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार केवल परम्परा है, यह स्वाभाविक नहीं है। स्वामी का दास के ऊपर शासन प्रकृति के नियम के विरुद्ध है क्योंकि प्रकृति ने सब को बराबर बनाया है।

अरस्तु दासप्रथा का औचित्य इस सर्वव्यापी सिद्धान्त के द्वारा सिद्ध करना चाहता है कि जब कई अंग मिल कर एक सम्पूर्ण का निर्माण करते हैं तो सम्पूर्ण को सार्थक बनाने के लिये एक निकृष्ट अंग को श्रेष्ठ अंग के अधीन होना ही पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की रचना में आत्मा शरीर के ऊपर और बुद्धि इन्द्रियों के ऊपर शासन करती है। इसी प्रकार परिवार या राज्य सरीखे मानव समुदाय में उन बुद्धिमान् तथा धर्मशील व्यक्तियों को उन लोगों के ऊपर शासन करना चाहिये जिन में बुद्धि और गुण का या तो सर्वथा अभाव है या उनकी बहुत कमी है। पहिली प्रकार के लोग स्वभाव से ही स्वामी और दूसरी श्रेणी के लोग स्वभाव से ही दास होते हैं। प्रकृति ने जिन्हें स्वामी बनाया है उनमें बौद्धिक बल की और जिन्हें दास बनाया है उनमें शारीरिक बल की प्रधानता होती है। इन दोनों का सम्मिश्रण उस ध्येय की पूर्ति के लिये आवश्यक है जिसके लिये कि परिवार कायम है। वह ध्येय है गृहस्थ का बौद्धिक एवं नैतिक विकास। यदि उसे शारीरिक और क्षुद्र काम स्वयं करने पड़ें तो उसकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति कभी नहीं हो सकती। जिस प्रकार एक संगीतज्ञ बिना संगीत यन्त्रों के संगीत की निष्पत्ति नहीं कर सकता, इसी प्रकार एक गृहस्थ बिना दासों के सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इसलिये स्वामी के दृष्टिकोण से दासप्रथा उचित है क्योंकि उसे वह धर्म का पालन करने के लिए पर्याप्त अवकाश देती है।

दास के दृष्टिकोण से भी यह उतनी ही उचित है। जिन लोगों में धर्म का अभाव है और केवल शारीरिक बल है, वे बौद्धिक और नैतिक गुणों का लाभ तभी उठा सकते है जबकि वे ऐसे व्यक्ति के अधीन हों जिनमें ये गुण वर्त्तमान हों। एक व्यक्ति जो जन्म से ही दास है, अपने जीवन में कभी भी संयम का पालन नहीं कर सकता। यद्यपि वह अपनी तृष्णाओं को बुद्धि द्वारा विनियमित नहीं कर सकता क्योंकि उसमें विचार शक्ति ही नहीं हैं, किन्तु एक संयमी स्वामी के अधीन रहकर उसमें एक प्रकार का संयम आ सकता है क्योंकि उसमें इतनी बुद्धि तो है ही जिससे वह श्रेष्ठतर बुद्धि को समझ सके और उसके निर्देशन से लाभ उठा सके। इस प्रकार से दास के सामने श्रेष्ठ धर्म और निकृष्ट कर्म में से एक का चुनाव नहीं है बल्कि उसे तो धर्म या धर्म के सर्वथा अभाव में से एक चीज को चुनना है। सारांश यह कि दासप्रथा दास के लिये एक अच्छी चीज है क्योंकि यह उसे अपने स्वामी के धर्मशील जीवन में भाग लेने का अवसर देती है। पारिवारिक जीवन में बंध कर वह ऊँचा उठ जाता है।

अरस्तु द्वारा किये हुए दासप्रथा के समर्थन का मूल्यांकन करने के लिए एक और बात आवश्यक है। वह दास को कार्य का साधन बतलाता है उत्पादन का नहीं। उसके मतानुसार दासों को उत्पादन का साधन बनाना अर्थात् अपने अपने स्वामी के लिए धन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व शक्ति का उपार्जन करने के लिए प्रयोग करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। दासप्रथा का औचित्य इस बात में है कि उसके द्वारा स्वामियों को क्षुद्र तथा शारीरिक कार्य से निवृत्ति मिलती है जो एक अच्छे जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से एक घरेलू नौकर कार्य का यन्त्र है और किसी कारखाने का मजदूर उत्पादन का साधन है। पहिले का अपने धर्मपरायण स्वामी की संगति में रहने से कुछ नैतिक कल्याण होता है; दूसरे का नहीं। सारांश यह कि अरस्तु औद्योगिक दासप्रथा का समर्थन नहीं करता। उसकी दासप्रथा का औचित्य केवल एक बात में है और वह यह कि उससे धर्मपरायण और बुद्धि प्रधान व्यक्ति को बौद्धिक कार्य करने के लिये काफी अवकाश मिल जाता है और दास को अपने से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के संसर्ग में आने से कुछ न कुछ नैतिक लाभ प्राप्त होता है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि यूनानी जीवन की दासप्रथा एक बुनियादी संस्था थी; इसी से राजनीतिक वर्ग को आवश्यक समय मिलना सम्भव था।

दासप्रथा का सारा औचित्य एक बात के ऊपर आधारित है जो अरस्तु मानकर तो चलता है; किन्तु उसे सिद्ध नहीं करता। वह बात यह है कि मानव जाति को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है जिनमें से एक में धर्मपरायण जीवन व्यतीत करने की शक्ति है और दूसरे में नहीं है। इस प्रकार का वर्गीकरण करना उचित नहीं। यह कहना गलत है कि कोई व्यक्ति या व्यक्तिसमूह ऐसा है जिसमें धर्म भावना का विल्कुल अभाव है। ऐसा कहने का अर्थ तो यह हुआ कि ऐसे लोग केवल देखने में ही मनुष्य हैं, वास्तव में नहीं। हाँ इतना तो कहा जा सकता है कि किसी में यह भावना अधिक और किसी में कम होती है; किन्तु इतने से तो अरस्तु का काम नहीं चल सकता। दूसरी बात यह है कि यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि मनुष्यों को इस प्रकार के दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है तो एक बड़ी जबर्दस्त कठिनाई यह सामने आती है कि किसी व्यक्ति को किस वर्ग में रक्खा जाये, इस बात का निर्णय कैसे हो? अरस्तु ने इसकी कोई कसौटी नहीं रक्खी। वह केवल इतना कहता है कि युद्ध बन्दियों को दास बनाना उचित है यदि वे बर्बर हों तो, किन्तु यदि यूनानी हों तो नहीं। इस प्रकार वह उन लोगों की, जो कि उसके युग में दास समझे जाते थे, एक बहुत बड़ी संख्या को इस श्रेणी से अलग रखता है। यह उसके सिद्धान्त में उदार तत्त्व है।

अरस्तु दासप्रथा का समर्थन तो करता है किन्तु वह दासों के साथ मानवीय बर्ताव करना चाहता है। दासों के साथ किसी प्रकार की निर्दयता उसे सह्य नहीं। दासप्रथा का समर्थन वह नैतिक आधार पर करता है, आर्थिक पर नहीं।

यहाँ पर दो शब्द यदि अफलातून के दासप्रथा विषयक विचारों के बारे में कह दिये जायें तो अनुचित न होगा। 'रिपब्लिक' में अफलातून ने दासप्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया। उसने न तो इसका समर्थन किया और न खण्डन ही। ऐसा मालूम होता है कि उत्पादक वर्ग को दासों के रखने की अनुमति वह दे सकता यद्यपि उत्पादक वर्ग का कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक कार्य न था। इसलिये अरस्तु ने जिस आधार पर दासप्रथा का समर्थन किया है उस पर अफलातून नहीं कर सकता। 'लॉज़' में अफलातून ने अवश्य दासप्रथा को मान्यता दी है ; वहाँ उसने दासों के साथ उचित वर्ताव के लिये क़ानून भी बनाये हैं।

सम्पत्ति का स्वरूप तथा प्रयोग— अब हम अरस्तु के सम्पत्ति विषयक विचारों पर आते हैं जिसका गार्हस्थ्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। उसके अनुसार सम्पत्ति गार्हस्थ्य के लिये (या राज्य के लिये) आवश्यक जड़ वस्तुओं का संग्रह है। उसकी यह परिभाषा ही हमारी विवेचना का आधार होगी। इस परिभाषा से दो मुख्य परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि गार्हस्थ्य के जीवन तथा सुख के लिये सम्पत्ति आवश्यक और अपरिहार्य है। मैक्सी के शब्दों में सम्पत्ति 'जीवन सामग्री के रूप में मनुष्य को प्रकृति की देन है।' उसे भूख शान्त करने के लिए खाना चाहिये, रहने के लिए घर चाहिये और ऋतुओं की निर्दयता से बचने के लिए वस्त्र चाहियें। ये चीजें सम्पत्ति का मुख्य भाग हैं। सम्पत्ति संग्रह का भाव मनुष्य में प्रकृति-प्रदत्त है। दूसरी बात यह है कि सम्पत्ति की कुछ सीमायें हैं। प्रत्येक गार्हस्थ्य में उतनी ही सम्पत्ति होनी चाहिये जितनी उसके समुचित जीवनयापन के लिये आवश्यक हो। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का होना उतना ही बुरा है जितना कि आवश्यकता से कम होना। एक यन्त्र का आकार इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि उससे क्या काम होना है। 'अपना कार्य करने के लिये हथौड़ा भारी होना चाहिये; परन्तु हथौड़ा बनाने वाला उसे अधिक से अधिक भारी तो नहीं बनाना चाहेगा। जिस कार्य के लिये हथौड़े में वजन की आवश्यकता है वही कार्य उस वजन को सीमित भी कर देता है। एक अच्छा लुहार इस सीमा का पालन करेगा।'* सम्पत्ति को एक यन्त्र (Instrument) कह कर अरस्तु इस बात पर जोर देना चाहता है कि सच्ची सम्पत्ति सदा सीमित होनी चाहिए। अधिक से अधिक धन संचय करने की आधुनिक प्रवृत्ति की निस्सन्देह वह घोर भर्त्सना करता है।

सम्पत्ति के आकार की सीमायें क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह जानना आवश्यक है कि सम्पत्ति का उद्देश्य क्या है। अरस्तु के अनुसार यह उद्देश्य एक अच्छे अथवा नैतिक जीवन की प्राप्ति है। आतिथ्य, उदारता तथा मित्रता जैसे सद्गुणों को क्रियात्मक रूप देने के लिये सम्पत्ति आवश्यक है। हमें केवल उतना ही धन प्राप्त करना चाहिये जो एक नैतिक जीवन के लिये आवश्यक हो; उससे अधिक संग्रह करना एक अच्छे जीवन के मार्ग में सहायक न रहकर बाधक हो जाता है। यह वह पाठ है जिसे

---

* 'A hammer must be heavy in order to serve its purpose; but the object of the hammer-maker will not therefore be to make it as heavy as possible. The same function of the hammer which demands weight also sets a limit to the weight required; and the good hammer-maker will observe this limit.' —Foster : *op. ct.*, page 143.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य युग ने अरस्तु से सीखा था और जिसे हमने आज भुला दिया है। यदि हमें पूर्ण पतन से बचना है तो यह पाठ हमें फिर से सीखना चाहिये।

व्यापार से किस प्रकार सम्पत्ति कमाई जाती है और मुद्रा का उसमें क्या महत्त्व है, इसके बारे में अरस्तु ने जो कुछ कहा है उससे हमें इस बात का आभास मिलता है कि लोग धन के वास्तविक महत्व को भूल कर धन-संचय के पीछे क्यों इतने पागल हो उठते हैं। वस्तुओं का आदान प्रदान तो ठीक है और स्वाभाविक है; किन्तु मुद्रा के प्रयोग से मुनाफाखोरी का शैतान पैदा हुआ जो आज समस्त नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं को निगल जाना चाहता है। इसलिये धन संचय करने के एक साधन के रूप में व्यापार की अरस्तु निन्दा करता है, उसे अस्वाभाविक समझता है। उसके युग की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति ने भी उसकी ऐसी धारणा के निर्माण में योग दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के प्रयोग तथा धन संचय करने की तीव्र भावना के कारण मनुष्य यह भूल गया है कि मुद्रा केवल एक साधन है, साध्य नहीं। आज के संसार में उत्पादन का ध्येय उपभोग और प्रयोग नहीं बल्कि अधिक से अधिक लाभ कमाना है। एक समाजवादी या साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था कायम करने से यह प्रवृत्ति नष्ट नहीं हो जायेगी; इसका उन्मूलन करने के लिये मानवीय मूल्यों का फिर से मूल्यांकन करना होगा और ऐसा करने के लिये हमें जीवन के आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष पर जोर देना होगा। हमें अरस्तु की इस शिक्षा को फिर से वहन करना होगा कि धन का एक नैतिक उद्देश्य है और वही उसकी मर्यादा है। इस बात में अरस्तु तथा अफलातून एकमत हैं कि वित्तेषणा समस्त पापों की जड़ है और उत्पादन तथा वितरण के साधन नफाखोरी के हाथों में आने से राज्य का विनाश जितनी द्रुतगति से होता है उतना किसी दूसरे कारण से नहीं।

परन्तु आदर्श राज्य में सम्पत्ति की कैसी व्यवस्था हो? इस प्रश्न के उत्तर पर अफलातून तथा अरस्तु में गहरा मतभेद है। अरस्तु 'रिपब्लिक' में निरूपित अफलातून के सम्पत्ति के साम्यवाद की कटु आलोचना करता है। वह एक ऐसी प्रणाली को जिसमें कि सम्पत्ति का स्वामित्व तथा उपभोग सामान्य हो दोषयुक्त समझता है और एक ऐसी प्रणाली का सुझाव रखता है जिसमें सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तिगत हो, किन्तु उपभोग सामान्य हो। आर्थिक और नैतिक आधार पर वह सम्पत्ति के साम्यवाद की निन्दा करता है; किन्तु उसके लिये अधिक महत्त्वपूर्ण नैतिक आधार ही है। आर्थिक आधार का सार यह है: जिस सम्पत्ति के सब स्वामी होते हैं उसकी ओर से सभी लापरवाही करते हैं; सब का काम एक का भी काम नहीं होता। जिस काम को मनुष्य अपना समझता है उसी को वह अधिक तत्परता, कुशलता तथा उत्साह के साथ करता है। निजी स्वामित्व का भाव एक पारस की पथरी है जिसका स्पर्श पाकर मिट्टी भी सोना हो जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य स्वामित्व में इस बात की भी भारी आशंका है कि सामान्य श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए धन के वितरण के ऊपर संघर्ष उत्पन्न हो जाये और सामान्य स्वामियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलह उठ खड़ा हो। इस बात का क्या मापदण्ड है कि एक व्यक्ति को जो कुछ मिला है वह उसके किये हुए परिश्रम के अनुसार है या नहीं। जो लोग यह समझते हैं कि उनके परिश्रम का पूरा फल उन्हें नहीं मिला उनके हृदय में रोष तथा क्षोभ की लहरें उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार साम्यवाद उन लोगों की मानसिक एकता नष्ट करके उनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न कर सकता है जो साम्यवाद में होने वाले अत्यन्त निकट के सम्पर्क के अभाव में अच्छे पड़ौसियों के रूप में रह सकते थे। निस्सन्देह यह सत्य है कि निजी सम्पत्ति के ऊपर भी संघर्ष होता है और झगड़े उठते हैं; परन्तु उनका कारण सम्पत्ति नहीं, मनुष्य का लोभ तथा दुष्टता है। इसके विपरीत सम्पत्ति के साम्यवाद के दोष स्वयं उस प्रणाली के गर्भ से ही उत्पन्न होते हैं, मानव दुर्बलता के कारण नहीं।

अरस्तु निजी सम्पत्ति को अच्छे जीवन का एक आवश्यक साधन समझता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये वह नितान्त आवश्यक है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, उदारता, दानशीलता तथा आतिथ्य जैसे सद्गुणों का पालन बिना निजी सम्पत्ति के नहीं हो सकता; निजी सम्पत्ति की एक निश्चित मात्रा के अभाव में धर्म का पालन नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति से आनन्द भी कुछ कम नहीं मिलता; वह आत्म-प्रेम का ही एक रूप है। जो लोग होटल तथा घर के भोजन में और किराये के तथा अपने निजी मकान में रहने में एक अन्तर महसूस करते हैं वे इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि निजी सम्पत्ति आत्म-प्रेम का ही एक रूप किस प्रकार है और आत्म-सम्मान तथा व्यक्तित्व की भावना किस प्रकार एक बहुत बड़ी हद तक निजी सम्पत्ति के ऊपर निर्भर करती है। जो चीज़ जिस व्यक्ति ने स्वयं बनाई है उसके द्वारा वह आत्म-अनुभूति करता है। निजी सम्पत्ति एक दर्पण है जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना प्रतिबिम्ब देखता है। अन्तिम बात यह है कि जिस नागरिक के पास कुछ भी निजी पूँजी नहीं है और जो राज्य को कुछ भी नहीं दे सकता उसके लिए एक पूर्ण नागरिक जीवन व्यतीत करना असम्भव है; वह उससे वंचित रहता है।

अरस्तु न केवल निजी सम्पत्ति का समर्थन करता है, बल्कि उसके वितरण में किसी हद तक असमानता को भी आवश्यक और वांछनीय समझता है। असमान धन-वितरण धनाढ्य को दान द्वारा जनसेवा का अवसर देता है। परन्तु निजी सम्पत्ति तथा उसके वितरण की विषमता में विश्वास करते हुए भी अरस्तु इन दोनों को मर्य्यादित और सीमित करना चाहता है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, सच्चे धन का स्वभाव ही यह है कि वह अपने लक्ष्य के अनुसार मर्यादित हो। लोग धन-प्राप्ति को साधन न समझ कर साध्य समझ बैठते हैं। इसी प्रकार वह वितरण सम्बन्धी विषमताओं को भी सीमित करना चाहता है कि कहीं ऐसा न हो कि अत्यधिक विषमता उत्पन्न हो जाने से वर्ग संघर्ष न उठ खड़ा हो और उससे राज्य की स्थिरता ही खतरे में पड़ जाये। अरस्तु की यह भी विशेषता है कि वह रीति रिवाज तथा विधि निर्माण द्वारा निजी सम्पत्ति की संस्था को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधारना और उसे पूर्ण बनाना चाहता है। वह आग्रह करता है कि उसका प्रयोग उदारतापूर्वक होना चाहिये। सारांश यह कि अरस्तु ऐसी सम्पत्ति का समर्थन करता है जिस का स्वामित्व निजी किन्तु उपभोग सार्वजनिक हो और इस प्रकार वह व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद दोनों के गुणों को प्राप्त करता है। निजी सम्पत्ति के कुछ आर्थिक और नैतिक लाभ हैं और सामान्य उपभोग से, यदि वह सही भावना के साथ किया जाये, वह एकात्मीयता उत्पन्न होती है जो अत्यन्त वांछनीय है। निजी सम्पत्ति की वकालत करने में वह एकदम व्यक्तिवादी है; वास्तव में व्यक्तिवाद के सहृद्ध बुद्धिगम्य तत्त्व को अरस्तु ने जितने अच्छे ढंग से व्यक्त किया है उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं। परन्तु इसके साथ वह रिवाज तथा कानून द्वारा सम्पत्ति को विनियंत्रित करना चाहता है, उसके सामान्य उपभोग की व्यवस्था करता है और उसके संग्रह की सीमायें निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण से वह समाजवादी है। व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के दो परस्पर विरोधी ध्रुवों के बीच का मार्ग उसने पकड़ा है।

पत्नियों के साम्यवाद की अरस्तु द्वारा आलोचना— सम्पत्ति के साम्यवाद के ठुकराने में अरस्तु ने जिस यथार्थवाद, व्यवहार बुद्धि, तथा मानव स्वभाव और सामाजिक जीवन के गहरे ज्ञान का परिचय दिया है वही उसके पत्नियों के साम्यवाद की समालोचना में प्रकट होता है। आइये इसके ऊपर भी विचार करें।

याद रहे कि पत्नियों तथा बच्चों के साम्यवाद को अफलातून स्वयं कोई लक्ष्य नहीं समझता था; वह उसे राज्य की एकता का साधन मानता था। उसका सर्वोच्च ध्येय राज्य की एकता था। उसकी धारणा थी कि राज्य की एकता को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन यह है कि लोगों में 'तेरे' 'मेरे' की भावना न रहे। सब बच्चों को लोग अपने तथा सब के बच्चे समझें और किसी का अपना निजी घर न हो। अरस्तु अफलातून की इस बात को मानता है कि राज्य की एकता वांछनीय ध्येय है; परन्तु उसका विचार है कि उसकी जो धारणा अफलातून की है वह सही नहीं है। अफलातून राज्य की एकता और परिवार की एकता को एक ही जैसी चीज समझता है जबकि वे दोनों भिन्न भिन्न चीजें हैं। राज्य को एक वृहत परिवार कहना भूल है। राज्य विभिन्न इकाइयों का समूह है। यदि अनेकतारहित पूर्ण एकता ही सर्वोच्च ध्येय है तो राज्य सिकुड़ते सिकुड़ते एक परिवार और अन्ततोगत्वा एक व्यक्ति मात्र रह जायेगा। राज्य का ऐक्य अनेक के पृथक् व्यक्तित्व को नहीं मिटाता बल्कि वह अपने समस्त घटकों में निहित है। अफलातून के विरुद्ध यह आलोचना न्यायसंगत नहीं जान पड़ती। अफलातून ने राज्य में कभी व्यक्ति की एकता का आरोप नहीं किया और न ही उसने कभी समस्त नागरिकों को एक ही सांचे में ढालने का प्रयास किया। वह स्पष्ट रूप से नागरिकों को तीन वर्गों में विभक्त करता है और प्रत्येक वर्ग को अलग अलग कार्य सौंपता है। इसलिये यह कहना गलत है कि अफलातून के राज्य में सब एक ही प्रकार के व्यक्ति हैं; उसके राज्य के नागरिकों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी वैसी ही विभिन्नता है जैसी कि अरस्तु के कल्पना के राज्य में। उसमें विभिन्न प्रकार के लोग हैं जो विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य की एकता बनाये रखने के लिए अफलातून अरस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक आतुर है।

परन्तु यहाँ पर हमारा इस बात से अधिक सम्बन्ध नहीं कि अरस्तु ने अफलातून की राज्य की एकता सम्बन्धी धारणाओं की क्या आलोचना की है; हमारा सम्बन्ध तो अरस्तु की उस आलोचना से है जो उसने पत्नियों तथा बालकों के साम्यवाद की है जिसे अफलातून राज्य की एकता का सबसे बड़ा साधन समझता था। अरस्तु का तर्क यह है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि राज्य में अधिक से अधिक एकता होनी चाहिये तो भी पत्नियों, बच्चों (और सम्पत्ति) का साम्यवाद उसे प्राप्त करने का कोई साधन नहीं हो सकता। एकता के मार्ग में यह सहायक की अपेक्षा बाधक ही अधिक होगा। पत्नियों के साम्यवाद का यदि कोई अर्थ है तो उसका तात्पर्य यह है कि एक पुरुष की पत्नी प्रत्येक पुरुष की पत्नी है। इस पर व्यवहार करने से परस्पर द्वेष, विषमता तथा वैमनस्य की भावनायें उत्पन्न होंगी। अरस्तु की यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती। अफलातून ने कभी ऐसी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जिसमें प्रत्येक पुरुष की पत्नी प्रत्येक अन्य पुरुष की पत्नी होगी। अफलातून की व्यवस्था का यह अर्थ लगाना उसके साथ घोर अन्याय है, यह अर्थ नहीं अनर्थ है। अफलातून का उद्देश्य केवल यह था कि स्थायी विवाह बन्धन का उन्मूलन कर दिया जाये। अरस्तु ने इस प्रसंग में अफलातून के विरुद्ध जो अन्य आपत्तियाँ उठाई हैं वे उचित तथा तथ्यपूर्ण हैं और उनसे मानव प्रकृति तथा सामाजिक सम्बन्धों के महत्त्व का गहरा ज्ञान झलकता है।

उसका मुख्य तर्क यह है कि प्रत्येक नागरिक का प्रत्येक वस्तु को एक ही समय में 'मेरी' और 'तेरी' कहने के सूत्र से राज्य में एकता तथा सामंजस्य उत्पन्न नहीं होगा। उसका यह कहना कि एक अफलातूनी पुत्र की अपेक्षा तो एक सगा चचेरा भाई होना अधिक अच्छा है सारी बात का निष्कर्ष है। अफलातून की योजना के अनुसार प्रत्येक बालक के हज़ारों पिता और प्रत्येक पुरुष के हज़ारों पुत्र होंगे। इससे तो 'पिता' और 'पुत्र' शब्द ही निरर्थक हो जाते हैं। वात्सल्य-प्रेम तथा पितृभक्ति की महत्ता उनकी एकांगीयता के कारण ही है; इस एकांगीयता के नष्ट हो जाने से ये दोनों निरर्थक हो जायेंगे। अफलातूनी राज्य में एक पुत्र सब का पुत्र इस तरह से हो सकता है कि या तो सारा समाज उसे अपनाले या वह सचमुच प्रत्येक का पुत्र हो। दूसरा विकल्प निरर्थक है; कोई भी बच्चा प्रत्येक नागरिक का पुत्र नहीं हो सकता और पहिले का कोई मूल्य नहीं। सारे समाज द्वारा गोद लिये हुए बच्चे की देख रेख और पालन पोषण कौन करेगा? एक सगे पिता के हृदय में जो स्नेह और प्रेम अपने बालक के लिये होता है वह किसी दूसरे के हृदय में कदापि नहीं हो सकता। अफलातूनी राज्य में बच्चों को सार्वजनिक शिशुगृह और सार्वजनिक पाठशाला में भेजना पड़ेगा; परन्तु ये संस्थायें अनाथों के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे जितनी हितकर हों, घर और माता का स्थान नहीं ले सकतीं। पारिवारिक जीवन तथा सम्बन्ध का आधार व्यक्तिगत स्नेह तथा व्यक्तिगत अधिकार की भावना है जिनका अफलातून के राज्य में कोई स्थान नहीं; इनके क्षेत्र का विस्तार जितना विस्तृत हो जाता है, इनकी तीव्रता उतनी ही कम हो जाती है और अफलातूनी राज्य में तो इनकी केवल छायामात्र रह जाती है।

अफलातून के ऊपर सम्पत्ति तथा परिवार का मध्यकालीन भय सवार था; वह उन्हें बहुत से पापों का स्रोत समझता था, इसलिये वह उनको जड़ से उखाड़ना चाहता था। इसके विपरीत अरस्तु इन्हें मानव स्वभाव का एक अङ्ग समझता है और उन में बहुत सी अच्छाइयों को देखता है। वह उन्हें केवल इसलिये नष्ट नहीं करना चाहता कि उनका दुरुपयोग भी हो सकता है और भूतकाल में कभी कभी उनका दुरुपयोग हुआ भी है। वह उन्हें कायम रखना और उनका सदुपयोग करना चाहता है। प्रकृति ने उन्हें बिना किसी प्रयोजन के ही थोड़ा बनाया है! अफलातून की तरह वह युग-युगान्तरों का अनुभव ठुकराने को तय्यार नहीं; उसकी दलील यह है कि यदि सम्पत्ति और परिवार के विषय में अफलातून के विचार सही होते तो उससे पहिले भी कोई न कोई उसका संकेत अवश्य करता। अरस्तु का विचार था कि अफलातून अपने राजनीतिक दर्शन में इतना नवीनतावादी और कल्पनाप्रिय हो उठा कि व्यवहारिक जीवन में वह हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता। इन दो महान् दार्शनिकों की प्रवृत्तियों में कितना बुनियादी अन्तर है, इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण इन दोनों का परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति दृष्टिकोण का भेद है।

अफलातून की व्यवस्था में अरस्तु ने कई और कठिनाइयों की ओर भी संकेत किया है; किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण न होने के कारण हम उन्हें छोड़े देते हैं। पारिवारिक बन्धनों को समाप्त करने की अफलातून की योजना के विरुद्ध अरस्तु को बुनियादी आपत्ति यह है कि घर स्वाभाविक स्नेह की शाश्वत पाठशाला है। माता पिता के आलिंगन चुम्बन से बच्चा बहुत सी बातें सीखता है। परिवार के संकुचित और एकांगी घेरे में स्नेह तथा त्याग के जो पाठ हम पढ़ते हैं वे आगे चल कर व्यापक सामाजिक जीवन में प्रयोग किये जा सकते हैं और प्रयोग किये जाते हैं।

सांविधानिक शासन बनाम निरंकुश शासन— अरस्तु की राजनीतिक विचार को मुख्य देन पत्नियों तथा सम्पत्ति के अफलातूनी साम्यवाद को ठुकराना नहीं है, बल्कि इस बात के ऊपर बल देना है कि एक अच्छे तथा आदर्श राज्य का लक्षण सांविधानिक अर्थात् क़ानून का शासन है, किसी दार्शनिक राजा का निरंकुश शासन नहीं जैसा कि अफलातून का विचार है। जैसा कि हम पहिले ही बता चुके हैं उसकी बड़ी विशेषता इस बात में है कि उसने राज्य में क़ानून को फिर से उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। यह सही है कि स्वयं अफलातून ने भी अपनी अंतिम कृति में क़ानून के महत्त्व को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार कर लिया था; किन्तु वह मानो मानव दुर्बलता के साथ एक रियायत थी, दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता थी; क़ानून द्वारा शासन को आदर्श शासन उसने कभी नहीं समझा। परम्परा तथा लिखित क़ानून से परे और स्वतन्त्र दार्शनिक राजा अन्त तक उसका आदर्श बना रहा। अरस्तु ने इस आदर्श को पूर्ण रूप से ठुकरा दिया; उसके आदर्श राज्य में क़ानून का शासन है। विधानवाद पर जोर देने वालों में उसका नाम सबसे पहिला है। सन्त टॉमस, हूकर, लॉक तथा बर्क के द्वारा यह सिद्धान्त आधुनिक संसार में पहुँचा है।

अरस्तु राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के लिये क़ानून को अपरिहार्य क्यों समझता है, इसके कई कारण हैं। उसकी पहिली युक्ति यह है कि सबसे अधिक बुद्धिमान् मनुष्य भी क़ानून के बिना काम नहीं चला सकता। क़ानून में एक ऐसा निराकार गुण है जिसे बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर सकता। भावना और पक्षपात मनुष्यों को डिगा सकते हैं और प्रायः डिगाते हैं; किन्तु क़ानून में यह दुर्बलता नहीं है; वह तृष्णारहित विशुद्ध बुद्धि की आवाज है। इसलिये यदि हम चाहते हैं कि प्रशासन पर किसी भी मानवीय विकार का प्रभाव न पड़े तो हमें क़ानून को सर्वोपरि और शासक को उसके अधीन बनाना पड़ेगा। "क़ानून की निर्लिप्त शक्ति मजिस्ट्रेट का स्थान तो नहीं ले सकती; किन्तु वह मजिस्ट्रेट के अधिकार को एक नैतिक गुण अवश्य प्रदान करती है जो उसमें अन्यथा नहीं हो सकता।"* दूसरे, क़ानून मानव को पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक है। अरस्तु के हृदय में यह विचार अफलातून की इस बात से आया कि 'एक मनुष्य, यदि वह पूर्ण है तो सर्वश्रेष्ठ प्राणी है; किन्तु यदि वह क़ानून और न्यायरहित है तो वह निकृष्टतम हो उठता है।' क़ानून के अधीन होने से मनुष्य पूर्ण हो जाता है क्योंकि क़ानून युगों के संचित अनुभव तथा बुद्धिमत्ता का साकार रूप है। 'सामाजिक बुद्धिमत्ता का बढ़ता हुआ संग्रह क़ानून और परम्परा में निहित है।'† अन्तिम बात यह कि क़ानून विहित शासन निरंकुश शासन की अपेक्षा इसलिये भी श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें प्रजा के सम्मान की जो रक्षा हो सकती है वह निरंकुश शासन में कदापि नहीं हो सकती। वैधानिक शासक का शासन शासित की इच्छा के ऊपर निर्भर करता है, शक्ति के ऊपर नहीं। अफलातून द्वारा 'रिपब्लिक' में अंकित आदर्श राज्य तथा 'लॉज़' में निरूपित उपादर्श राज्य की आलोचनात्मक समीक्षा करने के बाद अरस्तु फ़ेलीज़ (Phaleas) तथा हिपोडेमस (Hippodamus) के आदर्श राज्यों को लेता है और फिर उस समय के सर्व-

* "The passionless authority of law does not take the place of a magistrate, but it gives to the magistrate's authority a moral quality which it could not otherwise have."

—Sabine: *History of Political Theory*, pages 94–5.

† 'The growing stock of social intelligence is embedded in law and custom.' *Ibid*, page 95.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ राज्य स्पार्टा, क्रीट तथा कार्थेज का वर्णन करता है। इन सब का वर्णन यहाँ करना आवश्यक नहीं। अब हम 'पॉलिटिक्स' के तीसरे प्रकरण पर आते हैं जिसमें अरस्तु ने नागरिक जीवन के कुछ केन्द्रीय तथा बुनियादी सिद्धान्तों का निरूपण किया है, जैसे कि नागरिकता का स्वरूप तथा अर्थ, विधानों का वर्गीकरण, सरकार के रूप।

नागरिकता (Citizenship)— यद्यपि प्रथम प्रकरण में अरस्तु ने राज्य को समुदायों का समुदाय और परिवारों तथा ग्रामों का संघ बताया है किन्तु तीसरे प्रकरण में उसके विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया है और उसमें उसने राज्य को एक कुनोनिया (Koinonia) अर्थात् स्वतन्त्र मनुष्यों का एक समदाय और उसके संविधान को उसके निवासियों की एक निश्चित व्यवस्था बताया है। पहिली परिभाषा में राज्य के निर्मायक अंग अन्य समुदाय, ग्राम तथा परिवार हैं, परन्तु दूसरी परिभाषा में व्यक्ति हैं। इसलिये यह प्रश्न उठता है: नागरिक कौन है और इस शब्द का क्या अर्थ है?

अरस्तु का कहना है कि एक राज्य में रहने भर से ही कोई व्यक्ति उसका नागरिक नहीं बन जाता; विदेशी और दास भी नागरिकों के साथ साथ एक राज्य में रहते हैं किन्तु वे नागरिक नहीं समझे जाते। और न देश में संरक्षा तथा न्यायालय द्वारा न्याय प्राप्त करने के कानूनी अधिकारों के उपभोग से ही कोई व्यक्ति नागरिक बन सकता है क्योंकि ये अधिकार भी किसी राज्य में रहने वाले विदेशियों को भी प्राप्त होते हैं। और यदि हम यह कहें कि नागरिक वह व्यक्ति है जिसके माता-पिता नागरिक हैं तो भी यह समस्या हल नहीं होती क्योंकि इससे यह प्रश्न केवल एक कदम और पीछे हट जाता है, इसका समाधान नहीं हो जाता और यह प्रश्न उठ खड़ा होता है: वह क्या चीज़ है जो माता-पिता को नागरिक बनाती है। सारांश यह कि नागरिकता की परिभाषा निवासस्थान, कानूनी अधिकार, अथवा जन्म के आधार पर नहीं की जा सकती; इसका आधार कर्म होना चाहिये।

अरस्तु के अनुसार जो बात एक नागरिक और अनागरिक में स्पष्ट भेद करती है वह है नागरिक का न्यायिक (Judicial) शक्ति तथा सार्वजनिक पदों में भाग लेना। एक न्यायालय में न्यायाधीश अथवा जूरर (Juror) के रूप में कार्य करके एक व्यक्ति राज्य के न्यायिक कार्यों में भाग लेता है। जनप्रिय सभा की सदस्यता वह सार्वजनिक पद है जिसके प्राप्त होने से एक व्यक्ति नागरिक हो जाता है। इस परिभाषा को अच्छी तरह से समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिये कि ऐथन्स में न्यायप्रशासन आधुनिक राज्यों में पाई जाने वाली न्याय-प्रणाली से कहीं भिन्न था। वहाँ थोड़ी थोड़ी अवधि के लिये न्यायाधीशों और जूरर्स को नम्बरवार चुना जाता था और प्रत्येक नागरिक को यह पद प्राप्त हो सकता था। जनप्रिय सभा समस्त नागरिकों को मिलाकर बनती थी जो क़ानून बनाने तथा नीति निर्माण करने के लिए एक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य समवेत होती थी। ऐथन्स में वह सर्वोच्च सत्ता होती थी। सभा के सदस्य के नाते प्रत्येक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐथन्स निवासी राजसत्ता अथवा सर्वोच्च शक्ति में भाग लेता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु के लिए नागरिकता का अर्थ केवल विधायकों के चुनाव और कार्यपालिका की शक्ति में भाग लेने तक ही सीमित न था जैसा आज वह हमारे लिये है वल्कि वह नीति-निर्धारण तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेना था जिनमें राजसत्ता की अभिव्यंजना होती है। नागरिकता राजसत्ता के उपभोग में भाग लेना है।

इस परिभाषा से भी कठिनाई पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाती। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देना अभी रह जाता है और वह यह है: सर्वोच्च नीति निर्धारक तथा न्यायिक कार्यों में किसे भाग लेने का अधिकार होना चाहिये। विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। वर्गतन्त्रों में यह अधिकार कुछ मुट्ठीभर व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है; जनतंत्र में अधिक व्यक्तियों को यह अधिकार दिया जाता है किन्तु समस्त नागरिकों को नहीं। यूनान में किसी भी राज्य में विदेशियों, दासों, स्त्रियों तथा वच्चों को नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किये गये। यूनानी नागरिकता आधुनिक नागरिकता की अपेक्षा कहीं संकुचित थी। अरस्तु ने हाथ से काम करने वाले तथा शारीरिक सेवा करने वाले श्रमिकों को भी नागरिकता के क्षेत्र से बाहर कर दिया है। अरस्तु ने इन विभिन्न वर्गों को नागरिकता की परिधि से क्यों बाहर रक्खा और व्यवहारतः उसे परिवार के मुखिया तक ही क्यों सीमित कर दिया? इस प्रश्न के उत्तर से अरस्तु की नागरिकता की धारणा पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है।

अरस्तु का कहना है कि नीति निर्धारक तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेने के लिये एक ऊँचे नैतिक और बौद्धिक स्तर की आवश्यकता है; इसे हम व्यवहारिक बुद्धि या व्यवहार धर्म कह सकते हैं। जाहिर है कि यह गुण राज्य के प्रत्येक निवासी में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त इसे प्राप्त करने के लिये अवकाश की आवश्यकता है। स्त्रियों, वच्चों, दासों, मिस्त्रियों तथा हाथ से कार्य करने वाले मज़दूरों में यह गुण नहीं पाया जाता। प्राचीन यूनान में अन्तिम वर्गों को दीन और पराधीन समझा जाता था; उनकी स्थिति हमारे देश के शूद्रों से मिलती जुलती थी। ये और विदेशी यूनान के राज्यों में मताधिकार से वंचित थे। अरस्तु ने चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर लिया और उसे अपने सिद्धान्त का आधार बना लिया। आधुनिक काल से, जिसमें प्रत्येक वयस्क को जाति पाँति, ऊँच नीच, लिंग, अमीर ग़रीब के भेद के बिना मताधिकार प्राप्त है, वह कितना भिन्न था। अफलातून और अरस्तु ने श्रमिकों को नागरिकता से वंचित करके उसे केवल समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रक्खा और पूर्वोक्त को उन्होंने वलिदान कर दिया ताकि उत्तरोक्त अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। इस प्रकार उन्होंने समाज के एक बड़े भाग को नागरिकता से प्राप्त होने वाले उन्नति के अवसरों से वंचित कर दिया। आधुनिक राज्यों में प्रत्येक नागरिक को नागरिकता का अधिकार है और इसलिये प्रत्येक को उन्नति का अवसर मिलता है। 'वहुजनसुलभ नागरिकता का नीचा आदर्श अफलातून और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरस्तु के उस भव्य आदर्श से कहीं अधिक मूल्यवान् है जो मुट्ठी भर लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।'*

अफ़लातून और अरस्तु दोनों ने नागरिकता के आदर्श को इतना ऊँचा इसलिये रक्खा क्योंकि वे शासक बनने के लिये धर्म की श्रेष्ठता को सब से अधिक आवश्यक समझते थे। नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए अवकाश की आवश्यकता है और शरीरिक श्रम या सेवा करने वाले वर्गों को अवकाश नहीं मिलता इसलिये इन दोनों दार्शनिकों ने इन वर्गों को नागरिकता से वंचित कर दिया। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि अरस्तु का अवकाश (Leisure) से क्या अभिप्राय था।

आजकल अवकाश का अर्थ हम उस समय से समझते हैं जिसमें हम मनोरंजन करने के लिये स्वतन्त्र हों; यह वह समय है जिसमें साधारण दिनचर्या को रोक कर छुट्टी मनाई जाती है। पाठशालाओं में विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को अवकाश के क्षण प्राप्त होते हैं; कार्यालयों तथा न्यायालयों में भोजन तथा विश्राम करने के लिये मध्यान्तर या अवकाश होता है। अरस्तु का अर्थ अवकाश से यह नहीं था। इसके लिए अवकाश आराम नहीं, वह कार्य का ही एक रूप था। उसने क्रियाओं के दो भेद किये हैं। कुछ कार्य दूसरे कार्यों के साधनमात्र होते हैं, जैसे कि एक खेत को जोतना, कपड़े सीना, सोने चाँदी की खान में कार्य करना। ऐसे कार्य को लक्ष्य रूप में कोई नहीं करता। ऐसे कार्यों को लाभदायक या आवश्यक समझा जा सकता है। इसके विपरीत कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें मनुष्य केवल उन्हें करने के लिए ही करता है, अर्थात् उन्हें लक्ष्य मानता है जैसे कि ज्ञान प्राप्ति, काव्य रचना, चित्रकारी तथा नृत्य। जीवन के सर्वोत्कृष्ट मूल्यों सत्यं, सुन्दरं तथा शिवं की प्राप्ति का प्रयत्न करना भी इसी प्रकार का कार्य है। अरस्तु ऐसे कार्य को अवकाश कहता था। "जिन कार्यों को करने के लिये मनुष्य अपनी आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओं के कारण विवश है उनके अतिरिक्त लगभग सभी क्रियाएँ अवकाश के अन्तर्गत आती हैं। शासन करने की राजनीतिक क्रिया; सार्वजनिक सेवा; युद्ध करना जिसमें साहस के गुण का प्रस्फुटन होता है; अपने साथी नागरिकों के साथ सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करना जिसके लिये संयम, उदारता, विशाल-हृदयता तथा साहचर्य के गुण आवश्यक हैं; खेल कूद, नाट्य कला, और धार्मिक कृत्यों में भाग लेना और अन्त में विज्ञान तथा दर्शन को प्राप्त करने का प्रयत्न करना इसमें सम्मिलित हैं।"† जाहिर है कि जिस व्यक्ति को अपना सारा समय और सारी शक्ति अपनी आजीविका कमाने में

*"A lower ideal of citizenship, purchasable at a price which the many can afford to pay, is perhaps a more precious thing than the rare riches of the Platonic and Aristotelian ideal."

—Barker : *The Politics of Aristotle*, page 11.

†Foster : *op. ct.*, page 174.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगानी पड़ती है उसे उपरोक्त कार्य करने का अवसर नहीं मिल सकता और इसीलिये अरस्तु ऐसे व्यक्तियों को शासन के अयोग्य समझता है।

हमें अरस्तु की बात समझने में कठिनाई इसलिये होती है क्योंकि हम अवकाश शब्द का भिन्न अर्थ लगाते हैं। हम अपने अवकाश का कोई गम्भीर प्रयोग नहीं करते ; वह हमारे लिये मनोरंजन है, कार्य का ही एक रूप नहीं जैसा कि अरस्तु के लिये है।

सिद्धान्त में तो अफलातून और अरस्तु की नागरिकता सम्बन्धी धारणाओं में काफी अन्तर दिखाई पड़ता है; परन्तु व्यवहार में लगभग कोई अन्तर नहीं है। अफलातूनी राज्य में अभिभावक तथा शासक वर्गों की भांति उत्पादक वर्ग के लोग भी नागरिक हैं; वे राज्य का एक अभिन्न अङ्ग हैं। परन्तु अरस्तु हाथ से श्रम करने वालों को निश्चित रूप से नागरिकों की श्रेणी से अलग रखता है। यहाँ तक अफलातून अरस्तु से अधिक प्रगतिशील दिखाई पड़ता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में अफलातून भी उन्हें शासन कार्य में कोई भाग लेने से अलग रखता है; वह और अरस्तु, ये दोनों ही विचारक उन्हें सेवाजीवी वर्ग समझते हैं जिनका कर्त्तव्य उच्च वर्गों को अवकाश देना है। ये वे लोग हैं जिनके ऊपर उच्चवर्ग के लोग निर्भर करते हैं; किन्तु जिनके ऊपर वे शासन करते हैं। सारांश यह कि वे राज्य के लिए जीवित हैं; किन्तु वे राज्य के अभिन्न अंग नहीं हैं, अर्थात् राज्य में उनका कोई भाग नहीं है। इस प्रसंग में यह बात याद रखने की है कि शिल्पकारों को राज्य कार्य से अलग रखना अरस्तु के राज्य के जैविक सिद्धान्त से ताल नहीं खाता। और नगर राज्य में जनसंख्या छोटी होने के कारण प्रत्येक वर्ग के लिए शासन कार्य में भाग लेना सम्भव था और यह नगर का एक मुख्य लाभ था; किन्तु शिल्पकला, उद्योग, व्यापार में लगे हुए वर्गों को राजनीतिक कार्यों में अलग रखना उस लाभ को नष्ट करना है।

संविधान का अर्थ— यह पहिले ही कहा जा चुका है कि अरस्तु के अनुसार नागरिकता का अर्थ राजसत्ता में भाग लेना अर्थात् राज्य के नीति-निर्धारक और न्यायिक कार्यों में भाग लेना है। इन कार्यों में भाग लेने का अधिकार किसे मिलना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर किसी भी राज्य का संविधान देता है जो कि प्रत्येक राज्य का भिन्न भिन्न होता है। इसलिये अरस्तु संविधान की विवेचना करता है।

अरस्तु ने संविधान की परिभाषा यह दी है कि संविधान राज्य के पदों की वह व्यवस्था है जिसमें यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य का कौन सा पद, विशेषकर सर्वोच्च पद किसे मिले। इसका अर्थ यह हुआ कि संविधान ही राज्य को बनाता है और शासकवर्ग का स्वरूप संविधान के स्वरूप को निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य और संविधान एक ही बात है; यदि किसी राज्य के संविधान में परिवर्तन हो जाये तो उस राज्य में भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें यह बात भी निहित है कि राज्य और दल एक बात हैं। यदि कोई नया दल शक्ति प्राप्त कर लेता है और संविधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बदल देता है, तो राज्य भी बदल जाता है। राज्य और संविधान में ऐसी अनुरूपता देखकर आधुनिक पाठक चक्कर में पड़ जाता है। यह कहना कि किसी राज्य के संविधान में परिवर्तन होने से उस राज्य में भी परिवर्तन हो जाता है एक दम ग़लत दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि में संविधान का उतना व्यापक महत्त्व नहीं है जितना कि अरस्तु उसे देता है। अरस्तु के लिए संविधान राज्य का एक अंग, उसके ढाँचे का एक क़ानूनी आधारमात्र नहीं है; वह स्वयं राज्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यंजना है। यह वह ध्येय है जिसकी प्राप्ति के लिए नागरिकों ने अपने आपको एक राज्य के रूप में संगठित किया है। यूनानियों के लिये संविधान में परिवर्तन हो जाने का अर्थ केवल पदव्यवस्था में हेर फेर हो जाना नहीं था बल्कि वह जनता के नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों का पलट जाना था; वह एक तरह की क्रान्ति थी। रूस तथा चीन में राज्यशक्ति साम्यवादियों के हाथ में आ जाने से जो कुछ हुआ वह अरस्तु के अर्थ का जीता जागता उदाहरण है। इन देशों में संविधान परिवर्तन का अर्थ राज्य परिवर्तन हुआ।

अरस्तु के इस कथन को कि संविधान में परिवर्तन का अर्थ राज्य परिवर्तन है हमें यूनान के इतिहास के प्रकाश में परखना चाहिये। लगभग प्रत्येक नगर राज्य में वर्गतंत्रियों तथा जनतंत्रियों में एक कटु संघर्ष रहता था; उनमें से एक दल की विजय का अर्थ केवल यह नहीं होता था कि उसके नेता सरकार बनालें बल्कि उससे इस बात का निर्णय होता था कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहे या सर्वसाधारण के हाथ में। जनतंत्रियों की विजय का अर्थ था कि राज्य में प्रभुता एक सामाजिक वर्ग की होगी और वर्गतंत्रियों की विजय का मतलब था कि एक दूसरा वर्ग राज्य में प्रधान होगा। एक आधुनिक राज्य में संविधान दलगत संघर्ष से ऊपर होता है; यूनानियों के लिए यह संघर्ष विन्दु था। हम अरस्तु के अभिप्राय को अधिक अच्छी तरह से समझ सकेंगे यदि हम यह याद रक्खें कि उसके लिए राजनीति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जिस सामाजिक वर्ग के हाथ में है उसका स्वरूप क्या है।

संविधानों का वर्गीकरण— अब अरस्तु संविधानों के वर्गीकरण पर आता है और उनके लक्ष्य के अनुसार उन्हें मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त करता है। राज्य का सच्चा ध्येय एक शुभ जीवन की प्राप्ति है; समस्त समाज के लिए भी और अलग अलग प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी। यही वह सामान्य हित है जो समाज के समस्त सदस्यों को एक सूत्र में ग्रंथित करता है। जो शक्ति इस हित की प्राप्ति के लिये प्रयोग की जाती है वही न्यायोचित शक्ति है। जिस संविधान या सरकार का ध्येय समाज के इस सामान्य हित की प्राप्ति है वह अच्छी है और जिसका उद्देश्य केवल शासकों की हित पूर्ति है वह भ्रष्ट है। इस प्रकार सरकार के उद्देश्य के आधार पर संविधानों को साधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा भ्रष्ट, दो रूपों में विभक्त किया गया है। भ्रष्ट संविधान आदर्श से गिरे हुए हैं; उनमें राज्य के स्वाभाविक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। परन्तु यथार्थ राज्यों का वर्णन करते हुए अरस्तु इस परिणाम पर पहुँचता है कि कोई भी वास्तविक राज्य पूर्ण रूप से सामान्य हित को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रत्येक संविधान का अच्छा या बुरा होना सापेक्षिक है। फिर भी आदर्श से तनिक हटते ही हम किसी संविधान को भ्रष्ट नहीं कह सकते जब तक कि शासकवर्ग द्वारा समाज का शोषण उसका मुख्य ध्येय न हो जाये। इसलिये यह वर्गीकरण व्यर्थ नहीं है। यद्यपि यह वर्गीकरण अफलातून के वर्गीकरण [(१) बुद्धि द्वारा शासन और इसी लिये लचकदार, और (२) कानून द्वारा शासन और इसी लिए जटिल] से भिन्न है, फिर भी अरस्तु के ऊपर उसका प्रभाव बहुत बड़ा है। अच्छे बुरे संविधान के अन्तर तथा विभिन्न प्रकार के राज्यों में न्याय के विभिन्न स्वरूपों की अरस्तु द्वारा विवेचना से यह स्पष्ट है कि वह अफलातून का कितना ऋणी है।

साधारण तथा भ्रष्ट, इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत यूनानी परम्परा के अनुसार शासन-प्रणालियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है। इस वर्गीकरण का आधार शासकवर्ग की संख्या है। साधारण अथवा अच्छी सरकार में शासन सत्ता यदि एक व्यक्ति के हाथ में है तो वह राजतन्त्र है, यदि कुछ व्यक्तियों के हाथ में है तो वह कुलीनतन्त्र है और यदि बहुतों के हाथ में है तो वह पोलिटी है। एक भ्रष्ट सरकार में ये तीन रूप क्रमशः आततायीतन्त्र, वर्गतन्त्र तथा जनतन्त्र हो जाते हैं।

यूनान में इस प्रचलित वर्गीकरण को तो अरस्तु ने स्वीकार किया है; परन्तु उसके संख्यावाचक आधार को वह नहीं मानता। उसका कहना है कि संविधानों और सरकारों का वर्गीकरण का आधार शासकवर्ग का चरित्र होना चाहिये न कि केवल उसकी संख्या। "वर्गतंत्रों में शासन सत्ता का कुछ थोड़े से हाथों में होना और जनतंत्रों में बहुत से हाथों में आना इस बात का परिणाम है कि सारे संसार में अमीर थोड़े और ग़रीब अधिक होते हैं। जनतन्त्र और वर्गतन्त्र की वास्तविक विशेषतायें ग़रीबी और अमीरी हैं।"* सारांश यह है कि अरस्तु के अनुसार वर्गतन्त्र अमीर का शासन है और जनतन्त्र गरीब का। संख्यावाचक भेद केवल चिह्न है, मूल नहीं। शासक वर्ग के स्वरूप के दृष्टिकोण से जनतन्त्र में शासन मध्यवर्ग द्वारा होता है। इस प्रकार जनसंख्या का अमीर, गरीब तथा मध्यवर्ग में विभाजन अरस्तु के संविधानों तथा सरकारों के वर्गीकरण का आधार है। सामान्यतया आधुनिक

---

* "The small or large number of the class supreme in a state is only an accident of oligarchies on the one hand, and democracies on the other, owing to the fact that the rich are few and the poor numerous all the world over. The really distinctive characteristics of democracy and oligarchy are poverty and wealth."

—*Politics*, Book III, Chapter VII.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक अरस्तु के इस विचार को ठुकराते हैं कि जनतंत्र गरीबों का शासन है जिनकी संख्या अधिक होती है। जनता समृद्धिशाली हो सकती है जैसा कि अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में है। इसकी विशेषता इस बात में है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जिसमें कोई और अयोग्यता न हो सरकार के कार्य में बराबर भाग लेने का अधिकार होता है। इसमें प्रत्येक गिनती में एक गिना जाता है और कोई भी एक से अधिक नहीं। मैकल्वेन (McIlwain) के अनुसार अरस्तु की यह धारणा कि वर्गतन्त्र और जनतंत्र का अन्तर गुणात्मक है, केवल संख्यात्मक या मात्रात्मक नहीं उसे अफलातून से विरासत में मिली है।

शक्ति के लिये परस्पर विरोधी दावे— राज्यों में अन्तर का आधार शासक सामाजिक वर्ग का स्वरूप ही नहीं बल्कि प्रत्येक राज्य में पदों और अधिकारों के वितरण का सिद्धान्त भी है। वितरणात्मक न्याय का आधार कुलीनतन्त्र में धर्म, वर्गतन्त्र में धन, और जनतन्त्र में स्वतन्त्र जन्म अथवा समता है। न्याय के इस सिद्धान्त के आधार पर सरकार को उत्कृष्ट या निकृष्ट समझा जाता है। परम नीति (Virtue) के सिद्धान्त का पालन करने के कारण राजतन्त्र सर्वोत्कृष्ट है; अपने उच्च धर्म के सिद्धान्त के कारण कुलीनतन्त्र का नम्बर दूसरा है। अपने साधारण अथवा सैनिक धर्म व सिद्धांत का पालन करने के कारण पोलिटी का तीसरा नम्बर है। भ्रष्ट संविधानों में सामाजिक समता के सिद्धान्त पर आधारित जनतन्त्र सर्वश्रेष्ठ है; और जहाँ तक उनका आधार धन है वर्ग-तन्त्र का नम्बर दूसरा है और आततायीतन्त्र निकृष्टतम है क्योंकि उसका आधार छल, छद्म और धोखा है।

अरस्तु के आविर्भाव तक लगभग सभी यूनानी नगर राज्यों ने एक न एक प्रकार का जनतन्त्र या वर्गतन्त्र अपना लिया था और जनतन्त्रवादी तथा वर्गतन्त्रवादी अपने अपने न्याय के सिद्धान्तों का समर्थन करते थे, इसलिये सरकार के इन दो रूपों की अरस्तु द्वारा विवेचना शक्ति के लिए परस्पर विरोधी दावों के गुण-दोषों का एक तुलनात्मक अध्ययन है।

कुलीनतन्त्रवादी, जनतन्त्रवादी तथा धनतन्त्रवादी, सभी लोग इस बात में एकमत हैं कि संविधान न्याय के ऊपर आधारित होना चाहिये; परन्तु उन सब की न्याय की धारणायें अलग अलग हैं। वे सब इस बात को भी मानते हैं कि न्याय का अर्थ समान व्यक्तियों के लिये समता और असमान के लिये असमता है। धनतन्त्रवादियों का विचार है कि क्योंकि वे धन में दूसरों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए वे सभी दूसरी बातों में दूसरों से श्रेष्ठ हैं। इसीलिये वे दावा करते हैं कि राज्य में उनका भाग उनकी सम्पत्ति के अनुपात से होना चाहिये। इसके विपरीत अरस्तु का कहना है कि धर्म के सदृश धन का शक्ति पर निरपेक्ष दावा नहीं है; राज्य कोई व्यापार कम्पनी या धन की साझेदारी नहीं है। परन्तु सम्पत्ति के दावे को वह सर्वथा निर्मूल नहीं समझता; सम्पत्ति के कुछ नैतिक परिणाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। सम्पत्ति सद्शिक्षा, सद्संगति तथा अवकाश को देने वाली है और इन चीजों का राजनीतिक शक्ति के ऊपर काफी बड़ा दावा है।

इसके विपरीत जनतन्त्रवादी स्वतन्त्र जन्म तथा समानता के आधार पर अपना दावा जताते हैं। उनका तर्क यह है कि स्वतन्त्र नागरिक होने के नाते वे सब समान हैं, इसलिये उन सब के राजनीतिक अधिकार भी समान होने चाहियें। उनकी दलील यह है कि न्याय समानता में निहित है और समानता का अर्थ यह है कि प्रत्येक को एक गिना जाये और किसी को भी एक से अधिक न गिना जाये अर्थात् जहाँ तक शासन कार्य का सम्बन्ध है उसमें प्रत्येक व्यक्ति का समान भाग होना चाहिये चाहे वह अमीर हो चाहे गरीब। धन की तरह स्वतन्त्र जन्म के अधिकार को भी अरस्तु निरपेक्ष नहीं समझता; परन्तु पूर्णरूप से उसे ठुकराता भी नहीं। शासन की नीति के राजनीतिक परिणामों को जाँचने के लिए जनता के मत को महत्त्व मिलना चाहिये। एक सन्तुलित यथार्थवादी होने के नाते अरस्तु जनमत की शक्ति का उचित सम्मान करता है। इस प्रकार अरस्तु शासन पद तथा अधिकार के वितरण के आधार के रूप में धन तथा स्वतन्त्र जन्म के मूल्य को न तो पूर्णतया स्वीकार करता है और न पूर्णतया उससे इनकार करता है।

उसका कथन है कि राज्य के पदों को राज्य के प्रति की हुई सेवाओं का पुरस्कार नहीं समझना चाहिये; वे तो राज्य के ध्येय की पूर्ति तथा उसके कार्यों में योग देने के लिए साधन मात्र हैं। राज्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति के लिये बनाया गया समुदाय है; इसलिये जो लोग शुभ जीवन में अधिक योग देते हैं और जो नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतर हैं उनका राजनैतिक शक्ति में उन लोगों की अपेक्षा अधिक भाग होना चाहिये जो अधिक धनाढ्य हैं या जो स्वतन्त्र जन्म के कारण समान हैं किन्तु जो धर्म की दृष्टि से हीन हैं। सारांश यह कि अरस्तु धन तथा स्वतन्त्र जन्म को शक्ति का सापेक्षिक अधिकार तो देता है किन्तु उनके निरपेक्ष अधिकार को स्वीकार नहीं करता। शासन करने का निरपेक्ष अधिकार तो केवल धर्म का है।

धर्म द्वारा शासन के सिद्धान्त से समस्या का हल नहीं हो पाता। यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि राज्य की सार्वभौम शक्ति किस व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में रहनी चाहिये? सर्वोच्च शक्ति जनसाधारण के हाथ में हो, या धनिकों, श्रेष्ठतर नागरिकों के हाथ में हो या सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के हाथ में हो? अरस्तु का कहना है कि उपरोक्त सभी विकल्पों की अपनी २ कठिनाइयां हैं; यह सिद्धान्त भी कि राज्य में सर्वोपरि कानून होना चाहिये, कोई व्यक्ति समूह नहीं, आपत्तियों से खाली नहीं है। परन्तु अच्छी तरह से सोच विचार के बाद वह इस विचार की ओर झुकता है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में रहनी चाहिये। अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में वह लिखता है: "यही सिद्धान्त मानने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में होनी चाहिये, कुछ थोड़े से सर्वोत्तम व्यक्तियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ में नहीं। यह सिद्धान्त यद्यपि आपत्तियों से खाली नहीं है, फिर भी इसमें सत्य का एक अंश मौजूद है।"

अपने सिद्धान्त के समर्थन में अरस्तु ने जो युक्तियाँ पेश की हैं उनका सारांश यह है कि राज्य की राजनीतिक शक्ति तथा पदों के वितरण के लिये नागरिकों के चरित्र पर विचार करना ही काफी नहीं है, बल्कि उन की संख्या पर भी ध्यान देना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति या किसी अल्पमत के समूह के सदस्य दूसरों की अपेक्षा व्यक्तिगत रूप से कहीं अधिक धर्मशील, अधिक बुद्धिमान् एवं अधिक धनाढ्य है तो इसका अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वे समस्त समाज से श्रेष्ठतर हैं। उन व्यक्तियों का बहुमत, जो कि अलग २ व्यक्तिगत रूप से अल्पमत से हीन हैं, सामूहिक रूप से उससे श्रेष्ठ है क्योंकि उसके प्रत्येक सदस्य का पूरक दूसरे सदस्य में मिल जाता है और इस प्रकार वे अधिक पूर्णता को पहुँच सकते हैं। यदि अल्पमत की अपेक्षा बहुमत की राज्य को देन अधिक है तो राजनीतिक शक्ति में उसका भाग भी अधिक होना चाहिये। यह है जनप्रिय राजसत्ता के पक्ष में अरस्तु की दलील। इसका आधार यह है कि धर्म तथा बुद्धि का सामूहिकरण किया जा सकता है, और जन साधारण का मत, कम से कम कुछ मामलों में थोड़े से बुद्धिमान् व्यक्तियों के मत की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। ये मान्यतायें काफी बड़ी हद तक सही हैं। ऐसा प्रायः होता है कि थोड़े से चतुर व्यक्तियों द्वारा तय्यार की हुई योजना में दोष निकल आते हैं जब कि साधारण व्यक्तियों की सहज बुद्धि का प्रकाश उस पर पड़ता है। जैसा कि प्रायः कहा जाता है, एक समिति अपने सबसे बुद्धिमान् सदस्य की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् होती है।

इसके साथ ही साथ अरस्तु यह भी मानता है कि यह सिद्धान्त हर प्रकार के समाज में लागू नहीं हो सकता। यह पिछड़ी हुई जाति में या ऐसे स्थान पर जहाँ कि सर्वसाधारण पशुओं के समान हैं, लागू नहीं होता। यह केवल वहीं लागू हो सकता है जहाँ कि जनसाधारण में एक काफी ऊँचे दर्जे की बुद्धि और राजनीतिक चेतना हो।

अरस्तु एक और युक्ति भी देता है और वह यह कि राजनीतिक शक्ति से बहुमत को अलग रखने से जनसाधारण में ज़बर्दस्त असन्तोष फैल जायेगा और वे राज्य के शत्रु हो उठेंगे।

अरस्तु के उपरोक्त सिद्धान्त और उसके पक्ष में ही दी हुई युक्तियों का क्या तात्पर्य है? यह हमें अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। अरस्तु का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जनसाधारण को राज्य के सर्वोच्च कार्यपालिका पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहिये। अरस्तु मानता है कि ऐसे पद तो अमीरों को ही मिलने चाहियें जो कि सद्शिक्षा, ऊँचे कुल, सम्पत्ति तथा अवकाश के आधार पर उनके लिये योग्य हैं। ये ऐसी चीज़ें हैं जिनके नैतिक महत्त्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। जनसाधारण को वह केवल न्याय करने तथा नीति निर्धारित करने का अधिकार देने को तय्यार है। जनता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायाधीशों के चुनने, उनके कार्यकाल के अन्त में उनके व्यवहार की जाँच करने तथा नीति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिये। ऐसे मामलों में सर्वसाधारण जो कि विशेशज्ञों की सेवाओं को प्रयोग करते हैं उनकी अपेक्षा कहीं अधिक कुशल निर्णायक होते हैं। जूता पहिनने वाला ही तो यह जानता है कि वह किस जगह काटता है। यह सही है कि सर्वसाधारण सरकार की जटिलताओं और छोटी मोटी तफ़सीलों को नहीं समझते, किन्तु वे यह अवश्य समझते हैं कि सरकार उनके हित में काम कर रही है या नहीं।

जनसाधारण का निर्णय ख़तरे से खाली नहीं, अरस्तु इस बात को जानता है। हो सकता है कि उनका दृष्टिकोण व्यापक न हो; वह संकीर्ण हितों से प्रभावित हो सकती है। फिर भी वह उनमें भरोसा रखता है और एक आदर्श कुलीनतन्त्र में विश्वास नहीं करता जैसा कि अफलातून करता था। उसे बहुजन में ही शुभ की आत्मा दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार वह एक ऐसा सुधारक है जो रूढ़िवादी है।

एक बात हमें और ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह है कि वे नागरिक जिनकी निर्णय तथा निर्वाचन बुद्धि में अरस्तु को आस्था थी, नगर राज्य की कुल जनसंख्या का एक छोटा सा भाग थे। विदेशी, दास, कारीगर, व्यापारी, स्त्रियाँ तथा बच्चे उनसे बाहर थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु जिस जनता द्वारा शासन का समर्थन करता है वह हमारी या आधुनिक धारणा से भिन्न है।

यह भी कहना सही नहीं होगा कि अरस्तु सार्वजनिक सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। सार्वभौमिकता एक आधुनिक विचार है; प्राचीन यूनान में यह नहीं था। वह सर्वसाधारण की प्रभुता का समर्थन करता है।

राजतन्त्र (Monarchy)— यद्यपि अरस्तु अल्पजन की अपेक्षा बहुजन के अधिकार का स्पष्ट रूप से समर्थक है, फिर भी एक स्थिति ऐसी भी है जिसमें बहुजन का दावा भी खाक में मिल जाता है। ऐसा तब होता है जबकि किसी समाज में कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसकी व्यक्तिगत योग्यता के सामने और सब की सामूहिक योग्यतायें हेच हों। ऐसे व्यक्ति का मानो जन्म ही शासन करने के लिये हुआ है, इसलिये उसे शासन करना चाहिये; वह तो मनुष्यों के बीच में एक देवता है। ऐसे व्यक्ति को दूसरों के साथ समान स्तर पर रखना कोरी मूर्खता है; सर्वसाधारण को स्वेच्छापूर्वक उसके सामने समर्पण कर देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम है; इसके अन्तर्गत जनहित सबसे अधिक सुरक्षित है। इसे हम आदर्श राजतन्त्र या रामराज्य कह सकते हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार के देवतुल्य व्यक्ति दुर्लभ हैं; इसलिये इस प्रकार के शासन की विवेचना कोरा बौद्धिक विलास होगा। यदि दैवयोग से ऐसा व्यक्ति कभी प्राप्त भी हो जाये तो सर्वसाधारण अधिक समय तक उसे शासन नहीं करने देंगे; वे राजनीतिक विषमता को अधिक दिन तक सहन नहीं कर सकते; उससे छुटकारा पाने के लिये तरह तरह के प्रयत्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये जायेंगे जिनमें से एक साधन जाति बहिष्कार है जिसका प्रयोग यूनानी लोग अपने दलगत हितों के लिये प्रायः करते थे।

अरस्तु राजतंत्र के पाँच विभिन्न भेद बतलाता है जिनकी तफ़सील में जाना आवश्यक नहीं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अरस्तु राजतंत्र का निरा प्रशंसक ही नहीं था; उसने उसके पाँचों रूपों में से प्रत्येक के विरुद्ध विभिन्न युक्तियाँ दी हैं। जब वह निरपेक्ष राजतंत्र की विवेचना करता है तो उसके सामने यह समस्या उठ खड़ी होती है कि निरंकुश शासन तथा क़ानून द्वारा शासन में से कौन सा अच्छा है। दोनों के ही पक्ष में युक्तियाँ दी जा सकती हैं। व्यक्तिगत शासन में यह गुण है कि इसके अन्तर्गत किसी नये काम की पहल सरलता से की जा सकती है; क़ानून विहित शासन में निष्पक्षता अधिक होती है। क़ानूनी शासन को अरस्तु इतना महत्त्व देता है कि उसका अन्तिम निर्णय निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध और सांविधानिक तथा सीमित राजतंत्र के पक्ष में है।

सारांश (Summary)— समस्त नागरिक जीवन में अन्तर्निहित सामान्य सिद्धान्तों की उपरोक्त विवेचना का सारांश यह है। अरस्तु का कहना है कि केवल वही संविधान अच्छा है जिसका उद्देश्य समस्त समाज का हित है, केवल शासकवर्ग का ही नहीं। एक अच्छे संविधान के अन्तर्गत राजशक्ति तथा पदों का वितरण लोगों में उनकी राज्य सेवा के अनुपात से होना चाहिये; उसका आधार धन या स्वतन्त्र जन्म नहीं होना चाहिये। राजतंत्र की मीमांसा से वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि यद्यपि कुछ क़ानून कभी कभी बुरे होते हैं फिर भी क़ानून द्वारा शासन एक व्यक्ति के निरंकुश शासन से हर हालत में अच्छा है। अरस्तु का आदर्श सांविधानिक शासन है, निरंकुश शासन नहीं। यह समस्त विवेचना सर्वश्रेष्ठ संविधान को निर्धारित करने तथा उसकी स्थापना के साधन की एक भूमिका है। तीसरे प्रकरण के अन्त में अरस्तु यह प्रश्न उठाता है और इसकी भूमिका के रूप में सबसे अधिक वांछनीय जीवन के स्वरूप की खोज करता है।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि चौथे, पाँचवें और छटे प्रकरण में वह वास्तविक संविधानों और उनके विभिन्न प्रकारों, उनके पतन के कारणों तथा उन्हें स्थिर बनाने के साधनों की विवेचना करता है। सातवें और आठवें प्रकरण में वह आदर्श राज्य की रचना पर आता है। परन्तु यहाँ भी हमें आदर्श राज्य का संविधान नहीं, बल्कि राज्य के सम्बन्ध में अरस्तु के आदर्शों का विवरण मिलता है। यहाँ राज्य के संविधान तथा संगठन की अपेक्षा आदर्श राज्य की आवश्यकताओं तथा शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था का अधिक वर्णन मिलता है। ऐसा लगता है कि आदर्श राज्य की रचना में अरस्तु का मन नहीं लगा; इसलिये उसने उसे छोड़ दिया।

आदर्श जीवन— अरस्तु का विचार है कि एक व्यक्ति तथा समस्त समाज के लिये सर्वश्रेष्ठ तथा सब से अधिक वांछनीय जीवन एक सुखी जीवन है। सच्चा आनन्द ज्ञान और धर्म से प्राप्त होता है, केवल बाह्य वस्तुओं से नहीं। बाह्य वस्तुओं का मूल्य केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनात्मक है ; उनकी मात्रा सीमित होनी चाहिये। धन, शक्ति, ख्याति इत्यादि बाह्य चीज़ों की अति होने से लाभ के बदले में और उल्टी हानि हो सकती है। न तो व्यक्ति को और न राज्य को इन चीज़ों के संचय में सीमा का उल्लंघन करना चाहिये।

यह मान लेने पर कि वास्तविक आनन्द एक धर्मशील जीवन व्यतीत करने में है अरस्तु अब इस प्रश्न पर आता है कि परम धर्म विचार में है या कर्म में। कुछ व्यक्ति और राज्य युद्ध तथा विजय के कार्यों में संलग्न रहते हैं क्योंकि दूसरों के ऊपर प्रभुत्व जनहित का बहुत बड़ा अवसर देता है। परन्तु अरस्तु कहता है कि प्रत्येक हालत में दूसरों के ऊपर शासन करना अच्छा नहीं है ; केवल उन्हीं व्यक्तियों को पराभूत करना अच्छा है जो अपने से स्वाभाविक रूप से हीन और निकृष्ट हैं। राजनीतिक शक्ति सर्वोत्कृष्ट शुभ नहीं है, सर्वोच्च क्रिया विचार है। सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए इन दोनों का समन्वय आवश्यक है।

राज्य के आदर्श— ऐसी बातों का उल्लेख करने के बाद अरस्तु अपने आदर्श राज्य का चित्र अंकित करता है और राज्य के लिए आवश्यक भौतिक एवं मानसिक स्थितियों का वर्णन करता है। इन आवश्यकताओं की सूचि अधिकतर 'लॉज़' से ली गई है और इसमें राज्य की जनसंख्या, उसका आकार तथा चरित्र, क्षेत्र तथा उसका आकार, स्थिति और स्वरूप इत्यादि के विशिष्ट विवरण भी दिये हुए हैं। भूगोल, जलवायु, भूमि, निवासियों के स्वाभाविक गुण तथा आदर्श राज्य के ढाँचे का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि जनसंख्या तथा क्षेत्र के दृष्टिकोण से आदर्श राज्य को न अधिक बड़ा होना चाहिये और न अधिक छोटा। यदि राज्य बहुत छोटा होगा तो वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकेगा और यदि बहुत बड़ा होगा तो उसमें एकता स्थापित न हो सकेगी। नागरिकों की जनसंख्या इतनी होनी चाहिये जोकि सब कामों के लिये काफी हो ; परन्तु इतनी अधिक न हो कि सब लोग एक दूसरे से परिचित न रह सकें। उनमें ओज तथा बुद्धि के पूरक गुण होने चाहियें और उन्हें धर्म तथा संस्कृति की साधना करनी चाहिये।

अरस्तु के आदर्श राज्य का वर्णन प्रोफेसर मैकलवेन ने इन शब्दों में किया है : "अरस्तु का सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जिसमें अनुकूल स्थितियों के होते हुए तीसरे प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धांत अधिक से अधिक लागू होते हैं। अरस्तु के अनुसार ऐसा राज्य न तो अधिक अमीर होगा और न अधिक गरीब, वह बाहरी आक्रमण से सुरक्षित होगा ; अधिक धन संग्रह तथा व्यापार या क्षेत्र के प्रसार की इच्छा से वह रहित होगा। वह एकताबद्ध, धर्मशील, सुसंस्कृत, संरक्षणीय होगा ; वह महत्वाकांक्षाओं से परे होगा ; वह स्वपर्याप्त होगा, किन्तु दूसरों पर आक्रमण नहीं करेगा ; वह महान् होगा किन्तु विस्तृत नहीं। वह एक सुसंगठित, छोटा तथा स्वतन्त्र नगर होगा जिसमें सर्वोच्च शक्ति एक सच्चे अभिजात्य वर्ग के हाथ में होगी जिसके सदस्य अपने जीवन को भौतिक चिन्ताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मुक्त रखने में तथा सर्वोत्कृष्ट धर्म तथा संस्कृति के प्राप्त करने में और सब के कल्याण तथा आनन्द की खोज करने में लगे हुए बारी बारी से शासन करेंगे तथा दूसरों का शासन मानेंगे। राज्य की भौतिक आवश्यकतों की पूर्ति वे लोग करेंगे जो धर्माभाव के कारण उच्चतर जीवन तथा राजनीतिक कार्यों के लिए अयोग्य हैं किन्तु अपने से नैतिक, बौद्धिक, तथा इसलिए राजनैतिक रूप से श्रेष्ठतर व्यक्तियों की देखरेख तथा निर्देशन में रह कर शारीरिक कार्य करने के लिए असमर्थ नहीं हैं। ये निम्नतर वर्ग राज्य के जीवन का आवश्यक अंग हैं, परन्तु राजनीतिक रूप से और जैविक दृष्टिकोण से वे उसके भाग नहीं समझे जा सकते, चाहे कानूनी रूप से वे स्वाधीन हों या दास।"*

अरस्तु का यह आदर्श राज्य 'रिपब्लिक' में अंकित आदर्श राज्य से बहुत भिन्न है, किन्तु 'लॉज़' में निरूपित आदर्श राज्य से मिलता जुलता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अफलातून का उपादर्श (Sub-ideal) अरस्तु का आदर्श है। इस में दार्शनिक राजा के निरंकुश शासन तथा पत्नियों और सम्पत्ति के साम्यवाद के लिए कोई जगह नहीं है। इसके विपरीत इसकी विशेषता है कानूनों की प्रभुता तथा एक समुचित और संतुलित मात्रा में धन तथा निजी पारिवारिक जीवन का उपबन्ध। उसने 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य को ठुकरा दिया क्योंकि उसके विचार से राज्य का आधार वास्तविक मानव प्रकृति तथा सम्भावित कानूनों के स्वरूप पर होना चाहिये। इसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक शर्तें असम्भव तथा असाध्य नहीं होनी चाहियें। अफलातून का दोष यह है कि उसने एक ओर तो उन बातों का उन्मूलन करना चाहा जिनकी जड़ मानव स्वभाव में बड़ी गहरी है और दूसरी ओर ऐसी शर्तें लगा दीं जो एक दम असम्भव और अव्यावहारिक हैं। अफलातून तथा अरस्तु के अन्तर को प्रोफेसर मेक्सी के निम्नलिखित शब्दों से अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह लिखते हैं: "अफलातून का राज्य अमूर्त्त विचारों का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप एक दार्शनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्त्तमान समस्त संस्थानों को जड़ से उखाड़ फेंकेगा और संतित शास्त्र तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था में मनुष्यों की एक नवीन तथा श्रेष्ठतर जाति उत्पन्न करेगा; अरस्तु का भवन उस सामग्री से बना है जो पहिले से ही मौजूद है, जिसे अच्छी तरह परखा जा चुका है, अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ प्रयोग कर सकता है जो कि आदर्श से मिलता जुलता नमूना तय्यार करना चाहे। तो भी दोनों विचारकों में एक सा ही नैतिक जोश है, एक सी ही व्यवस्था की चाह, एक सा ही संतुलन का प्रेम, एक सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति आस्था, एक

* McIlwain: *The Growth of Political Thought in the West*, page 89.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सा ही शिक्षा में विश्वास, एक सी ही मानवता में आस्था तथा शुभ जीवन की प्राप्ति के लिये एक सी चिन्तना दिखाई पड़ती है।"*

अरस्तु का विश्वास है कि जनता के नीतिपरायण बन जाने से उसके आदर्श की प्राप्ति हो सकेगी। इसके साथ साथ उसके लिये आवश्यक भौतिक परिवेश की भी वह अवहेलना नहीं करता और विस्तार के साथ उसका विवरण देता है। उसके आदर्श राज्य में व्यवस्थापक का मुख्य कार्य नागरिकों को कुछ आवश्यक आदतें सिखाना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अरस्तु जिन शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं को आवश्यक समझता है उनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं।

———

* "Plato's state is a fabric of abstract ideas to be translated into reality by a philosopher-king who will sweep away all existing institutions and employ genetics and education to create a new and better race of men in a perfect social order; Aristotle's is a fabric of materials already existing, thoroughly tried, well understood, and lying at hand ready for use by any intelligent statesman who dares to try his skill at weaving them into patterns approximating the idea. Yet both thinkers display the same ethical fervour, the same passion for order, the same love for moderation, the same devotion to justice and reason, the same confidence in education, the same faith in humanity, and the same concern for the realization of the good life."

—Maxey: *Political Philosophies*, page 78.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ७

अरस्तु (पिछला शेष)

राजनीतिक वास्तविकतायें

परिचयात्मक— हम पहिले ही कह चुके हैं कि अरस्तु ने जिस नवीन राजनीति विज्ञान की उद्भावना की उसमें केवल आदर्श का अङ्कित करना ही नहीं, वरन् यथार्थ का वर्णन करना भी सम्मिलित है। उसका विचार था कि एक राजनीतिशास्त्री को एक आदर्श रूप से सर्वश्रेष्ठ राज्य के विश्लेषण से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये बल्कि उसे यह निर्णय करना चाहिये कि कौन सी परिस्थितियों में कौन सा राज्य सर्वश्रेष्ठ है। केवल इतना ही नहीं, उसे यह भी बताना चाहिये कि परिस्थिति विशेष में किस प्रकार की सरकार सब से अधिक उपयुक्त होगी। इस बात को निर्धारित करने में कि एक विशेष स्थिति में क्या प्राप्त हो सकता है उसे मनुष्यों के वास्तविक धार्मिक तथा बौद्धिक स्तर का ध्यान रखना चाहिये, उससे अधिक की आशा उनसे नहीं की जानी चाहिये। सैबाइन के शब्दों में "वास्तविक सरकारों का विश्लेषण करना तथा उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करना राजनीतिज्ञता की पूर्ण कला है। नैतिक विचारों को बिल्कुल भुलाकर यह एक आततायी को यह बता सकती है कि वह किस प्रकार अपने अत्याचारों में सफल हो सकता है।"* अरस्तु सचमुच आततायी को शिक्षा देता है कि वह किस प्रकार अपने शासन को अधिक स्थिर और स्थायी बना सकता है।

अरस्तु में नवीन प्रवृत्ति— यह माना जाता है कि राजनीति विज्ञान को अरस्तु की, सब से अधिक स्थायी देन अनुभूतिप्रधान (Empirical) पद्धति को राज्य के घटनाचक्र के अध्ययन में प्रयोग करना है। एक आधुनिक लेखक की तरह वह वास्तविक राज्यों का विश्लेषण करता है, उनके पतन के कारणों का वर्णन करता है और वे किस प्रकार क्रान्तियों से बच सकते हैं इसके लिये सुझाव पेश करता है। यह कहकर कि राज्य के राजनीतिक तथा सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में भेद है वह राज्य तथा समाज में भेद करता हुआ दिखलाई पड़ता है। वह एक बहुत चातुर्यपूर्ण बात यह कहता है कि राज-नीतिक संविधान एक बात है और उस पर किस प्रकार अमल किया जाता है वह दूसरी

* '...... the complete art of the statesman must take governments as they are and do the best it can with the means it has. It might even divorce itself from moral considerations altogether and tell the tyrant how to succeed in tyranny.' —Sabine : *op. ct.*, page 106.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात है। एक ही संविधान को यदि विभिन्न वर्ग कार्यान्वित करें तो उसके विभिन्न परिणाम होंगे। उदाहरणतया एक नवीन औद्योगिक तथा पूंजीवादी वर्ग के अभ्युदय के कारण बीसवीं शताब्दी का अमेरिकन जनतन्त्र प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के जनतन्त्र से कितना भिन्न है। अरस्तु ने और बहुत से विभेद किये हैं जिनसे जाहिर है कि उसने एक समाज में कार्य करने वाली विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का कितना विस्तृत अध्ययन किया था। संविधान को क्रियान्वित करने में सामाजिक वर्गों के इस महत्त्वपूर्ण भाग को स्वीकार करके अरस्तु यह स्वीकार करता हुआ दिखाई पड़ता है कि राज्य विभिन्न हितों वाले वर्गों का समूह है जो कभी कभी सामान्य हित के लिए आपस में सहयोग करते हैं; किन्तु प्रायः अपने निजी हितों की प्राप्ति के लिये एक दूसरे से होड़ करते हैं और वह व्यक्तियों का समूह नहीं है। आज के समाजशास्त्रियों की राज्य के बारे में यही धारणा तो है। सारांश यह कि चौथे, पाँचवें तथा छटे प्रकरण में अरस्तु का दृष्टिकोण समाजशास्त्र सम्बन्धी है, आचारशास्त्र सम्बन्धी नहीं।

जनतन्त्र तथा वर्गतन्त्र के विभिन्न रूपों में उसने जिस प्रकार विभेद किया है उससे भी हमारे उसी तथ्य की पुष्टि होती है कि इन प्रकरणों में अरस्तु का दृष्टिकोण समाजशास्त्र सम्बन्धी है, आचारशास्त्र सम्बन्धी नहीं। इन भेदों का आधार यह है कि राज्य के तीन आवश्यक अंग, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का संगठन किस प्रकार होता है। संविधान का चरित्र तथा उसका वास्तविक व्यवहार इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि इनमें से प्रत्येक अंग का निर्माण किस प्रकार होता है। इन अंगों के रूप तथा कार्य की विभिन्नतायें अनन्त हैं, इसलिए संविधानों के रूप आदर्श रूप से एक से दूसरे मुख्य प्रकार में परिवर्तित होते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कभी कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि अमुक सरकार जनतन्त्री है या वर्गतन्त्री। उदाहरण के लिए जबकि उसका एक अंग जनतन्त्री आधार पर और दूसरा वर्गतन्त्री आधार पर निर्मित हो। उसकी विवेचना में इससे बहुत सी जटिलतायें आ गई हैं, परन्तु एक बात स्पष्ट है किसी सरकार के कार्य करने का ढंग बहुत सी बातों के ऊपर निर्भर करता है, जिन में से कुछ बातें राजनीतिक, कुछ आर्थिक तथा कुछ सामाजिक हैं। अरस्तु की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह राज्य में पाई जाने वाली अगणित सामाजिक तथा राजनीतिक जटिलताओं को देख पाया।

तीसरे प्रकरण में अरस्तु ने जिन छः प्रकार की सरकारों का उल्लेख किया है उन में से केवल जनतन्त्र, धनतन्त्र तथा आततायीतन्त्र की ही उसने विस्तारपूर्वक विवेचना की है; राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र, जिन्हें वह राज्य का आदर्श रूप समझता है, को उसने छोड़ दिया। यहाँ हम उसके जनतन्त्री तथा धनतन्त्री सिद्धान्तों की विवेचना का विवरण देंगे।

जनतन्त्री सिद्धान्त— अरस्तु जनतन्त्र की इस प्रचलित परिभाषा को नहीं मानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जनतन्त्र सरकार का वह रूप है जिसमें सर्वोच्च शक्ति सर्वसाधारण के हाथ में होती है। जनतन्त्र को वह एक ऐसा राज्य समझता है जिसमें प्रभुता ग़रीबों के हाथ में हो जिनका कि राज्य में बहुमत होता है। इसकी परिभाषा यह भी की जा सकती है कि यह वह राज्य है जिसका आधार नागरिक समानता तथा स्वतन्त्रता है। समान होने के लिये शासन कार्य में नागरिकों को समान अधिकार मिलने चाहियें। स्वतन्त्र होने के लिये प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किसी को भी दूसरे को आदेश देने का अधिकार नहीं है। किन्तु किसी हद तक आदेश देना और शासन करना अपरिहार्य है, इसलिये उसी हद तक आज्ञा देने का अधिकार तथा आज्ञापालन का कर्त्तव्य सब का होना चाहिये। यह तभी सम्भव है जबकि नागरिक बारी बारी से शासन करें और शासित हों। यह संविधान जनतन्त्री है जिसके अन्तर्गत राज्य के विभिन्न पदों के लिए निर्वाचन का आधार वयस्क मताधिकार हो और निर्वाचन या तो पाँसे डाल कर हो या नम्बरवार हो। निर्वाचन के लिए आवश्यक योग्यता का आधार सम्पत्ति या तो बिल्कुल न हो या हो तो सम्पत्ति की मात्रा नगण्य हो। पदों का कार्यकाल छोटा होना चाहिये ताकि सभी लोग उसमें भाग ले सकें। व्यवसायिका का अधिकार-क्षेत्र व्यापक तथा कार्यपालिका का परिमित होना चाहिये।

जनतन्त्र की उपरोक्त विशेषतायें विभिन्न राज्यों में विभिन्न मात्रा में पाई जाती हैं और किसी राज्य विशेष में इनमें से कुछ या सब हो सकती हैं। मत देने के अधिकार, पद के लिए खड़े होने के अधिकार, तथा जनता की जीवन पद्धति और पेशे के आधार पर अरस्तु जनतन्त्र के पाँच भेद करता है। अरस्तु किसानों के जनतन्त्र को सर्वोत्तम समझता है क्योंकि किसान लोग शासन में मध्यम भाग से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। यदि उन्हें न्यायाधीशों को चुनने, उन्हें उत्तरदायी ठहराने तथा न्याय प्रदान के कार्य में भाग लेने का अधिकार दे दिया जाये तो वे पूर्ण रूप से संतुष्ट हो जाते हैं। उनके पास अधिक अवकाश नहीं होता, इसलिये सरकार का वास्तविक कार्य वे दूसरों के ही हाथों में छोड़ देते हैं। वह श्रमिकों तथा शिल्पकारों के जनतन्त्र को सबसे अधिक नापसन्द करता है क्योंकि उसमें जनप्रिय शक्ति और कुशल प्रशासन का सम्मिश्रण करना बड़ा कठिन होता है जो कृषक जनतन्त्र में बड़ी सरलता से हो जाता है। अरस्तु के अनुसार जनतन्त्र का मुख्य दोष यह है कि यह निरपेक्ष समानता के लिए अनुपातिक समता का परित्याग कर देता है और प्रत्येक नागरिक को समान सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। अधिक तफ़सील में जाना आवश्यक नहीं है।

धनतन्त्री सिद्धान्त— धनतन्त्र, जैसा कि इसके नाम से प्रगट है, धनिक वर्गों का शासन है। इसके भी नम्र और उग्र बहुत से रूप हैं। इसके नम्रतम रूप में सम्पत्ति की सीमा इतनी ऊँची रक्खी जाती है कि जिसके कारण गरीब नागरिकों को राजनीतिक क्षेत्र में कोई भाग नहीं मिल पाता; किन्तु जिनके पास निर्धारित भाग में सम्पत्ति होती है उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य शक्ति में भाग लेने की स्वतन्त्रता रहती है। इसका आधार काफी विस्तृत होता है। इसके उग्र रूप में एक वंशानुगत (Hereditary) शासक वर्ग होता है जो कानून के सारे नियन्त्रण को धूल में मिला देता है और उच्छृङ्खलता से मनमाना राज करता है। यदि जनतन्त्र की मुख्य समस्या जनशक्ति तथा कुशल शासन का सम्मिश्रण करना है तो धनतन्त्र की मुख्य समस्या यह है कि थोड़े से व्यक्तियों में शासन सत्ता रहते हुए भी उसे उत्पीड़क और भ्रष्ट होने से कैसे बचाया जाये। गरीबों की धृष्टता की अपेक्षा अमीरों के प्रवाह को रोकना अधिक कठिन है, इसीलिये जनतन्त्र की अपेक्षा धनतन्त्र को संयत रखना अधिक दुष्कर है।

मध्यवर्गतन्त्र (Polity)— जनतन्त्र और धनतन्त्र, इन दोनों में कुछ गम्भीर दोष हैं जो उनके उग्र रूपों में और अधिक स्पष्ट और नग्न हो उठते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये अरस्तु इन दोनों संविधानों का एक नया सम्मिश्रण तैयार करता है जिसे वह मध्य-वर्गतन्त्र कहकर पुकारता है। यह धनतन्त्र से मिलता जुलता जनतन्त्र और जनतन्त्र से मिलता जुलता धनतन्त्र है। यह गरीब और अमीर में एक संतुलन स्थापित करता है और इन दोनों की अपनी अपनी सरकारों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में सामंजस्य करने का प्रयास करता है।

धनतन्त्र में मुट्ठी भर अमीर और जनतन्त्र में सर्वसाधारण गरीब शासन करते हैं; मध्यवर्गतन्त्र में मध्यमवर्ग की प्रभुता रहती है। मध्यमवर्ग में वे लोग होते हैं जो न अधिक अमीर हों और न अधिक गरीब, जिनके पास साधारण सम्पत्ति हो। यह वर्ग अमीर गरीब दोनों को मिलाकर भी इनसे बड़ा होना चाहिये; कम से कम इनमें से एक एक से तो वह बड़ा होना ही चाहिये। एक बड़ा और सुसंगठित मध्यमवर्ग राजनीतिक जीवन में बड़ा अच्छा प्रभाव डालता है; वह संतुलन स्थापित करता है और परस्पर विरोधी ध्रुवों को संयत रखता है। वह जनतंत्र के मुख्य दोष अकुशलता और धनतंत्र के अभिशाप उत्पीड़न को रोकता है। मजिस्ट्रेटों, तथा अन्य प्रशासकीय और न्यायिक अधिकारियों के चयन में पांसे के प्रयोग का तिरस्कार करके और इन पदों को अनुभवी और योग्य व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रख कर यह कुशासन के दोष को दूर करता है। मजिस्ट्रेटों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाकर यह शासन को उत्तरदायी बनाता है। इस प्रकार यह गुण तथा संख्या के सिद्धान्तों में ऐक्य स्थापित करके एक सुव्यवस्थित एवं स्थायी शासन की स्थापना करता है। इस में सार्वजनिक पद प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता या तो है ही नहीं या बहुत साधारण है। यह मताधिकार उन्हें देता है जो कि शस्त्र रख सकते हैं।

अरस्तु के अनुसार मध्यवर्गतन्त्र एक अच्छी शासन प्रणाली है। उसे वह आदर्श रूप से सर्वश्रेष्ठ तो नहीं समझता क्योंकि इसमें विशुद्ध धर्म का शासन नहीं होता; किन्तु साधारणतया और व्यवहार-जगत में यह निश्चित रूप से सर्वोत्तम है, ऐसा वह मानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह मध्यम गुण का है; यह धनतंत्र तथा जनतंत्र के उग्र रूप के बीच में है। यह जनतंत्री है क्योंकि इसमें बहुमत की चलती है; यह कुलीनतंत्री है क्योंकि इसमें पदों का वितरण सदाचार या योग्यता के अनुसार होता है। यह अच्छा है क्योंकि इसमें मध्यम जीवन की सिद्धि होती है जो कि मध्यवर्ग के साथ सम्बद्ध है। अमीर लोग उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हो सकते हैं और गरीब लोगों में कटुता और अपराध वृत्ति उत्पन्न हो सकती है; किन्तु साधारण सम्पत्ति वाले लोगों में न तो अमीरों के धन का लोभ होता है और न स्वयं उनके प्रति गरीबों को ईर्ष्या होती है। इसके अतिरिक्त मध्यमवर्ग के लोग ही सच्चे अर्थों में शासन करना और स्वतन्त्र मनुष्यों के रूप में आज्ञा पालन करना जानते हैं। इसलिये इसका शासन स्थिर और स्थायी हो सकता है। मध्यमवर्ग के शासन में मित्रता, समता तथा न्याय जैसे सुन्दर गुण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं; इसमें न तो धनी दरिद्र को लूटता है और न दरिद्र धनी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है। गृह कलह और परस्पर संघर्ष से, जो कि धनतन्त्र तथा जनतन्त्र को कलंकित करते हैं, यह स्वतन्त्र रहता है। इसमें सर्वत्र सन्तोष, एकता और सामंजस्य का वातावरण रहता है जिसमें सरकार का स्थायी होना स्वाभाविक ही है। सारांश यह कि यह जनतन्त्र तथा धनतन्त्र के वीच का मार्ग है। ऐसा लगता है कि अरस्तु ने इसके द्वारा आचार शास्त्र के "संतुलन" और "संयम" (Mean and Moderation) के सिद्धान्त को व्यवहारिक राजनीति जगत् में प्रतिष्ठित किया है। यह वह मापदण्ड है जिसके द्वारा वह वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन करता है। सर्वश्रेष्ठ धनतन्त्र वह है जिसमें शासक वर्ग सब से कम धनी है और सर्वश्रेष्ठ जनतन्त्र वह है जिसमें जनसाधारण सब से कम गरीब है। स्वयं अरस्तु के शब्दों में उन नगरों (राज्यों) में अच्छी सरकार होने की सम्भावना सब से अधिक है जिनमें कि एक बड़ा मध्यवर्ग हो और जो यदि हो सके तो अन्य दोनों वर्गों के योग से बड़ा हो, अन्यथा उनमें से प्रत्येक से तो अवश्य बड़ा हो।

मध्यवर्गतन्त्र की प्रधान विशेषता यह है कि उसका संविधान मिश्रित (Mixed) है। मिश्रित संविधान की धारणा अरस्तु ने अफलातून से पाई थी; परन्तु इन दोनों के विचारों में बड़ा अन्तर है। मिश्रित संविधान से अफलातून का तात्पर्य यह था कि विभिन्न संविधानों के तत्वों और संस्थानों को मिलाकर एक नवीन संविधान तैयार किया जाये। 'लॉज़' में प्रतिपादित मिश्रित राज्य राजतन्त्र तथा जनतन्त्र का सम्मिश्रण है। अरस्तु का मध्यवर्गतन्त्र धनतन्त्र तथा जनतन्त्र के कुछ तत्वों का सम्मिश्रण नहीं है; वह विभिन्न सामाजिक तत्वों का सम्मिश्रण है क्योंकि इसमें राजनीतिक शक्ति कई सामाजिक वर्गों में विभक्त रहती है। इसमें शक्ति के ऊपर विभिन्न और परस्पर विरोधी दावों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। अपने मिश्रित संविधान में अरस्तु का उद्देश्य न्याय और तद्जनित सामाजिक एकता को प्राप्त करना था। मान्यता के पात्र विभिन्न सामाजिक दावों को मान्यता प्रदान करके वह अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोलीबियस तथा सिसरो के मिश्रित संविधानों का उद्देश्य भी एकता तथा स्थिरता की प्राप्ति था; और वे इस लक्ष्य की सिद्धि नियन्त्रण तथा संतुलन की व्यवस्था द्वारा कराना चाहते थे। मान्टेस्क्यू का सिद्धान्त अरस्तु की अपेक्षा पोलिबियस के अधिक निकट है। वह शक्ति को सीमित करके स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना चाहता है।

आततायीतंत्र (Tyranny)— अरस्तु ने आततायीतंत्र के ऊपर एक छोटा सा अध्याय लिखा है। वह उसे राजतन्त्र का भ्रष्ट रूप और सरकार का निकृष्टतम रूप मानता है। वह इसके तीन मुख्य भेद करता है जिनमें से दो में राजतन्त्र का कुछ तत्व रहता है। तीसरे प्रकार में एक निरंकुश व्यक्ति अनुत्तरदायी ढंग से शासन करता है और उसके शासन का उद्देश्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि है, प्रजा का हित नहीं। यही वास्तविक आततायी-तन्त्र है। इसका आधार पशु बल है; कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य इसके अधीन नहीं होना चाहता। हमें यह याद रखना चाहिये कि यूनानियों के लिये आततायीतन्त्र का अर्थ सदा ही कुशासन नहीं होता था; यह उनके लिए एक पारिभाषिक (Technical) शब्द था जिसका अर्थ निरंकुश और मनमाना शासन है। एक आततायी जनता का हितैषी हो सकता था और यूनान में सचमुच कुछ आततायी ऐसे हुए हैं जिनका शासन जनता के लिये कल्याणकारी था।

सरकार के अंग (Organs of government)— विभिन्न प्रकार की सरकारों की विवेचना के बाद अरस्तु सरकार के तीन प्रधान और आवश्यक अंगों का क्रमबद्ध विश्लेषण करता है। ये अङ्ग तीन हैं: (१) नीतिनिर्धारक सभा; (२) न्यायरक्षकों की व्यवस्था; तथा (३) न्यायालय। ये तीनों आज की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के समानान्तर हैं, किन्तु उनके बिल्कुल अनुरूप नहीं है। प्रत्येक अंग का संघटन नाना प्रकार से हो सकता है; उनके कार्य भी विभिन्न राज्यों में बहुत भिन्न भिन्न होते हैं। इनके रूप तथा कार्यों की विभिन्नता पर ही विभिन्न संविधानों की विशेषतायें निर्भर करती हैं। विभिन्न प्रकार के संविधान अदृश्य रूप से रूपपरिवर्तन कर लेते हैं क्योंकि उनकी विभिन्नतायें असंख्य और असीम हैं। इनका अधिक विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है।

क्रांतियाँ: उनके कारण, इत्यादि (Revolutions: their causes, etc)— यूनानी राजनीतिक जीवन की सब से बड़ी विशेषतायें अस्थिरता तथा परिवर्तन थे। लगभग प्रत्येक नगर राज्य विभिन्न शासन प्रणालियों, राज्यतंत्र, धनतंत्र, जनतन्त्र और आततायीतन्त्र में गुज़र चुका था। इसके कारण अरस्तु को अपनी अनुभूतिमूलक (Empirical) पद्धति अपनाने के लिये समुचित सामग्री मिल गई। उसने देखा कि धनतन्त्र और जनतन्त्र दोनों अस्थिर और संतुलनहीन अवस्था में थे; वे दोनों ही अपने अपने सिद्धांतों को अति पर पहुँचाकर विनाश की ओर प्रवृत्त थे। इसलिये उसने कुछ ऐसे सुझाव रक्खे हैं जिन पर आचरण करके धनतन्त्रवादी तथा जनतन्त्रवादी अपनी शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाये रख सकते हैं और क्रान्तिकारी परिवर्तनों से अपने शासन की रक्षा कर सकते हैं। वह आततायी तक को अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के उपाय बतलाता है। ऐसा करके वह राजनीति शास्त्र को आचार शास्त्र से अलग कर देता है। यहाँ वह मैकाइवली (Machiavelli) के निकट आ जाता है। यहाँ राजनीति और आचार शास्त्र में पृथक्करण हो जाता है।

राजनीतिक स्थिरता के उपाय खोजने के लिये राजनीतिक परिवर्तन और उलट पुलट के कारणों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इसी के कारण अरस्तु परिवर्तन को रोकने के लिये आवश्यक उपायों का भी विचार करता है। 'पॉलिटिक्स' का एक पूरा का पूरा प्रकरण संविधानों में परिवर्तन के सामान्य कारणों तथा प्रत्येक संविधान में परिवर्तन होने के ढंग की विवेचना से भरा पड़ा है। दूसरे प्रकरण में अरस्तु ने उन साधनों का संकेत किया है जिनके द्वारा प्रत्येक संविधान विशेष को सुरक्षित और स्थायी बनाया जा सकता है। 'पॉलिटिक्स' के विभिन्न संस्करणों में इन प्रकरणों का क्रम और संख्या अलग अलग है।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि अरस्तु जिन परिवर्तनों का अध्ययन कर रहा है वे आज जैसी राज्यक्रांतियाँ, जैसे कि फ्रांस की क्रांति और रूस की क्रांति नहीं हैं, उसका अभिप्राय संविधान में हरेक छोटे बड़े परिवर्तन से है। एक नम्र जनतन्त्र का उग्ररूप धारण कर लेना या उसका उलटा हो जाना, संविधान में संशोधन होना, सरकार में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना ही एक आततायी के बदले में दूसरे की सत्ता प्राप्त कर लेना, जनतन्त्रवादियों द्वारा धनतन्त्र को उखाड़ फेंकना या धनतन्त्रवादियों द्वारा जनतन्त्र को नष्ट कर देना, इन सभी बातों को अरस्तु समान रूप से क्रांति समझता है। उसके लिए संविधान में कोई भी परिवर्तन सामाजिक और राजनीतिक क्रांति थी; राजनीतिक स्थिरता का अर्थ समाज की एक व्यवस्था थी जिसमें कोई अदल बदल न हो। अफलातून और अरस्तु जनता की अपने कानूनों में परिवर्तन करने की इच्छा की निन्दा करते हैं; वे नागरिकों में कानूनप्रियता के गुण की सराहना करते हैं। यह भी याद रहे कि राजनीतिक परिवर्तनों की विवेचना करते समय अरस्तु ने मानव चरित्र के क्रमिक और बढ़ते हुए पतन का अध्ययन नहीं किया जोकि अफलातून का 'रिपब्लिक' के आठवें और नवें प्रकरण में मुख्य अध्ययन विषय रहा है। उसने अपने गुरु की वियोजक पद्धति (*A priori*) का तिरस्कार किया और अनुभूतिप्रधान तथा ऐतिहासिक ढंग से विषय की विवेचना की। तीक्ष्ण तथा विस्तृत पर्यवेक्षण, इतिहास के गहरे अध्ययन में उसने अपनी गहरी कल्पना दृष्टि से काम लिया है। सैबाइन ने ठीक ही कहा है कि इस विषय से सम्बन्धित 'पॉलिटिक्स' के पृष्ठ यह जाहिर करते हैं कि अरस्तु का यूनानी शासन पद्धति पर कितना अधिकार है और उसकी राजनीतिक सूझ बूझ कितनी गहरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरस्तु कहता है कि राजनीतिक उलट पुलट का साधारण कारण वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष होता है। यह असन्तोष चाहे व्यापक हो, चाहे किसी समूह विशेष तक सीमित हो, हर हालत में इसकी अभिव्यक्ति हिंसा द्वारा होती है। विद्रोह को या तो दबा दिया जाता है, या वह सफल होकर वर्तमान शासन व्यवस्था को पलट डालता है, जैसे कि धनतन्त्र जनतन्त्र में और जनतन्त्र धनतन्त्र में वदल जाता है। कभी कभी इस परिवर्तन का परिणाम केवल यह होता है कि एक शासक या शासक समूह का स्थान दूसरा शासक या शासक समूह ले लेता है। कभी कभी इसका अर्थ संविधान में संशोधन होता है, जैसा कि नम्र जनतन्त्र का उग्र जनतन्त्र वन जाना। सारांश यह कि अरस्तु के अनुसार क्रांतियां के कई रूप और मात्रायें हैं।

क्रांतियों के कारण— क्रांतियों का कारण चाहे तो शासन के विरुद्ध व्यापक असन्तोष हो, चाहे कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की स्वार्थभावना; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका जन्म सदैव मनुष्य के मस्तिष्क में होता है। "क्योंकि न्याय और मित्रता राज्य के नैतिक आधार हैं; इसलिये अन्याय और दुर्भावना असन्तोष और अस्थिरता के सब से बड़े कारण हैं। आनुपातिक समता तथा उचित व्यवहार का अभाव न्याय को नष्ट कर देता है और नगर को गुटवन्दियों में विभक्त कर देता है। जब समाज का कोई वर्ग यह अनुभव करने लगे कि उसके अधिकारों को कुचला जा रहा है और उसके साथ अन्याय किया जा रहा है तो समाज में सौहार्द की भावना नहीं रह सकती।"* धनतन्त्र में सर्वसाधारण इसलिये विक्षुब्ध रहते हैं क्योंकि वह यह महसूस करते हैं कि शासकों के समान होने के वावजूद भी हमारा उचित अधिकार हमें नहीं मिलता। इसी प्रकार जनतन्त्र में वर्गतन्त्रवादी इसलिये रुष्ट और विद्रोह के लिये उतारू रहते हैं क्योंकि वह यह महसूस करते हैं कि धन तथा दूसरी वातों की श्रेष्ठता के अनुसार राजनीतिक शक्ति में हमें भाग नहीं मिलता। इस प्रकार न्याय के सम्बन्ध में विभिन्न वर्गों की विभिन्न धारणायें उनमें क्रांतिकारी भावनाओं को जन्म देती हैं। सारांश यह कि राजद्रोह अथवा क्रांति का आधारभूत कारण अन्याय अर्थात यह वात है कि एक वर्ग को उचित से कम और दूसरे को अधिक मिलता है।

क्रान्तिकारियों का उद्देश्य लाभ तथा सम्मान प्राप्त करना है। अपने तथा अपने साथियों को हानि और अपमान से वचाने की इच्छा भी क्रांतिकारियों को प्रेरित करती

* "Since justice and friendship are the moral bases of the state, injustice and illwill are the most potent causes of discontent and instability. The absence of proportionate equality, of a fair deal, leads to a lack of justice and splits the city into factions. There can be no fellow feeling when section of the community is convinced that its rights are being denied to it and that justice is not being done."

—Sinclair : *A History of Greek Political Thought*, page 229.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। दूसरों की समृद्धि और प्रतिष्ठा को देखकर होने वाला रोष, कुछ व्यक्तियों की अनुचित ख्याति, अधिकारियों का अपमानजनक व्यवहार और हानि का भय इत्यादि इत्यादि वे कारण हैं जो मानव मस्तिष्क में क्रांति के बीज बोते हैं। चुनावों में धोखा-धड़ी, लापरवाही के साथ राज्य के पदों पर राजद्रोही व्यक्तियों को बैठाना, छोटे छोटे परिवर्तन करने में आलस्य करना तथा राज्य के किसी भाग में अनुपातहीन वृद्धि हो जाना ऐसे अवसर हैं जो क्रांतिकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। ये कारण दैवयोग से उत्पन्न हो जाते हैं जबकि पहिले कारण स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहते हैं। अरस्तु कहता है कि इनके अतिरिक्त पशु बल और धोखे का भी क्रांतियों के लाने में अपना भाग होता है।

क्रांतियों के उद्देश्य, कारणों तथा अवसरों की उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि अरस्तु के विचार से क्रांतियों के लाने में आर्थिक कारणों का कोई मुख्य भाग नहीं होता। वह यह नहीं कहता कि क्रांतियों का कारण दरिद्रता या ऋण समाप्त कराने अथवा भूमि का फिर से बटवारा करने के लिये चलाया गया आन्दोलन है। राजनीतिक अन्याय ही राजद्रोह के लिये उत्तरदायी है। धन इतिहास का निर्माण नहीं करता; सम्मान की असमानता धन की असमानता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य लाभ और सम्मान वाले उचित स्थानों को प्राप्त करने के लिए विद्रोह करते हैं और उनका ग़लत प्रयोग करने वालों को दण्ड देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मार्क्स' द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या से अरस्तु के विचारों की ताल नहीं बैठती।

आगे चल कर अरस्तु विभिन्न संविधानों में परिवर्तन और क्रांति होने के कारणों का विश्लेषण करता है। जनतन्त्रवाद में क्रांतियों का एक सामान्य कारण यह है कि वाग्वीर लोग (Demagogues) धनिकों की व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से निन्दा करते हैं। धनतंत्र में क्रांति का एक कारण शासकों द्वारा सर्वसाधारण के साथ अन्याय करना और उसे उत्पीड़ित करना है और दूसरा कारण स्वयं शासकवर्ग में फूट का होना है। कुलीन-तंत्र में क्रांतियों का सामान्य कारण शासकवर्ग को संकुचित और सीमित कर देने की नीति है। मध्यवर्गतंत्र के रोग का कारण संविधान में संयुक्त विभिन्न तत्वों में संतुलन भंग होना है। आतताइयों के विरुद्ध विद्रोह का कारण यह है कि उनके अपमानजनक तथा उत्पीड़क व्यवहार के विरुद्ध लोग उनसे घृणा करने लगते हैं। आततायीतंत्र के विनाश में उनके विपरीत प्रकार के पड़ौसी राज्य के प्रभाव का विशेष हाथ होता है। क्रांतियों के कारणों और अवसरों का वर्णन करते समय अरस्तु का ध्यान विदेशी प्रभाव की अपेक्षा आन्तरिक कारण पर ही अधिक लगा हुआ है, यद्यपि बाहरी प्रभाव की भी उसने पूर्ण अवहेलना नहीं की है। अरस्तु के अनुसार धनतंत्र की अपेक्षा जनतंत्र अधिक सुरक्षित और स्थिर है; इसमें राजद्रोह का भय कम रहता है। इसका कारण यह है कि जनतंत्र में राजद्रोह का स्रोत केवल एक ही है और वह धनतंत्रवादियों का भय, जबकि धनतन्त्र में यह भय दो कारणों से उत्पन्न होता है, धनतंत्रवादियों का पारस्परिक कलह तथा जनतंत्र-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादियों का द्वेष : जनतंत्रवादी दल में मत वैभिन्य कोई विशेष नहीं होता। जनतंत्र मध्य-वर्गतंत्र के भी कुछ अधिक निकट है जिसे अरस्तु सर्वश्रेष्ठ व्यवहारणीय संविधान समझता है।

क्रांतियों के विरुद्ध अहतियात (Precautions against Revolutions)— अरस्तु की क्रांतियों को रोकने के साधनों की विवेचना भी उतनी ही ज्ञानपूर्ण है जितना कि उसका उनके कारणों का विश्लेषण। कुछ सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त वह विभिन्न संविधानों के अपने अपने विशेष रोगों के उपचार के लिये सुझाव रखता है। 'पॉलिटिक्स' की दूसरी पुस्तक में वह इसी समस्या की समीक्षा करता है कि संविधान को अधिक सुरक्षित रखने के क्या साधन हैं।

अन्याय भावना क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाला सबसे बड़ा और सबसे अधिक आधारभूत कारण है। इसलिये क्रांतियों को रोकने के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक अन्याय की भावना को जनता में फैलने से रोका जाये या यदि फैली हुई हो तो उसको दूर किया जाये। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि संविधान का आधार समस्त नागरिकों की रज़ामन्दी हो और एक नम्र भावना के साथ उसके ऊपर आचरण किया जाये। यदि समस्त नागरिक भी किसी संविधान का समर्थन न कर सकें तो एक बड़े बहुमत का समर्थन तो उसे अवश्य प्राप्त होना चाहिये। जो लोग दीनावस्था में हैं उनके साथ कोई धोखा या गैरकानूनी व्यवहार नहीं होना चाहिये और शासकों और शासितों में अच्छे सम्बन्ध रहने चाहियें। सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यतायें समय समय पर बदली जानी चाहियें और किसी भी व्यक्ति या वर्ग को अत्यधिक शक्तिशाली नहीं होने देना चाहिये। मजिस्ट्रेटों के पद को लाभ का साधन कभी नहीं बनने देना चाहिये। दूसरी महत्वपूर्ण बात जनता के हृदय में संविधान के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावना जाग्रत करना है। यह कार्य शिक्षा द्वारा सरलता से हो सकता है। शासन प्रणाली के अनुसार ही शिक्षा होनी चाहिये। लोगों को यह सिखाया जाना चाहिये कि उन्हें ऐसे कार्य करने चाहियें जिनसे कि संविधान सुरक्षित रहे, चाहे वह राजतन्त्री हो, कुलीनतन्त्री हो या अन्य किसी प्रकार का हो, और केवल शासकों को प्रसन्न करने वाले ही कार्य उन्हें नहीं करने हैं। तीसरे, उनमें कानून का पालन करने की आदत उत्पन्न करनी चाहिये। छोटी मोटी बातों में भी कानूनहीनता नहीं आने देनी चाहिये। अगली बात यह कि छोटे छोटे परिवर्तनों के परिणामों को भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। अरस्तु यथापूर्व स्थिति (Status quo) से तनिक भी इधर उधर हटना खतरनाक समझता है। साधारणतया छोटी छोटी बातों को लेकर दलगत कलह उठ खड़े होते हैं; परन्तु उनका परिणाम हो सकता है आमूलचूल क्रांतियों का खड़ा हो जाना।

प्रत्येक प्रकार की सरकार का विनाश उसकी अपनी अति के कारण होता है, इस लिये सरकार को अपने अधिकार-प्रयोग में सदा नम्रता और संतुलन से काम लेना चाहिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रत्येक नागरिक के साथ न्यायपूर्वक बर्तना चाहिये। कुलीनतन्त्र और धनतन्त्र एक सीमा तक जनतन्त्र की प्रवृत्ति तथा कुछ संस्थानों को अपनाकर संतुलित रह सकते हैं। पद, पुरस्कार तथा सम्मान का वितरण अधिक से अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिये। किसी को भी यह सोचने का अवसर नहीं मिलना चाहिये कि राजनीतिक पदों पर कुछ थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार है और शेष के लिये उनका दरवाजा बन्द है। राज्याधिकारियों की स्वार्थ भावना तथा रिश्वतखोरी को असम्भव बनाकर प्रशासन को बिल्कुल स्वच्छ रखना चाहिये। ऐसा करने के लिए जनता को प्रशासन की जाँच पड़ताल करने का अधिकार देना आवश्यक है। समाज के किसी भी वर्ग को दूसरों का शोषण और उत्पीड़न करने का अवसर नहीं मिलना चाहिये। सारांश यह कि राज्य की स्थिरता के लिये अरस्तु जनता के सहयोग, सन्तोष और सहानुभूति को आवश्यक समझता है। जनता से धोखाधड़ी और छलछद्म करना वह पसन्द नहीं करता। जनता को सन्तुष्ट रखने के लिये वह ऐसे सस्ते ढंग अपनाना नहीं चाहता जैसे कि दूसरे देशों से लड़ाई छेड़ कर आन्तरिक दोषों की ओर जनता का ध्यान जाने से रोकना।

आगे चलकर अरस्तु विभिन्न प्रकार की सरकारों में से प्रत्येक को स्थिर रखने के साधनों पर विचार करता है। सरकार विशेष को कैसे साधन अपनाने चाहियें, यह इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि उसमें उलट पलट करने वाला कारण क्या है। उदाहरण के लिए एक मध्यवर्गतन्त्र को सुरक्षित और सुस्थिर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जनतन्त्री और धनतन्त्री तत्त्वों में समुचित सामंजस्य और सम्मिश्रण किया जाये तथा परिवर्तन करने वाली नई स्थितियों का आरम्भ में ही पता लगाया जाये और उनका प्रतिकार किया जाये। कुलीनतन्त्र और धनतन्त्र का हित इस बात में है कि सर्वसाधारण के साथ न्यायपूर्ण बर्ताव किया जाये और किसी एक व्यक्ति को अत्यधिक शक्तिशाली न होने दिया जाये। धनतन्त्र में गरीबों को प्रशासन के ऐसे कार्य दे देने चाहियें जिनसे राज-सत्ता के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जनतन्त्र में धनिक का शोषण नहीं होना चाहिये; उनके सिर पर सम्पत्ति के पुनर्वितरण की तलवार नहीं लटकनी चाहिये। एक आततायी के लिये अपने शासन को सुदीर्घ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे वह राजतन्त्र के गुणों से विभूषित करे; अर्थात् अपने नगर (राज्य) को सजाये, सार्वजनिक उपासना में भाग ले, सज्जन का सम्मान करे, अपनी इन्द्रियों पर संयम रक्खे और अधिक से अधिक जनता का समर्थन प्राप्त करे। उसने कुछ अन्य साधन भी जताये हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं।

अरस्तु में यूनानी तथा विश्वव्यापक तत्त्व (The Hellenic and the Universal in Aristotle)— अरस्तु के विचार की उपरोक्त समीक्षा करते समय हम कई बार कह चुके हैं कि उसके विचार पर एक गहरी छाप उस ऐतिहासिक गवेषणा की पड़ी है जो उसने डेढ़ सौ से अधिक संविधानों की की है। सरकार के विभिन्न रूपों तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतियों के विशेष और सामान्य कारणों का जो विश्लेषण उसने किया है उससे स्पष्ट है कि यूनानी सरकारों का उसने कितना गहरा अध्ययन किया था। इसलिये उसके विचार में एक बड़ी हद तक यूनानी तत्त्व का आना स्वाभाविक ही है। उसका यह विश्वास कि नगर राज्य सामाजिक संगठन का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्कृष्ट रूप है, उसकी दास प्रथा की वकालत, उसका शिल्पकारों तथा श्रमिकों को नागरिकता से वंचित रखना, उसका शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देना और उसकी यह धारणा कि यूनानी लोग अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं; उसके विचार के यूनानी तत्त्व हैं। उनमें से अधिकतर विश्वास अफलातून के भी थे। उनमें से अधिकतर धारणायें ऐसी हैं जिनका महत्त्व हमारे लिये कुछ नहीं रहा; उनसे बाद में होने वाली घटनाओं ने उनका महत्त्व बहुत कम कर दिया। इनके अतिरिक्त उसके राजनीतिक दर्शन में कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जिनका चरित्र विश्वव्यापक है, जो आज भी उतने ही सही हैं जितना कि अरस्तु के युग में थे। उनकी खोज तथा निर्माण राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन है। उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवरण हम यहाँ देते हैं।

(१) यद्यपि इस स्वयंसिद्ध सत्य का कि 'मनुष्य राजनीतिक प्राणी है' आदि प्रवर्तक अरस्तु नहीं था; यह तो यूनानी राजनीतिक विचार की आधारभूत धारणा है और आधुनिक विचार को उसकी एक देन है; किन्तु अरस्तु सब से पहिला विचारक था जिसने इसे एक औपचारिक और ज़ोरदार ढंग से अभिव्यक्त किया। यह सच है कि यह अफलातून के समस्त चिन्तन का आधार है; किन्तु उसने इसे औपचारिक अभिव्यक्ति नहीं दी।

(२) यही बात अरस्तु के दूसरे इस मुख्य सिद्धान्त, कि राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ और शुभ और सुखी जीवन के लिये वह अब तक जीवित है, के विषय में कही जा सकती है। यह अफलातून के विचार का आधार है; किन्तु अरस्तु ने ही इसे ऐतिहासिक अभिव्यक्ति दी। मानव जीवन में राज्य के भाग को इससे सुन्दर शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

(३) अरस्तु वह पहिला विचारक था जिसने सबसे पहिले यह महसूस किया कि राजनीति की अन्तिम समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता में सामंजस्य स्थापित करना है। अरस्तु के पहिले शायद किसी भी विचारक का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया था। वह नहीं मानता कि स्वतन्त्रता का अर्थ मनमाने ढंग से जीवन व्यतीत करना है। वह कहता है कि संविधान के अनुसार रहना दासता नहीं मुक्ति है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता की परिभाषा सच्चे कानून का पालन करना है। कानून की प्रभुता, कानून को विशुद्ध बुद्धि समझना तथा सरकार को कानून द्वारा सीमित करने की जो धारणायें अरस्तु की हैं उनमें स्वतन्त्रता तथा सत्ता का सामंजस्य निहित है। यह उसके इस कथन में भी निहित है कि सरकार के आचरण का अंतिम निर्णय करने का अधिकार समस्त जनता का होना चाहिये और यह कि सर्वसाधारण का मत विशेषज्ञ के निर्णय से अच्छा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरस्तु ने यह प्रश्न उठाकर और उसका हल निकालने का प्रयत्न करके सचमुच एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, भले ही यूनान के नगर राज्य इस समस्या का हल न कर पाये हों।

(४) इसी से जुड़ा हुआ और इसी में निहित अरस्तु का संविधानवाद (Constitutionalism) के ऊपर ज़ोर देना है। इस एक शब्द संविधानवाद, में वह सब कुछ समाविष्ट है जो यूरोप तथा आज के संसार के विचार को 'पॉलिटिक्स' से उत्तराधिकार में मिला है। कानून को सर्वप्रभुत्वपूर्ण बनाकर तथा सरकार को कानून के अधीन करके अरस्तु संसार भर के संविधानवादियों का जनक बन गया। सन्त टॉमस का कानून के प्रति सम्मान और संविधानवाद मुख्य रूप से अरस्तु की प्रेरणा का ही परिणाम है। "अरस्तु ने सन्त टॉमस को सिखाया : सन्त टॉमस के द्वारा उसने कैथोलिक यूरोप को सिखाया : सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हूकर को भी सिखाया जिसके कानून तथा सरकार के सिद्धान्त का उद्गम यही है ········ न्यायप्रिय हूकर लॉक के शिक्षकों में से एक था ········· लॉक का सिद्धान्त बर्क को मिला। अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' तथा १७वीं और १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी राजनीतिक विचार के वातावरण में न केवल दृष्टान्त का साम्य है बल्कि एक हद तक संयोग भी है।"*

(५) अरस्तु का जनमत के महत्त्व पर ज़ोर देना भी उल्लेखनीय है। अधिकारियों के कार्यों का निर्णय विशेषज्ञों की अपेक्षा सर्वसाधारण अधिक अच्छा कर सकते हैं और उनके निर्णय का उचित सम्मान होना चाहिये। इसी लिए सरकारी आचरण का निर्णय करने का कार्य वह जनता को सौंपता है।

(६) सरकार के कार्यों नीति निर्धारक, प्रशासकीय तथा न्यायिक, इन तीन भागों में विभक्त करना उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का सूचक है। परन्तु, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, अरस्तु द्वारा किये गये सरकार के इन तीन अंगों को हमें आधुनिक सरकार के व्यवस्थापिक, कार्यपालिक तथा न्यायिक अंगों के तद्रूप नहीं समझना चाहिये। अरस्तु का नीतिनिर्धारक अंग आधुनिक व्यवस्थापिका के बिल्कुल अनुरूप नहीं है। यद्यपि इसके कुछ विधायक कार्य भी थे; यह कार्यपालिक कार्य भी करता था। इसी प्रकार मजिस्ट्रेट-मण्डल को हम आधुनिक कार्यपालिका के अनुरूप नहीं कह सकते; नीति-निर्धारक अंग का

* "Aristotle taught St. Thomas : through St. Thomas he taught Catholic Europe : through St. Thomas he also taught Richard Hooker who drew from this origin the theory of law and government ...... The judicious Hooker was in turn one of the masters of Locke .... The theory of Locke descended in turn to Burke ...... There is not only an analogy ...... between the climate of Aristotle's Politics and the climate of English political thought in the seventeenth and eighteenth centuries. There is also some measure of affiliation."

—Barker : *The Politics of Aristotle*, page LXII.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके ऊपर पूर्ण अधिकार था। अरस्तु के इस विभक्तीकरण को शक्ति विभाजन का सिद्धान्त समझना उचित न होगा।

(७) अन्त में, अरस्तु के राजनीतिक चिन्तन में एक अन्य विश्वव्यापी तत्त्व उल्लेखनीय है। उसने राजनीति तथा अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को पहिचाना और इसीलिये राजनीतिक संगठन तथा क्रियाओं पर आर्थिक प्रभाव को उसने बड़ा महत्त्व दिया। धनिक और दरिद्र के संघर्ष को वह सरकार सम्बन्धी बहुत सी बातों का कारण समझता है। उसने सरकारों का जो वर्गीकरण किया है और धनतन्त्र तथा जनतन्त्र के जो बहुत से विभाग किये हैं उनका अन्तिम आधार आर्थिक ही है। राजनीति के ऊपर अर्थशास्त्र के प्रभाव को स्पष्टतम रूप में व्यक्त करने वाला अरस्तु का यह सारगर्भित कथन है कि स्थिरता और समृद्धि सब से अधिक सरलतापूर्वक उसी राज्य में प्राप्त की जा सकती है जिसमें कि धन तथा दरिद्रता की चरम सीमायें नहीं पाई जातीं और जिसमें एक शक्तिशाली मध्यवर्ग पाया जाता है। इसका तात्पर्य मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है राजनीतिक क्रांति का मुख्य कारण अरस्तु जनता की इस भावना को समझता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है।

इसी प्रसंग में राजसत्ता के विषय में अरस्तु के विचारों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। राजसत्ता का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से आधुनिक धारणा है। प्राचीन यूनान और मध्यकाल की परिस्थितियाँ राजसत्ता के सिद्धान्त के आविर्भाव के लिये अनुकूल नहीं थीं। अरस्तु में एक भी शब्द ऐसा नहीं पाया जाता जिसका अर्थ राजसत्ता लगाया जा सके। जिस बल का उसने उल्लेख किया है वह है राज्य की उच्चतम शक्ति और उसका स्रोत वह जनता को समझता है। वह सर्वोपरि इसलिए है क्योंकि उसे न्यायरक्षकों (Magistrates) को चुनने तथा उनके कार्यकाल के समाप्त होने पर उनसे उनके कार्यों का जवाबतलब करने का अधिकार होना चाहिये। सारे आधारभूत प्रश्नों का अन्तिम रूप से निर्णय करने की शक्ति भी उसे मिलनी चाहिये। परन्तु इन शक्तियों के मिलने से ही किसी को सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति नहीं कहा जा सकता। राजसत्ता का अर्थ है कानून के ऊपर प्रभुता। आज की परिभाषा में हम राजसत्ताधिकारी उसे कहते हैं जो कानून बनाता है और स्वयं उस कानून से बाध्य नहीं होता। अरस्तु के राज्य के सिद्धान्त में ऐसी कोई शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि राज्य के समस्त अंग और भाग समान रूप से कानून की सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति के अधीन हैं। राज्य में किसी भी शक्ति का कानून के ऊपर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सारांश यह कि अरस्तु के राज्य सिद्धान्त में स्वयं कानून सर्वप्रभुत्वपूर्ण है; कोई भी शक्ति कानून की अवहेलना नहीं कर सकती।

जहाँ तक राजसत्ता का सम्बन्ध है अरस्तु की अपेक्षा अफलातून आधुनिक धारणा के अधिक निकट है क्योंकि वह दार्शनिक राजा को राज्य के कानूनों के ऊपर रखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु दार्शनिक राजा को भी हम सच्चे अर्थों में सर्वप्रभुत्वपूर्ण नहीं कह सकते क्योंकि वह कानून की सृष्टि नहीं करता। सच तो यह है कि प्राचीन यूनान में राजसत्ता के आधुनिक सिद्धान्त के लिये कोई स्थान ही नहीं था। राज्य की शक्ति इतनी और नाना प्रकार से सीमित थी कि यह विचार ही उत्पन्न नहीं हो सकता था।

अरस्तु का प्रभाव— अरस्तु के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व अब हम यह देखेंगे कि उसका आगे आने वाले विचार पर क्या प्रभाव पड़ा है। उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि कुछ ही राजनीतिक विचारक ऐसे होंगे जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसे अनुभव न किया हो।

लगभग एक हज़ार वर्षों तक अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' लुप्तप्राय रही ; एपीक्यूरियन (Epicurean) और स्टोइक (Stoic) विचारकों के ऊपर, जो कि अरस्तु के बाद आये, उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। 'रिपब्लिक' की भाँति 'पॉलिटिक्स' में भी नगर राज्य के आदर्शों और जीवन पद्धति का निरूपण था। वह मनुष्य को राजनीतिक प्राणी और नगर राज्य को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च सार तथा मनुष्य का जीवन ध्येय समझती थी। अफलातून और अरस्तु का चिन्तन विषय समाज से अलग कटा हुआ व्यक्ति नहीं, वरन् राज्य का सदस्य व्यक्ति था। उनके लिये एक अच्छा मनुष्य होना और अच्छा नागरिक होना एक ही बात थी। परन्तु सिकन्दर महान् के अधीन मक़दूनिया के साम्राज्य तथा आगे चल कर रोमन साम्राज्य की स्थापना के कारण यूनानी नगर राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे और उनकी स्वतन्त्रता के ह्रास के साथ ही व्यक्ति के जीवन में राज्य-नीति का महत्त्व भी समाप्त हो गया। अब राज्य और नगर एक न रहे। राजनीतिक क्षेत्र का द्वार बन्द हो जाने से मनुष्य निजी विचार में ही सान्त्वना खोजने को विवश हो गया। इस प्रकार की विचार धारा की अभिव्यक्ति एपीक्यूरियन तथा स्टोइक मतों की शिक्षाओं में हुई। ये दोनों मत नगर राज्य के आदर्शों की उपेक्षा करते थे और उनका विरोध करते थे। ऐसी स्थिति में यदि उन पर 'पॉलिटिक्स' का (अथवा 'रिपब्लिक' का) कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा तो आश्चर्य ही क्या है। इन दोनों ग्रंथों के मूल सिद्धान्त देश काल की भावना और आवश्यकताओं के विपरीत थे।

कहीं मध्ययुग में जाकर अरबी अनुवादों द्वारा यूरोपीय विद्वानों को अरस्तु का पता चला। 'पॉलिटिक्स' का लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ और ईसाई जगत के ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ने लगा। 'स्कॉलिस्टिक' (Scholastic) विचारों से विशेषतया अल्बर्ट (Albert) महान् तथा उसके महान् शिष्य सन्त टॉमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) की कृतियों में चर्च तथा अरस्तु की शिक्षाओं में समन्वय हुआ। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, टॉमस एक्वीनास के द्वारा अरस्तु का प्रभाव कैथोलिक यूरोप पर पड़ा। मार्सीलियो ऑफ पैडुआ (Marsiglio of Padua), दांते (Dante) तथा मैकियावेली (Machiavelli) के ऊपर भी अरस्तु का बड़ा प्रभाव पड़ा। अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विख्यात ग्रंथ 'प्रिंस' (Prince) में मैकियावेली ने क्रांतियों के जिस सिद्धान्त का वर्णन किया है, वह साधारणतया अरस्तु के क्रांति सम्बन्धी सिद्धान्त पर एक भाष्य समझा जाता है। आधुनिक विचारकों में मॉन्टेस्क्यू अरस्तु का बहुत अधिक ऋणी है। बोदाँ (Bodin) तथा हैरिंग्टन उन अन्य विचारकों में से हैं जिनके ऊपर अरस्तु का गहरा प्रभाव पड़ा है। परन्तु मध्यकालीन तथा आधुनिक लेखकों के ऊपर अरस्तु का जो प्रभाव पड़ा है उसमें एक अन्तर है और वह यह कि जबकि मध्यकाल में राजनीतिक जीवन के स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में अरस्तु के सिद्धान्त पर बल दिया गया, मॉन्टेस्क्यू, बोदाँ तथा हैरिंग्टन जैसे विचारकों ने ज़ोर दिया राजनीतिक व्यवहार तथा ध्येय के यथातथ्य विश्लेषण पर। आधुनिक युग में अरस्तु यथार्थवादी, व्यवहारवादी (Pragmatist) तथा उपयोगितावादी (Utilitarian) का जनक हो उठा। राजनीतिक विचार के ऐतिहासिक तथा सामाजिक मतों ने अरस्तु से लाभ उठाया है; और समता प्रधान जनतन्त्र की आलोचना करने वाले रूढ़िवादियों तथा कुलीनतन्त्रवादियों ने 'पॉलिटिक्स' से प्रेरणा ली है। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि आदर्शवादियों और संविधानवादियों का प्रेरणा स्रोत भी वही है। ज़ीलर (Zeller) का यह कथन कि अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' हमारे प्राचीन पूर्वजों से हमें मिली हुई सब से मूल्यवान् थाती है; राजनीति विज्ञान के लिये यह सब से बड़ी देन है, ठीक है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ८

राजनीतिक विचार— अरस्तु के बाद

एपीक्यूरियनिज़्म तथा स्टोइसिज़्म

(Epicureanism and Stoicism)

परिचयात्मक— अफलातून और अरस्तु, जिनके राजनीतिक विचार की हमने पिछले पृष्ठों में मीमांसा की है, इस बात को स्वयंसिद्ध सत्य मानते थे कि नगर राज्य सामाजिक संगठन का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वश्रेष्ठ रूप था; केवल वही शुभ जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न कर सकता था। वे शुभ जीवन की सिद्धि राजनीतिक जीवन अर्थात् राज्य के सामान्य जीवन में भाग लेने में ही समझते थे। उनके लिए नागरिकता का अर्थ समाज के सामान्य जीवन में भाग लेना था। उन्होंने यह सिखाया कि नागरिकों की भौतिक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति करना ही उसका उद्देश्य नहीं है; मनुष्य की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रकृति का विकास करना उसका अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसलिए उन्होंने नगर राज्य के जीवन में अन्तर्निहित आदर्शों का विश्लेषण किया और उन सिद्धान्तों की विवेचना की जिनके ऊपर वे आधारित होने चाहियें। उन्होंने इस कार्य को इतनी पूर्णता और सांगोपांग ढंग से किया कि इस क्षेत्र में दूसरों के करने के लिए कुछ नहीं रहा। अफलातून और अरस्तु के बाद में आने वाले विचारक उनकी दिशा में कोई देन नहीं दे सकते थे; इसलिये उनकी विचारधारा का प्रवाह भिन्न होना स्वाभाविक ही था। वास्तव में हम यह देखते हैं कि यह मानने के बजाय कि नगर-राज्य सर्वोत्कृष्ट सामाजिक संघटन है और तत्कालीन राज्यों को समाप्त करने के बजाय उनमें सुधार की आवश्यकता है, अरस्तु के बाद के राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके प्रति नकारात्मक रवैया अपनाया। शुभ अथवा आदर्श और राजनीतिक जीवन को पर्याय-वाची समझने की जगह उनकी धारणा यह है कि राज्य की सदस्यता शुभ जीवन के लिये बिल्कुल आवश्यक नहीं है। उनमें से कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई व्यक्ति श्रेय और आनन्द की प्राप्ति चाहता है तो उसे राज्य से बाहर रहना चाहिये। यदि राज्य का पूर्ण बहिष्कार सम्भव न हो सके तो हमें राज्य से अपना सम्बन्ध कम से कम कर लेना चाहिये। हम राज्य में रह सकते हैं, किन्तु हमें उसका अंग नहीं बनना चाहिये। राज्य के प्रति अवहेलना और उससे हट जाने की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति 'एपीक्यूरियन्स' तथा 'स्टोइक्स' की शिक्षाओं में हुई है। यद्यपि जीवन के परम शुभ (Summum bonum) के स्वरूप के विषय में इन दोनों में मूलभूत अन्तर हैं; किन्तु दोनों की ही यह सामान्य धारणा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि एक बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो सामाजिक जीवन में कम से कम भाग लेता है। इस प्रकार शुभ (Good) उनके लिए एक निजी चीज़ है जिसे व्यक्ति अपने अन्दर और अपने ही द्वारा प्राप्त करता है; उसके लिये सामाजिक जीवन में भाग लेने की आवश्यकता नहीं है। स्वपर्याप्तता (Self-sufficiency) जिसे अफलातून और अरस्तु राज्य का विशेषण समझते थे वे मानव प्राणी का व्यक्तिगत विशेषण समझते हैं।

यह अफलातून और अरस्तु के विचारों का पूर्ण विपर्यय है। अरस्तु के वाद ही इस विचारधारा का जन्म हुआ हो ऐसी वात नहीं है। अफलातून और अरस्तु के युग में यह पाई जाती थी। वे इससे अनभिज्ञ भी न थे; किन्तु उन्होंने इसकी पूर्ण अवहेलना की। अरस्तु ने यह कह कर कि राज्य से वाहर या तो एक देवता रह सकता है या कोई पशु, इसे एक दम ठुकरा दिया। इन दो महान् विचारकों की प्रतिभा के सामने यह खड़ी नहीं हो सकती थी। परन्तु अरस्तु के मरने के वाद स्थिति पूर्ण रूप से वदल गई। नगर राज्य का निषेध करने वाले सिद्धान्त पहिले लेखकों और विचारकों के सिद्धान्तों पर पूर्ण रूप से छा गये और उन्होंने आने वाले एक लम्वे समय के लिये यूनानी राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा निर्धारित की। नगर राज्य का निषेध करने वाले विचारों के प्रचार में 'एपीक्यूरियनीज़्म' तथा 'स्टोइसिज़्म' अग्रगण्य हैं।

नवीन प्रवृत्ति का आविर्भाव— इस नवीन प्रवृत्ति के आविर्भाव के कई कारण हैं जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नांकित हैं:—

(१) प्राचीन यूनान के नगर राज्यों के मक़दूनिया के राजा फिलिप तथा उसके प्रतापी पुत्र सिकन्दर महान् द्वारा परास्त होने ने यह सिद्ध कर दिया कि नगर राज्य अत्यन्त छोटा होने और आन्तरिक कलह के कारण स्वपर्याप्त कभी नहीं हो सकता था और अपनी आन्तरिक तथा वाहरी समस्याओं को हल नहीं कर सकता था। उसमें स्वयं यूनान पर शासन करने की सामर्थ्य भी नहीं थी। अफलातून और अरस्तु का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया। सिंक्लेयर के शब्दों में 'सामाजिक प्रवृत्तियों तथा नैतिक आचरण के निर्णायक के रूप में अपने परम्परागत कार्य में वह शक्तिहीन और निरर्थक' दिखाई पड़ता था। नगर राज्य का समय मानो वीत चुका था। किसी भी प्रकार के सुधार से उसे समय की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं ढाला जा सकता था। एक अधिक व्यापक और अधिक संगठित राजनीतिक इकाई की आवश्यकता थी। सिकन्दर महान् द्वारा स्थापित साम्राज्य इस वात का संकेत था कि उस इकाई का स्वरूप क्या होना चाहिये। एक साम्राज्य अथवा विश्वव्यापी व्यवस्था जिसमें अव्यक्तिगत शासन हो और विश्वव्यापी कानून हो, यूनानी विचार और संस्कृति के लिये एक अनोखी वार्ता थी; यूरोपीय मस्तिष्क के लिये यह एक नई चीज थी। किन्तु यह प्रेरणा आगे चल कर रोमन सम्राटों, पोपशाही (Papacy) तथा मध्यकालीन पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) में साकार हो उठी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) जब तक नगर राज्य स्वतन्त्र बना रहा और उसके नागरिक उसके सामान्य जीवन में भाग लेने में निमग्न रहे तब तक व्यक्ति अपने को राज्य से अलग नहीं कर सकता था और अपने व्यक्तिगत सुख को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बना सकता था। नागरिक कार्यों में भाग लेना व्यक्तिगत अधिकारों और कर्तव्यों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। उस समय नाटककार भी अपनी रचनाओं के ऐसे विषय ही चुनते थे जिनका कुछ नागरिक महत्त्व हो। यहाँ तक कि स्वयं धर्म भी एक नागरिक विषय समझा जाता था। नगर राज्य के अधःपतन से इस सब में आमूल चूल परिवर्तन हुआ और नागरिक स्वतन्त्रता के ह्रास से सारा चित्र ही बदल गया। नाटककारों का विषय व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन हो गया और नागरिक मामलों में उनकी रुचि समाप्त हो गई। अब नगर राज्य के प्रति यूनानियों में विशेष उत्साह न रहा; वह उनके विचार का केन्द्र बिन्दु न रहा। योग्य व्यक्तियों के लिये राज्य के पदों में वह आकर्षण अब न रह गया, और नागरिक धर्म का पालन करने से लोगों को अब मानसिक संतोष मिलना बन्द हो गया। सारांश यह कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के ह्रास ने जनता की देशभक्ति को कमज़ोर कर दिया और राज्य तथा व्यक्ति में एक विभाजक रेखा खींच दी। मेधावी मनुष्य यह सोचने लगे कि शासन कार्य में भाग लेना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि लोग समझते थे; अधिक से अधिक प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ भी उस क्षेत्र में रहकर अधिक ऊँचा नहीं उठा सकता। इसलिये नगर राज्य तथा उसके संस्थानों और मूल्यों के प्रति निषेधात्मक प्रवृत्ति तथा उसके साथ ही सार्वजनिक जीवन से विरक्त होने तथा अपने लिए एक व्यक्तिगत और निजी संसार की सृष्टि रचने की भावना का उदय होना स्वाभाविक ही था। इसलिए आचार शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र के प्रति इतनी रुचि उत्पन्न हुई जितनी कि पहिले कभी नहीं थी; मानो यह उस चीज़ का प्रतिकार था जिसे लोगों ने खो दिया था। इस प्रकार यूनानी विचारकों ने नगर राज्य के विषय में सोचना छोड़ दिया और अपना ध्यान धर्म तथा आचार शास्त्र पर केन्द्रित कर दिया। इसका परिणाम हुआ एपीक्यूरियनिज़्म तथा स्टोइसिज़्म नामक दो नवीन धाराओं का आविर्भाव। उन्होंने मनुष्य के सामने नागरिक राज्य के प्रति भक्ति की जगह व्यक्तिगत चरित्र तथा व्यक्तिगत आनन्द का आदर्श रक्खा। इस प्रकार जीवन का एक नया ढंग अपनाने के लिए पुराने ढंग का परित्याग कर दिया गया।

(३) यह मानना भूल होगी कि चिन्तन धारा में यह नया रुख केवल उन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण हुआ जो सिकन्दर की सैनिक विजय और नगर राज्य के ह्रास से हुए। नगर राज्य तथा उसके मूल्यों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण के तत्व स्वयं 'रिपब्लिक' और 'पॉलिटिक्स' के पृष्ठों में ही छिपे हुए थे। पाठकों को याद होगा कि अफलातून सक्रिय नागरिकता को केवल दो उच्च वर्गों— शासकों तथा अभिभावकों तक ही सीमित रखता है। तीसरे और सब से बड़े वर्ग को वह राजनीतिक जीवन में भाग लेने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बिल्कुल वंचित रखता है। इसी प्रकार अरस्तु नागरिकता को केवल उन्हीं लोगों का विशेषाधिकार समझता है जिनके पास राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की विलासिता का उपभोग करने के लिये पर्याप्त सम्पत्ति और अवकाश है, यद्यपि वह कृषकों और शिल्पकारों इत्यादि को भी नागरिकों की श्रेणी में शामिल करता है। नागरिकता के कार्यों को एक वर्ग विशेष का विशेषाधिकार बनाने से उनसे वंचित लोगों के मन में यह भाव उठना स्वाभाविक है कि नागरिक राज्य को सुधारने की नहीं, नष्ट करने की आवश्यकता है। कम से कम उपेक्षा और अवहेलना की दृष्टि से तो उसे वे देखेंगे ही।

(४) प्राचीन सिद्धांतों के ह्रास का एक अन्य कारण भी ध्यान देने योग्य है। अरस्तु के समस्त राजनीतिक सिद्धान्त के मूल में यह धारणा है कि यूनानी और बर्बर में भेद है और पहिला दूसरे से श्रेष्ठ है; इसके बिना दास प्रथा का कोई औचित्य नहीं हो सकता। अपनी यूनानी प्रजा को पूर्वी लोगों में विलीन करने की सिकन्दर की नीति ने इस सिद्धान्त के आधार को ही समाप्त कर दिया; इससे अरस्तु की राजनीति का आधार ही निरर्थक हो गया। मनुष्य मात्र की समता का विचार उदय हुआ और साथ ही सब पर लागू होने वाले विश्वव्यापी कानून की धारणा का आविर्भाव हुआ। इन नवीन विचारों की उद्भावना स्टोइसिज़्म ने की।

"एपिक्यूरियनिज़्म" तथा "स्टोइसिज़्म" का विकास धीरे धीरे उस सामाजिक और राजनीतिक परिवर्त्तन में जो कि सिकन्दर के मरने के बाद हुआ, दो शताब्दियों में हुआ। यह युग साम्राज्य-निर्माण और सभ्यताओं के पुनर्निर्मित होने का था। ऐसी अनिश्चित स्थिति में कोई व्यवस्थित कल्प विकल्प नहीं हो सकता था। इस युग में कोई महान् राजनीतिक विचारक नहीं हुआ और राजनीति के ऊपर कोई महान् ग्रन्थ नहीं रचा गया। हाँ, जब रोम ने यूनान को विजय कर लिया और शांति तथा व्यवस्था स्थापित कर दी तब कहीं जाकर पोलीबियस और सिसरो ने जो हो चुका था उसकी व्याख्या करने के लिए सुनिश्चित सिद्धान्तों का निरूपण किया।

नवीन प्रणालियों का सामान्य स्वरूप— इन विचार प्रणालियों का आधारभूत चरित्र दार्शनिक था; उन्होंने नैतिक समस्याओं के ऊपर विशेष ध्यान दिया और अपने अनुयाइयों के जीवन व्यवहार के लिए सुनिश्चित नियम निर्धारित किये। जीवन के प्रति जिस दृष्टिकोण का उन्होंने प्रतिपादन किया वह 'रिपब्लिक' तथा 'पॉलिटिक्स' में प्रतिपादित दृष्टिकोण से कहीं अधिक व्यक्तिवादी और उसके साथ ही साथ कहीं अधिक विश्वव्यापी था। वह व्यक्तिवादी इसलिए था क्योंकि उसके अनुसार व्यक्ति को अपने जीवन की समस्यायें सुलझानी चाहियें और समाज पर निर्भर न रह कर आनन्द की खोज करनी चाहिये; और उसके जीवन का उद्देश्य स्वपर्याप्तता होना चाहिये। वह विश्वव्यापी इसलिए था कि वह व्यक्ति को नगर राज्य की दासता से मुक्त करके उससे कहीं अधिक बड़े सामाजिक संघटन में दूसरे व्यक्तियों के साथ रहना सिखाता था। इन दोनों प्रणालियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्टोइसिज़्म अधिक महत्त्वपूर्ण है ; राजनीतिक विचार पर एपीक्युरियनिज़्म की अपेक्षा उसका अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। बुद्धि के ऊपर आधारित नैसर्गिक क़ानून (Law of Nature) की धारणा इसी की सृष्टि है। इनके अतिरिक्त स्केप्टीसिज़्म (Scepticism) इत्यादि अन्य विचार प्रणालियाँ भी हैं ; किन्तु वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

एपक्यूरियनिज़्म (Epciureanism)— इसका प्रवर्तन ३०६ ई० पू० में एथेन्स में एपीक्यूरस (Epicurus) ने किया था; इसे 'साइरेनिसिज़्म' (Cyrenaicism) का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है जिसे अरिस्टिपस (Aristippus) ने स्थापित किया था जो अपने विचारों को प्रत्यक्ष रूप से सुकरात से लेने का दावा करता था। इसकी शिक्षा का निष्कर्ष यह है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अधिकतम सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति करना है। दुख और चिन्ता के अभाव को वह सुख समझता था। समाज से अधिक से अधिक स्वतन्त्र रहकर ही इसकी प्राप्ति हो सकती थी। मनुष्य को जहाँ तक हो सके सार्वजनिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से बचना चाहिये। एपीक्यूरस ने समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों की विवेचना ही इसलिये की ताकि उनके प्रति दार्शनिक की उपरामता पर अधिक ज़ोर दिया जा सके। एपीक्यूरियन्स समाज से अलग रहने का समर्थन बड़ी सरलता से कर सकते थे क्योंकि उनके अनुसार समाज का आधार स्वहित है, सामाजिकता तथा सहयोग की भावना नहीं। उनकी धारणा थी कि मनुष्य तत्वतः एक स्वार्थी प्राणी है और उसमें कोई सामाजिक प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपनी हित साधना करना चाहता है जिसका दूसरों के हितों से प्रायः संघर्ष रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की स्वार्थ साधना में दूसरे व्यक्तियों के स्वार्थ बाधक होते हैं, इसलिये मनुष्य मिलकर आपस में यह समझौता कर लेते हैं कि वे न तो एक दूसरे को कोई हानि या क्षति पहुंचायेंगे न स्वयं सहन करेंगे। यही सिद्धान्त आगे चलकर 'सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त' (Social Contract Theory) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८वीं शताब्दी में हॉब्स ने इसका पुनरुत्थान किया। यदि एपीक्यूरियन्स इस बात में विश्वास करते कि मनुष्यों को भावात्मक और स्वाभाविक रूप से एक दूसरे की आवश्यकता है तो वे सामाजिक जीवन का परित्याग करने का अनुमोदन कभी न करते।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य तथा उसके संस्थानों का आधार समयानुकूल आवश्यकता (Expediency) है, मानव स्वभाव नहीं। क़ानून का पालन करना केवल इसी लिए उचित है क्योंकि यह शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है तथा समाज में पारस्परिक व्यवहार को सरल बनाता है। इसलिए एपीक्यूरियन्स किसी भी ऐसी सरकार की आज्ञा पालन करने का समर्थन करते थे जो कि सुरक्षा, शांति तथा व्यवस्था क़ायम रखने में समर्थ हो। इस बात में उनकी कोई दिलचस्पी न थी कि उनकी अभीष्ट सुरक्षा एक सुदृढ़ जनतंत्र स्थापित करता है या किसी एक निरंकुश शासक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति और दया-भावना। सरकार के रूप की उन्हें कोई परवाह न थी। किन्तु वे राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ तथा सब से अधिक शक्तिशाली सरकार समझते थे।

स्टोइसिज़्म (Stoicism)— पश्चिम के राजनीतिक विचार के विकास में एपीक्यूरियनिज़्म की अपेक्षा स्टोइसिज़्म का अधिक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है; इसका स्वरूप ही उससे भिन्न है। अधिकतर इसके द्वारा ही यूनानी दर्शन का रोमन न्यायशास्त्र (Jurisprudence) पर उसके शैशव काल में प्रभाव पड़ा और प्राकृतिक कानून तथा सार्वभौमिकवाद अथवा विश्व नागरिकता के विचार पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति का अंग बन गये।

स्टोइसिज़्म का प्रवर्तन ३०० ई० पूर्व में 'ज़ीनो' (Zeno) ने किया था। वह एक फोनीशियन (Phoenician) था और उसके माता-पिता में से एक सेमिटिक (Semitic) था। इस विचारधारा के बाद के प्रधान प्रचारक 'एशिया माइनर' (Asia Minor) के रहने वाले थे जहाँ कि यूनानियों और एशियाइयों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो रहा था। इस प्रकार अरस्तु की मृत्यु के बाद यूनान में पनपने वाली अन्य सभी विचारधाराओं की अपेक्षा स्टोइसिज़्म का यूनान विशेष से कुछ कम सम्बन्ध था। पहिले यूनान में और फिर रोम में जहाँ कि सम्राट मार्कस ऑरीलियस (Marcus Aurelius), सिसरो, सैनीका (Seneca) तथा एपिक्टटिस सरीखे विचारशील व्यक्ति इसके उपासकों में गिने जाते थे, स्टोइसिज़्म कई शताब्दियों तक मनुष्य के विचारों को प्रभावित करता रहा। दूसरी शताब्दी के शिक्षित रोम निवासी तो इस से बहुत ही प्रभावित हुए।

कहा जाता है कि ज़ीनो क्रेटीज़ (Crates) का शिष्य था जो कि सिनिक (Cynic) मण्डली का नेता था। इसलिए स्टोइसिज़्म को हम सिनिसिज़्म (Cynicism) का ही एक विकसित रूप कह सकते हैं। सिनिसिज़्म की मूल धारणायें— पूर्ण आत्मसंयम, परिस्थितियों से स्वतन्त्रता, पूर्ण आत्मनिर्भरता तथा स्वपर्याप्तता, और प्रकृति के अनुकूल जीवन, स्टोइसिज़्म का आरम्भ बिन्दु हैं— किन्तु यह उनकी एक विधेयात्मक और रचनात्मक व्याख्या करता है। फलतः सिनिसिज़्म के एकदम निषेधात्मक तथा शून्यवादी सिद्धान्तों के बजाय स्टोइसिज़्म ने विधेयात्मक और रचनात्मक विचार हमारे सामने रक्खे जो सिसरो से लेकर १८वीं शताब्दी तक यूरोप के राजनीतिक विचारों को प्रभावित करते रहे।

'प्रकृति' (Nature) की धारणा स्टोइक्स के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है; 'प्रकृति' उनकी उपास्य देवी है; उनकी समस्त कामनाओं का लक्ष्य है और उनकी समस्त क्रियाओं का स्रोत है। 'प्रकृति' के अनुसार जीवन व्यतीत करना, उसके साथ एकाकार हो जाना उनके अनुसार जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। यह विचार उन्होंने सिनिक्स से लिया परन्तु उसकी एक भिन्न व्याख्या की। सिनिक्स का विचार था कि जीवन का ध्येय आनन्द प्राप्ति है परन्तु उसकी खोज हमें अपने अन्दर करनी चाहिये, बाहर नहीं। इसकी प्राप्ति चरित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पवित्रता में हो सकती है, इच्छा तृप्ति या सामाजिक क्रिया में नहीं। इसीलिये उनकी शिक्षा यह थी कि मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों से स्वतन्त्र रहना चाहिये, अपनी आवश्यकताओं को घटाकर कम से कम कर देना चाहिये और जितनी भी कृत्रिम तथा परम्परागत आवश्यकतायें हैं उन्हें समाप्त कर देना चाहिये। सारांश यह कि उनका लक्ष्य प्राकृतिक सरलता की ओर जाना था। इसी के कारण वे बहुत सी ऐसी बातों का प्रचार करने लगे जो न केवल अतिशयोक्तिपूर्ण हैं बल्कि जिनमें विरोधाभास भी है जैसे कि परम्परासम्मत जीवन पद्धति तथा जनमत का तिरस्कार, अपने साथी मनुष्यों की संगति से घृणा तथा व्यक्तिगत शिष्टता का अभाव। स्टोइक्स ने सिनिक्स के इस उच्छृङ्खल प्रकृतिवाद को ठुकरा कर उसकी जगह जीवन के एक आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रतिस्थापित किया। उनका विश्वास है कि प्रकृति आकस्मिक घटित होने वाली घटनाओं का एक जमघट नहीं है, बल्कि एक बुद्धिसंगत व्यवस्था है; इसमें क्रमबद्धता है, विप्लव नहीं, इसमें देव और मानव दोनों शामिल हैं और दैविक बुद्धि इस पर शासन करती है। भौतिक तथा मानव जगत दैविक योजना का एक भाग है; यह सार्वभौमिक कानून का साकार रूप है। इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ बुद्धि के अनुसार जीवन है; और क्योंकि बुद्धि कानूनों के अनुसार कार्य करती है इसलिये प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ हुआ कानून के अनुसार जीवन। दैविक बुद्धि अपने आपको समाज के स्थापित कानूनों तथा रीति रिवाजों में अभिव्यक्त करती है, इसलिए उनके अनुसार आचरण करना मनुष्य का धर्म है। इसलिये स्टोइक्स सिनिक्स की तरह रीति रिवाज और परम्पराओं से भागने के लिये नहीं कहते; वे यथातथ्य स्थिति के अनुसार रहने का अनुमोदन करते हैं; यद्यपि वे भी भाग्यचक्र तथा सामाजिक जीवन के मूल्यों की ओर से उपराम रहने की शिक्षा देते हैं।

क्योंकि सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने के लिये मनुष्य को प्रकृति के साथ एकरूप हो जाना चाहिये, इसलिये स्टोइसिज्म में सामाजिक जीवन और सम्बन्धों के लिये अधिक स्थान नहीं हो सकता। एक मनुष्य प्राकृतिक कानून और बुद्धि के अनुसार सरलतापूर्वक अपना जीवन तभी विनियमित कर सकता है जबकि दूसरे मनुष्यों का दबाव उस पर न पड़े। इसलिये उसे राजनीतिक क्रियाओं से बचना चाहिये और जहाँ तक हो सके सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहियें। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, स्टोइक्स का ध्येय स्वपर्याप्तता तथा आत्मनिर्भरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव जीवन में नियामक तथा नियंत्रक शक्ति आचार शास्त्र है, राजनीति शास्त्र नहीं; यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा मनुष्य एक अच्छा नागरिक भी हो; दोनों के लिये अलग अलग गुणों की आवश्यकता है। इसका अर्थ हुआ आचार शास्त्र और राजनीति शास्त्र का एक दूसरे से बिल्कुल अलग अलग हो जाना। राज्य एक व्यक्ति के लिये एक अच्छे जीवन का अपरिहार्य साधन अब नहीं रह जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि प्रकृति एक क्रमबद्ध और बुद्धिसंगत इकाई है, इसलिये प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ है बुद्धि द्वारा विनियमित जीवन। बुद्धि सार्वभौमिक है; एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है और उसका प्रत्येक वस्तु पर शासन है। इसलिए समस्त मनुष्यों के लिए केवल एक जीवन मार्ग हो सकता है चाहे उनकी जाति और राष्ट्रीयता कुछ भी क्यों न हो। विभिन्न राज्यों के सदस्यों के लिए विभिन्न मार्ग नहीं हो सकते। इसलिए स्टोइक्स इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्यों को अलग अलग राज्यों में रहना छोड़ देना चाहिये जिनमें कि न्याय की विभिन्न कल्पनाओं ने विभिन्नतायें उत्पन्न कर रखी हैं। समस्त मानव प्राणी एक महान् तथा पवित्र भ्रातृत्व में एक दूसरे के साथी और मित्र हैं। प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव उन सब को एक ही महान् समाज में गूँथता है। उन्हें सभी मनुष्यों को एक नगर— प्रभु का नगर— का सदस्य समझना चाहिये जिनका एक ही जीवन मार्ग है और जिनमें एक ही व्यवस्था है। इस प्रकार व्यक्ति को नगर राज्य की संकुचित सीमाओं से ऊँचा उठा कर उसे विश्व नागरिक बना दिया गया है। यह है स्टोइक्स का सार्वभौमिकवाद।

निस्सन्देह यह देवनगर जिसका कि व्यक्ति सदस्य है, कोई वास्तविक नगर नहीं है, भूतल पर इसका कोई अस्तित्व नहीं है; अफलातून की 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य की भाँति इसका नमूना भी स्वर्ग में ही पाया जाता है। कान्ट (Kant) की प्रसिद्ध धारणा— 'लक्ष्य राज्य' (Kingdom of Ends) से भी इसकी तुलना की जा सकती है। परन्तु यह केवल निषेधात्मक धारणा ही नहीं है। 'विश्व नागरिक' उक्ति से वह वास्तविक सौहार्द अभिव्यक्त होता है जो समस्त मनुष्यों में पाया जाता है चाहे वे किसी भी जाति या राष्ट्र के क्यों न हों; इसका अर्थ यह है कि इस महान् परिवार के सदस्य होने के नाते सब मनुष्य भाई भाई और समान हैं; एक ही प्राकृतिक कानून के विनियमन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में तालमेल स्थापित होनी चाहिये।

इस बात से कि सभी मनुष्यों में एक सार्वभौमिक बुद्धि का सामान्य प्रकाश है और वे एक ही आधारभूत कानून के अधीन हैं प्राकृतिक समता का सिद्धान्त निःसृत होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है एक महान् मानव परिवार के घटक होने के नाते हम सब भाई भाई हैं और हमारे सब के समान अधिकार हैं। मनुष्यों की प्राकृतिक असमानता का जिसके ऊपर अफलातून और अरस्तु के सिद्धान्त आधारित थे स्टोइक्स कड़ा विरोध करते थे। दास प्रथा के वे स्वाभाविक विरोधी थे।

सार्वभौमिक प्राकृतिक कानून, सार्वभौमिक नागरिकता, तथा मानव की प्राकृतिक समानता स्टोइक आदर्श थे। परन्तु यूनानी स्टोइक्स ने उन्हें राजनीतिक जीवन में लागू करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह काम आगे चल कर रोमन स्टोइक्स ने किया। रोमन साम्राज्य की स्थापना के साथ सार्वभौमिक कानून और सार्वभौमिक नागरिकता वास्तविक तथ्य हो उठे। 'प्राकृतिक कानून' के विचार तथा इस विश्वास को कि न्याय के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो मानव मात्र के लिए सामान्य हैं रोमन न्यायविदों (Jurists) तथा न्यायाधीशों ने अपनाया जिनका मत समस्त सभ्य संसार में कानून समझा जाता था। मानव भ्रातृत्व की धारणा को ईसाइयत ने अपनाया, उसको प्रसारित किया और आधुनिक संसार तक पहुँचाया जिसके बड़े गहरे परिणाम निकले।

राजनीतिक विचार को एपीक्यूरियनिज़्म तथा स्टोइसिज़्म की क्या देन है इसका बड़ा भव्य चित्र निम्नांकित उद्धरण में खींचा गया है :

"इस प्रकार दो प्रसिद्ध दर्शनधारायें, नगर राज्य का अतिक्रमण करती हुई, एक सार्वभौमिक जीवन की प्रक्रिया को समझने तथा व्यक्ति को एकान्त की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न में एकमत हैं। दोनों ही जीवन तथा संस्थानों के पीछे एक विशेष नमूना देखती हैं यद्यपि उसका मानव जीवन के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'स्टोइक्स' एक कदम आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि 'प्राकृतिक कानून' अथवा दैविक शक्ति संसार पर शासन करती है जिससे पाप का प्राधान्य होते हुए भी अच्छे मनुष्यों का धर्म है जीवन के उच्चतर मूल्यों की रक्षा करना जो स्वयं अपना पुरस्कार हैं। यह वह देन है जो 'स्टोइसिज़्म' ने 'रोमन कानून' तथा ईसाइयत दोनों को दी है। प्रकृति का नैतिक कानून जो कि सब मनुष्यों पर लागू होता है, बड़ी बड़ी सरकारों के पीछे उनकी शक्ति का स्रोत बन सकता है। सिसरो की परिभाषाओं को अपना कर और एक कानूनी भाषा में अनूदित होकर वह मध्य युग और उससे आगे के काल में आया।"*

---

* 'Thus the two famous philosophies, transcending the city state, unite in apprehending a universal life process and in attempting to meet the needs of individual loneliness. Both discern a pattern behind life and institutions, though it is indifferent to human values. The Stoics go farther and maintain that Natural Law or Providence governs a world in which, through all the preponderance of evil, it is the duty of good men to uphold the nobler values which are their own reward. Here, then, is the contribution which Stoicism made both to Roman Law and Christianity. A moral law of nature comprehending all men can become the sanction behind large scale government; translated into Roman legal terms, following the definitions of Cicero, it was transmitted to middle ages and beyond.' Bowle : *Western Political Thought*, page 85.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ६

रोमन राजनीतिक विचार

परिचयात्मक— प्राचीन यूनानियों के राजनीतिक विचार से चलकर जब हम प्राचीन रोमन्स के विचार पर आते हैं तो हमें एक भिन्न मानसिक वातावरण का अनुभव होता है। इन दोनों जातियों के देशीय गुणों तथा शक्तियों में बहुत बड़ा अन्तर था। यूनानी अत्यन्त मेधावी लोग थे; उन्होंने मानव जाति को विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों, वैज्ञानिक ज्ञान, नाटक, इतिहास इत्यादि के रूप में अमूल्य निधि दी है, राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने विवेकपूर्ण वाद विवाद तथा सक्रिय नागरिकता के विचारों की देन दी है। रोमन्स का मस्तिष्क विचारप्रधान नहीं था; वे व्यवहारप्रधान थे और उनका मस्तिष्क कानूनची था। उन्होंने एक विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की और मानव जाति को एक बहुत विकसित तथा समृद्ध कानून तथा न्यायशास्त्र (Jurisprudence) दिया। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए रोम का अर्थ ही कानून तथा न्यायशास्त्र है। यद्यपि रोम ने किसी ऐसे ऊँचे विचारक को जन्म नहीं दिया जिसे अफलातून और अरस्तु की श्रेणी में रक्खा जा सके और रोमन विचारकों ने राजनीति विज्ञान को कोई उल्लेखनीय देन नहीं दी तथापि सभ्यता के कोष को रोम वालों ने एक महान् देन दी है। रोम की देन इस बात में है कि उसने यूनान से जो कुछ सीखा था उसे पश्चिमी यूरोप की उन उत्थानोन्मुखी जातियों को दिया जो कि उसके फैलते हुए साम्राज्य के कारण उसकी संस्कृति के प्रभाव में आये। कई शताब्दियों तक राजनीतिक रोमन शिक्षक तथा विचारक समस्त संसार में यूनानी विचार की व्याख्या करते रहे और उसका प्रसार करते रहे। परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि यूनान के राजनीतिक विचारों की व्याख्या, प्रसार तथा प्रचार करने में रोमन विचारकों ने अपनी प्रवृत्ति और दृष्टि का कुछ रंग भी उन पर चढ़ाया। इस प्रसंग में दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि यद्यपि रोम अफलातून और अरस्तु को जानता था और इन दो महान् विचारकों की कुछ कृतियों का वहाँ अनुवाद किया गया और पढ़ा गया, किन्तु इनका रोमन राजनीतिक विचार के ऊपर कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। रोमन्स ने जिन विचारों की व्याख्या की और पश्चिमी योरोप में जिन्हें फैलाया वे अधिकतर हैलिनिस्टिक (Hellenistic) यूनान के थे। स्टोइक दर्शन को रोम में अनुकूल भूमि मिली। व्यवहार-प्रधान रोमन्स के हाथ में पड़कर इसमें संशोधन हुआ और रोमन कानून तथा न्यायशास्त्र के विकास में उसे अपनाया गया जिसके परिणाम बहुत गहरे निकले। जैसा कि पहिले ही इङ्गित किया जा चुका है, राजनीतिक विचार के सामान्य विकास में रोम ने अपनी देन अपने कानून और न्यायशास्त्र द्वारा दी है। इन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा रोम ने हैलिनिस्टिक यूनान की बौद्धिक थाती– सार्वभौमिक कानून, प्राकृतिक कानून, मनुष्य मात्र का भ्रातृत्व तथा विश्वनागरिकता के विचारों को जोकि स्टोइक चिंतन के आधार थे, पाश्चात्य संसार तक पहुँचाया।

रोम का राजनीतिक जीवन— रोम ने अपने राजनीतिक जीवन का आरम्भ प्राचीन यूनानी राज्यों की तरह एक राजतन्त्री नगर राज्य के रूप में किया और एक गणतन्त्र के रूप में महत्ता प्राप्त की। अपने पतन काल में वह साम्राज्यवादी और निरंकुश हो गया। राजतन्त्री सरकार के बदले में गणतन्त्री व्यवस्था किस प्रकार कायम हुई और अभिजात्य वर्ग तथा जन साधारण के पारस्परिक संघर्ष को किस प्रकार दूर किया गया और तत्पश्चात् रोम किस प्रकार संसार के सब से बड़े साम्राज्य का स्वामी बना, इन सब बातों का यहाँ वर्णन करना आवश्यक नहीं। यहाँ पर हम केवल इस बात का वर्णन करेंगे कि उसने अपने तथा अपने नये उपनिवेशों की कानून प्रणालियों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करके एक व्यापक तथा सार्वभौमिक कानून प्रणाली तथा न्याय शास्त्र को जन्म दिया, क्योंकि हम पहिले ही कह चुके हैं कि इन्हीं दो चीजों के द्वारा उसने यूनानी दर्शन को आत्मसात् किया, उसे भावी संतति को दिया और पश्चिम के राजनीतिक विचार की विकास धारा को प्रभावित किया।

यूनान का रोम पर प्रभाव— रोम पर यूनान के बौद्धिक प्रभाव ने एक बड़ी हद तक रोमन कानून के विकास की रूपरेखा को निर्धारित किया। यह प्रभाव बहुत पहिले ही पड़ना आरम्भ हो गया था, ऐसा लगता है। बहुत लोगों का विश्वास था कि रोमन कानून को 'बारह तालिकाओं' (Twelve Tables) में संजोने का एक बहुत बड़ा कारण यूनानियों का प्रभाव था; ये तालिकायें यूनानी नगरों से लिए हुए कानूनों के ऊपर आधारित थीं। यूनान के रोम के अधिकार में आजाने के बाद रोम का यूनान के ऊपर प्रभाव बहुत बढ़ गया। रोम में बहुत से यूनानी बन्धकों (Hostages), राजदूत तथा दासों के रूप में मौजूद थे; उनके द्वारा यह प्रभाव पड़ना सम्भव हो सका। अपने लड़कों को अध्ययन के लिये या तो यूनान भेजना या अपने घरों में ही यूनानी शिक्षकों को रखना रोम के ऊँचे घरानों का एक फैशन हो गया। स्टोइक दर्शन को, जो उस समय यूनान में जनप्रिय था, रोम ने अपनाया और उसे अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा तथा प्रवृत्ति के अनुसार संशोधित किया। कानून प्रणाली को मानवतावादी तथा नैतिक आधार पर रखने में इसका सबसे बड़ा भाग है।

रोमन कानून का विकास— एक गणतन्त्र के रूप में भी रोम का विदेशियों से काफी सम्बन्ध था क्योंकि वाणिज्य तथा अन्य कामों के लिये काफी विदेशी रोम में रहते थे जिनकी मौजूदगी ने न्याय प्रशासन के लिये कुछ विशेष समस्याएं उत्पन्न कीं। रोमन कानून केवल रोमन नागरिकों के लिए था। रोम अपने नागरिकता के अधिकार रोम में रहने वाले निवासियों तथा अपने नये उपनिवेशों के प्रजाजनों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने के लिये तैयार न था; इसलिये उनके पारस्परिक तथा रोमन नागरिकों के साथ सम्बन्ध रोमन कानून के अनुसार निर्धारित नहीं हो सकते थे। किन्तु स्वयं विदेशियों के बीच में और रोमन नागरिकों तथा विदेशियों अथवा उसके उपनिवेशों के प्रजाजनों के बीच में निरन्तर झगड़े उठते रहते थे जिनका निपटारा होना था; उनके साथ न्याय होना था। ऐसे मामलों का निर्णय करने के लिए एक विशेष मजिस्ट्रेट जिसे प्रेटर पेरीग्रीनस (Praetor Peregrinus) कहते थे, नियुक्त किया जाता था। उसके निर्देशन के लिए न तो कोई विधि थी और न कोई तात्त्विक कानून, उससे आशा यह की जाती थी कि वह वाद के पक्षों के विभिन्न रीति-रिवाजों को ध्यान में रखते हुए उनमें सामान्य तत्त्वों के अनुसार निर्णय करेगा। बौद्धिक सिद्धान्तों तथा नैतिक मान्यताओं के अनुसार विधि के नियम निर्धारित करने की उसे स्वतंत्रता थी। ऐसा करने में साधारणतया प्रेटर तात्त्विक कानून की रचना भी करता था। अपनी न्यायविधि के अन्त में प्रेटर अपने आदेशों को संग्रह कराके उन्हें प्रकाशित करा देता था। यद्यपि शुरु शुरु में प्रत्येक प्रेटर अपने नियम स्वतन्त्र रूप से बनाता था और अपने पूर्वगामी प्रेटर्स के नियमों पर निर्भर करना आवश्यक नहीं समझा जाता था किन्तु शनैः शनैः यह प्रथा पड़ गई कि प्रत्येक नव नियुक्त प्रेटर अपने पूर्वगामियों के नियमों को अपनाने लगा। इस प्रकार एक नई विधि का विकास हुआ जिसका आधार था परम्परायें तथा न्याय के बुद्धिसंगत सिद्धान्त। नई स्थितियों का हल करने के लिये आवश्यकतानुसार इसमें नये नियम जोड़ दिए जाते थे और उन पुराने नियमों को संशोधित कर दिया जाता था जो या तो अव्यवहारिक पाये जाते थे या जो तर्क और न्याय के विरुद्ध थे। इन नियमों को सामूहिक रूप से सार्वभौमिक विधि (*jus gentium*) की संज्ञा दी गई। इसका मतलब उन सिद्धान्तों से है जो कि विभिन्न जातियों के कानूनों तथा परम्पराओं के लिए सामान्य थे और इसी लिए जो साधारणतया सभी को मान्य थे। उनमें से कुछ को तर्कसंगत भी समझा जाता, चाहे वे किसी भी कानून प्रणाली में क्यों न हों।

सार्वभौमिक कानून (*jus gentium*) कई मूलभूत बातों में रोम के नागरिक कानून (*jus civile*) से जिसके अनुसार रोमन नागरिकों के पारस्परिक वादों का निर्णय होता था, भिन्न था: यह विभिन्न जातियों के सामान्य आचरणों और परम्पराओं के ऊपर आधारित नियमों का संग्रह था; यह निरा रोमन न था जैसा कि नागरिक क़ानून था। इसलिये यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य था। इसका निर्माण किसी व्यवस्थापिका द्वारा नहीं होता था और न ही इसका आधार जन साधारण की इच्छा थी; इसकी रचना न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियों द्वारा होती थी। यह निराकार न्याय के सिद्धान्तों का साकार रूप था। सार्वभौमिक क़ानून का एक भाग स्टोइक दर्शन से लिया गया था। उसके मानव-भ्रातृत्व तथा सार्वभौमिकवाद के सिद्धान्तों ने एक हद तक उस वर्ताव को निर्धारित किया जो कि गणतन्त्री युग के अन्तिम दिनों में विदेशियों के साथ किया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। इस प्रकार सार्वभौमिक क़ानून प्राकृतिक क़ानून (*jus naturale*) के बहुत निकट आ गया जो कि स्टोइक दर्शन की शिक्षाओं में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था और रोमन क़ानून की आरम्भिक अवस्था में तो इन दोनों में सरलतापूर्वक विभेद भी नहीं किया जा सकता था। प्रोफेसर मैकेलवेन का विचार है कि प्रारंभिक न्यायविदों ने स्टोइसिज़्म के सिद्धान्तों तथा इटली के स्थानीय क़ानूनों को एक जगह विलीन करके रोमन क़ानून को दार्शनिक तत्त्व प्रदान किया। यह विलीनीकरण सार्वभौमिक क़ानून तथा नैसर्गिक क़ानून में लगभग एकरूपता के कारण था। प्रारंभिक न्यायविदों को इन दोनों में एकरूपता देखने में कोई कठिनाई न थी क्योंकि उन्हें प्रचलित दर्शनधारा का समुचित ज्ञान था और उनकी दृष्टि केवल क़ानून तक ही सीमित न थी, वे उससे बहुत आगे का देखते थे। रोमन क़ानून उस समय अपनी शैशवावस्था में था और उस पर बाहरी प्रभाव सरलता से पड़ सकता था; आगे चलकर इसमें बड़ी जटिलता आ गई और यह एक टेक्निकल विज्ञान बन गया। उसके इस प्रारम्भिक लचीलेपन का परिणाम यह हुआ कि उन दिनों के यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्तों को 'इटली के रीति रिवाजों के ऊपर आधारित सिद्धांतों के साथ मिलाया गया और यह सम्मिश्रण आगे चलकर पश्चिमी यूरोप की नई जातियों के क़ानून और राजनीति का अधार बना। यह सम्मिश्रण और प्रत्यावर्त्तन पश्चिमी राजनीतिक विचारों के विकास को रोम की मुख्य देन है और इसका व्यावहारिक महत्त्व किसी से कम नहीं है।'*

सार्वभौमिक क़ानून तथा प्राकृतिक क़ानून, दोनों में यह बातें सामान्य थीं कि (१) कुछ नियम सर्वमान्य सिद्धान्त हैं, और (२) वे सिद्धांत हैं जिन्हें मौलिक रूप से तर्कसंगत समझा जाता था चाहे वे किसी भी क़ानून पद्धति में क्यों न पाये जायें। इस हद तक प्रारम्भिक न्यायविद इन दोनों में कोई भेद न करते थे; किन्तु आगे चलकर न्यायविदों ने इन दोनों में विभेद कर दिया। उन्होंने देखा कि दास प्रथा जैसे व्यवहारों को जो बहुत सी जातियों की क़ानून प्रणालियों के लिये सामान्य थे, सार्वभौमिक क़ानून में तो शामिल किया जा सकता है किन्तु न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत मानकर उन्हें प्राकृतिक क़ानून की श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। इस प्रकार प्राकृतिक क़ानून को किसी देश विशेष के क़ानूनों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा; उसे वह कसौटी समझा गया जिस पर कि वास्तविक राज्यों के क़ानूनों को कसा जाना चाहिये और जिसके अनुसार उनकी आलोचना होनी चाहिये। यह एक 'बौद्धिक तथा सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के स्वभाव के लिये योग्यता का एक आधारभूत सिद्धान्त बन गया जोकि किसी भी मानवकृत क़ानून का औचित्य है और होना चाहिये।'† क़ानून के सामने समानता, ईमानदारी

* McIlwain : *Ibid*, page 105.

† Sir Frederick Pollock : *History of the Law of Nature,* quoted by Sabine.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ कर्त्तव्य पालन करना, न्यायपूर्वक वर्ताव करना, शब्दों की अपेक्षा उद्देश्य का अधिक महत्त्व, आश्रितों की रक्षा, अपने सगोत्रों के दावों को अधिक मान्यता देना इत्यादि को साधारणतया सामाजिक प्राणी के नाते मनुष्य के स्वभाव से उद्भूत योग्यता के सिद्धान्त समझा जाता था। इन्हीं के प्रकाश में राज्य के मानवकृत कानूनों की व्याख्या और समीक्षा की जा सकती थी। इस प्रकार प्राकृतिक कानून का अभिप्राय मानवकृत कानून की एक गहरी और नैतिक समीक्षा थी।

साम्राज्य की छत्रछाया में कानून का विकास— उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने राजनीतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में रोम में कानून की तीन विभिन्न प्रणालियाँ थीं; नागरिक कानून, सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून। नागरिक कानून 'बारह तालिकाओं' के ऊपर आधारित नियमों का संग्रह था जिसके अनुसार रोमन नागरिकों के सम्पत्ति तथा परिवार सम्बन्धी अधिकार निर्धारित होते थे; जबकि अनागरिकों अर्थात् रोम में रहने वाले विदेशियों तथा रोमन उपनिवेशों की प्रजा के बीच के सम्बन्ध सार्वभौमिक कानून के अनुसार निर्धारित होते थे। प्राकृतिक कानून दार्शनिकों की चीज़ था और न्यायरक्षकों तथा न्यायविदों के कार्य को प्रभावित करता था। साम्राज्य के अन्तर्गत इन तीनों के एक धारा में समावेश हो जाने से एक नवीन सम्पूर्ण बन गया और साम्राज्य के समस्त प्रजाजनों पर लागू होने वाले एक विश्वव्यापी कानून का जन्म हुआ। तीनों का यह विलीनीकरण और एकीकरण कुछ कुछ निम्नांकित ढंग से हुआ।

प्रारम्भ में रोम का कानून 'बारह तालिकाओं' (Twelve Tables) में संगृहीत था; उस समय जीवन सरल था और कानूनी धारणायें तथा सम्बन्ध प्रारम्भिक थे। जैसे ही नगर राज्य की वृद्धि हुई और जीवन अधिक जटिल हो गया, नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में यह असमर्थ सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त जब उन्होंने अपने आप की अनागरिकों से तुलना की जिनके मामलों का निर्णय उस सार्वभौमिक कानून के अनुसार होता था जिसमें एक अति सभ्य और संस्कृत समाज की परम्परायें सन्निहित थीं तो उन्होंने अपने को प्रतिकूल स्थिति में पाया। इस प्रकार सार्वभौमिक कानून तथा नागरिक कानून को एक जगह विलीन करने की मांग उत्पन्न हुई। एक अत्यन्त केन्द्रीभूत साम्राज्यवादी प्रशासन के अन्तर्गत इस विलीनीकरण की प्रवृत्ति को बहुत अधिक सम्बल मिला। साम्राज्य के कोने कोने से सम्राट् के पास आवेदन-पत्र आते थे जिसने अपनी सहायता के लिये बहुत ही योग्य तथा दक्ष न्यायविदों की सेवायें प्राप्त कीं। नागरिक कानून तथा सार्वभौमिक कानून का समन्वय करके एक सम्पूर्ण तैयार करना उन न्यायविदों का कार्य था। जैसा कि ऊपर ही कहा जा चुका है, सार्वभौमिक कानून में बहुत से प्रेटर्स के आदेश तथा बहुत से भिन्न भिन्न और कुछ परस्पर विरोधी विचार तथा रीति रिवाज शामिल थे। उस ढेर में से न्यायविदों को ऐसे नियमों को छाँटना पड़ा जो कि सामान्य सिद्धान्तों के अनुकूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे और जिन्हें समस्त रोमन प्रजा पर लागू किया जा सकता था। इस चयन और संग्रहीकरण के कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न करने के लिये न्याय तथा अधिकार के स्वरूप को जानना आवश्यक था, जिसके लिए प्राकृतिक कानून का ज्ञान अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकता था। साम्राज्य के वकील तथा न्यायविद कोरे अधिवक्ता (Advocates) ही नहीं थे; वे कानून के पंडित थे और स्टोइसिज़्म की विश्वव्यापी कानून तथा मानव-भ्रातृत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत थे और इसीलिये उस कानून को जिसे कि उन्होंने बनाया एक नैतिक स्वरूप दे सके। उन्होंने वास्तविक और कल्पित मामलों तथा सामान्य कानूनी सिद्धान्तों की विवेचना की। उन्होंने जो कुछ किया उसमें से एक बुद्धिसंगत संहिता प्रणाली का विकास हुआ जिसमें सभी प्रकार के मामले आ जाते थे। उन्होंने केवल यथार्थ कानून को ही व्यक्त नहीं किया; उन्होंने उसमें मानवतावादी तथा सार्वभौमिकवादी स्टोइक दर्शन के प्रकाश में सुधार किया और उसके भागों को वह सामान्यता और व्यापकता प्रदान की जिसका आधार बुद्धि है। इस प्रकार नागरिक कानून सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून को एक जगह मिलाकर जगद्विख्यात 'रोमन कानून' की उद्भावना हुई। इस प्रक्रिया में प्राकृतिक कानून अधिक व्यावहारिक हो उठा; सार्वभौमिक कानून से सम्बद्ध होकर वह स्वर्ग से धरती पर उतर आया। और सार्वभौमिक कानून अधिक सामान्य हो गया। रोम का दृष्टिकोण अधिक मानवी हो गया और कम संकुचित रह गया; उसका मूलतः व्यावहारिक चरित्र स्टोइसिज़्म से लिये हुए न्याय के व्यापक आदर्श को पाकर अधिक भव्य हो उठा। रोमन कानून के विभिन्न स्वरूपों और अंगों *jus civile, jus gentium* तथा *jus naturale* का अनुवाद क्रमशः नागरिक कानून, सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून किया है। यद्यपि हिन्दी के ये शब्द अंग्रेज़ी शब्दों के भाव को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाते क्योंकि प्रचलित अभिव्यंजना में इनका अर्थ संकुचित होता है, किन्तु अधिक उपयुक्त शब्दों के अभाव में इनका प्रयोग करना ही पड़ा।

रोम की कानून विषयक धारणा— रोमन कानून के विकास का जो विवरण हमने ऊपर दिया उसका अन्तिम फल हुआ कानून की एक नवीन धारणा की उद्भावना जो कि परम्परावादी यूनानी विचार से एकदम भिन्न थी। यूनानियों ने कानून को धर्म तथा आचार शास्त्र से अलग नहीं किया। यूनानी मस्तिष्क में यह विचार कभी नहीं आया कि कानून का स्रोत एक श्रेष्ठ मानव की इच्छा है। उनके लिये कानून विशुद्ध और निर्लिप्त बुद्धि की अभिव्यंजना था और उसकी मान्यता का आधार नैतिक या धार्मिक था। हो सकता है कि पहिले रोमनों के मन में भी ऐसे विचार आये हों किन्तु यदि ऐसा है तो उनमें आगे चल कर भारी परिवर्तन हुआ। रोम में कानूनी विकास का अन्तिम फल यह हुआ कि कानून का धर्मनिरपेक्षीकरण हो गया जिस आधार पर कानून की यह प्रचलित धारणा टिकी हुई है कि कानून एक निश्चित श्रेष्ठ मानव का आदेश है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरु शुरु में रोमन कानून धार्मिक तथा परम्परागत नियमों का सम्मिश्रण था। यह विचार कि राज्य कानून बना सकता है वहाँ नहीं था। प्रथा के ऊपर आधारित कानून को भंग करना राज्य के प्रति अपराध की अपेक्षा देवताओं के प्रति पाप अधिक समझा जाता था। परन्तु ४५० ई० पू० के लगभग 'बारह तालिकाओं' के रूप में रोमन कानूनों के संग्रहबद्ध हो जाने से रोम के कानूनी इतिहास में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद धार्मिक तत्त्व को अधिकाधिक तिरस्कृत किया गया और कानून को अधिकाधिक राज्य की इच्छा समझा जाने लगा। यह सिद्धान्त कि कानून राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति है, राज्य ही इसका निर्माण करता है और राज्य की शक्ति उसकी स्वीकृति का आधार है, दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गया। कानून धर्म और आचार शास्त्र से अलग हो गया। यह कानून के स्वरूप के विषय में किसी सिद्धान्तीकरण का परिणाम नहीं था बल्कि व्यावहारिक आवश्यकता का फल था। एक विस्तृत साम्राज्य में जिसमें विभिन्न धर्मों के लोग हों कानून तथा धर्म में सम्बन्ध बनाये रखना एकदम असम्भव था।

यह विचार कि रोमन कानून धर्मनिरपेक्ष और मानवीकृत हो गया, कि धर्म और आचार शास्त्र से इसे अलग कर दिया गया और यह कि यह सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति था, एक हद तक ही सही है। यह समझना गलत होगा कि पूर्ण रूप से विकसित आधुनिक विचारों की उद्भावना रोमन विचारकों द्वारा हुई। पहिली बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि यद्यपि रोम में यह सिद्धान्त स्थापित हो चुका था कि शासक की शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता है और शासक की इच्छा कानून की शक्ति इसलिये रखती है क्योंकि जनता ने अपना अधिकार उसे दे दिया है, तथापि रोमन कानून की उत्पत्ति विधेय (Legislation) द्वारा बहुत थोड़े ही अंश में हुई थी। जो अभिकरण रोम में कानून बनाता था उसे आधुनिक सरकार का व्यवस्थापक अंग कहना कठिन है। यह विचार कि कानून एक समर्थ व्यवस्थापिका की इच्छा की अभिव्यक्ति है, बहुत नवीन है। दूसरी बात यह कि रोमन न्यायविदों तथा अभिभाषकों (Lawyers) के मस्तिष्क में यह विचार सदैव वर्तमान रहता था कि प्रकृति का उच्चतर कानून कुछ निश्चित कसौटियाँ रखता है जिनके ऊपर राज्य द्वारा निर्मित मानवकृत कानून को कसा जाना चाहिये। वे स्टोइसिज़्म के मानववादी विचारों से बहुत अधिक प्रभावित थे। यह प्राचीन सिद्धान्त कि कानून अमूर्त विवेक है और एक कानून विहित सरकार तथा एक सफल आततायीतंत्र में एक मोटा भेद है उनकी आँखों से पूर्णतया कभी ओझल नहीं हुआ। कानून की अधीनता तथा मानव गौरव में सामंजस्य हो सकता था क्योंकि कानून किसी न किसी प्रकार से जन-इच्छा की अभिव्यक्ति है, जबकि दयालु से दयालु निरंकुश राजा की अधीनता को भी नैतिक अधःपतन का कारण समझा जाता था। जैसाकि सेबाइन ने कहा है, रोमन कानून ने सिसरो के इस वाक्य की भावना को सदा अपनाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्खा कि "हम कानून की अधीनता इसलिये स्वीकार करते हैं ताकि हम स्वतन्त्र रह सकें।"*

राजनीतिक विचार को रोम की देन— जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, कानून तथा न्याय शास्त्र को रोमनों की मुख्य देन यह है कि कानून धर्मनिरपेक्ष है जिसको शक्ति का स्रोत धर्म या आचार शास्त्र नहीं बल्कि शासक की इच्छा है। इसी में सन्निहित यह विचार है कि राज्य समाज से भिन्न है और वह नैतिक समुदाय इतना नहीं जितना कि कानूनी ढांचा है।

यूनानियों ने राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जिसका फल यह हुआ कि उन्होंने, विशेषकर अफलातून ने, व्यक्ति को राज्य में विलीन कर दिया। रोमन विचार में व्यक्ति का अस्तित्व सुरक्षित है, उसे राज्य में विलीन नहीं किया गया, उसे राज्य से अलग कर दिया गया और दोनों के निश्चित अधिकारों और कर्त्तव्यों के क्षेत्र अलग अलग कर दिये गये। व्यक्ति को कानूनी विचार का केन्द्र बनाया गया; व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कार्य था। और न एपीक्यूरियन्स तथा स्टोइक्स की भाँति राज्य को अनावश्यक ही समझा गया। राज्य को एक कानूनी व्यक्ति समझा गया जो अपने अधिकार का प्रयोग निश्चित सीमाओं के अन्दर करता था। सारांश यह कि रोमनों ने राज्य के कानूनी व्यक्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसने बहुत बड़ी सीमा तक मध्यकालीन विचारकों के विचार की रूपरेखा निर्धारित की। इस विचार की उत्पत्ति समाज से अलग राज्य के एक निराकार विचार के कारण सम्भव हो सकी। राज्य और समाज में यह भेद सब से अधिक सेनीका ने किया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि मिश्रित संविधान की धारणा का प्रतिपादन अरस्तु ने किया था जिसे कि वह शासन की स्थिरता में सहायक समझता था, और कुछ हद तक उसे व्यवहार में भी परिणत किया जा चुका था, किन्तु इस धारणा को विकसित करना तथा इसे व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का आधार बनाने का कार्य रोमनों का था। पोलिबियस की धारणा थी कि रोमन साम्राज्य की महानता और स्थिरता मुख्य रूप से रोमन प्रणाली के मिश्रित स्वरूप तथा नियंत्रण तथा संतुलन के सिद्धान्त, और कुछ हद तक शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के कारण थी।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सार्वभौमिक कानून और विश्व नागरिकता की स्टोइक धारणायें अमूर्त्त ही रह जातीं, यदि उन्हें एक बड़ी हद तक उस रोमन साम्राज्य में मूर्त रूप न दिया जाता जैसाकि ऑगस्टस के शासन के बाद की शताब्दियों में स्थापित हुआ था। साम्राज्य के सभी व्यक्तियों पर, उनकी जाति और निवास स्थान का विचार किये बिना, एक कानून लागू होता था और सार्वभौमिकवाद का यह विचार कि मनुष्यों के अधिकार उनकी जाति और निवास स्थान से स्वतन्त्र होते हैं, एक हद तक क्रियान्वित हो उठा था।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि रोम ने अपना राजनीतिक जीवन एक राजतंत्री

* "We are servants of the law in order that we may be free."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगर राज्य के रूप में आरंभ किया और गणतंत्र के रूप में ऐश्वर्य प्राप्त किया। राजतंत्री युग में भी रोम ने गणतंत्र के इस तत्व की पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं की कि राज्य की अन्तिम शक्ति समस्त जनता में रहती है। जहाँ तक कि सिद्धांत का सम्बन्ध है रोमन सम्राट अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करते थे, उसके अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करते थे तथा उसके प्रति उत्तरदायी थे। यद्यपि राज्य के कानून सम्राट की इच्छा को अभिव्यक्त करते थे; परन्तु जनता उन ो इसलिये मानती थी क्योंकि उसका विश्वास था कि सम्राट उन्हीं की दी हुई शक्ति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त रोम में वहुत दिनों तक यह धारणा वनी रही कि कानून न्यायरक्षकों तथा जनता के समझौते द्वारा वनाये जाते हैं। न्यायरक्षक गण कानूनों का प्रस्ताव रखते थे और जनता उन्हें स्वीकार करती थी। इस लिये यह कहा जा सकता है कि रोमन सिद्धान्त के अनुसार कानून जनता के ऊपर किसी बाहरी शक्ति द्वारा नहीं लादा जाता था वल्कि गैटल के शब्दों में वह 'परस्पर वर्तालाप के वाद राज्य के निर्मायक तत्वों के बीच में एक अनुवन्ध था'। जनता द्वारा अपनी शक्ति न्यायरक्षकों, कन्सलों (Consuls) तथा सम्राटों को एक अनुबन्ध द्वारा दे देना, यह विचार राजनीतिक विचार को रोमनों की एक मुख्य देन है। इस प्रकार की शक्ति एक वार देने के बाद फिर वापिस नहीं ली जा सकती थी; जनता के पास अत्याचारी शासकों का कोई इलाज न था। इस प्रकार रोमन न्यायशास्त्रियों ने जन-इच्छा के आधार पर एक निरंकुश शासन का भवन खड़ा कर दिया।

एक अन्य वहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसकी उद्भावना रोमनों ने स्वतंत्र रूप से की थी भी उल्लेखनीय है; इसके विकास में यूनानी विचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह है Imperium अर्थात् राजसत्ता का सिद्धान्त। आदि काल से ही रोमनों का यह विश्वास था कि प्रत्येक समाज अथवा जाति में अपने व्यक्तिगत सदस्यों को आदेश देने तथा उनसे असीमित आज्ञापालन कराने की एक अन्तर्निहित शक्ति होती है जिसे वह किसी को दे नहीं सकती; वह अदेय होती है। इस शक्ति को वह Imperium कह कर पुकारते थे जिसे आधुनिक भाषा में राजसत्ता या सार्वभौमिकता कहा जा सकता है। इस अधिकार का होना प्रत्येक समाज की मुख्य विशेषता थी। रोमनों ने इस विचार का कोई क्रमवद्ध विकास नहीं किया; परन्तु इसका प्रयोग करके कानून की एक भव्य प्रणाली का विकास किया। यह उनके राज्य के संघटन का आधार थी। राज्य के इम्पीरियम का स्वरूप उसकी अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति से भिन्न था।

शुरु २ में राजसत्ता राजाओं में रहती थी जिनकी निरंकुश शक्ति पर जनता का किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता था। राजशक्ति के प्रयोग में जनता का कोई हाथ नहीं होता था। एक राजा के मरने पर राजसत्ता उसके उत्तराधिक.री के हाथ में आ जाती थी। गणतंत्र के समय राजसत्ता बहुत से अधिकारियों में विभक्त थी। ये अधिकारी राजसत्ता के प्रयोग के लिये अपने पद की अवधि समाप्त होने पर, पदासीन रहते समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, जनता के प्रति उत्तरदायी होते थे। इससे जाहिर होता है कि गणतंत्री युग में राजसत्ता का अन्तिम स्वामी स्वयं जनता को समझा जाता था। जनता ही इस बात का निर्णय करती थी कि राजसत्ता किसे मिलनी चाहिये और विभिन्न न्यायरक्षकों में वह किस प्रकार विभक्त होनी चाहिये। परन्तु जनता स्वयं उसका प्रयोग नहीं कर सकती थी; और एक या अधिक अधिकारियों को एक बार हस्तान्तरित करके उनसे वह वापिस नहीं ले सकती थी, उसे उनकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार यह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ कि राज्य की अन्तिम शक्ति पर जनता का अधिकार है किन्तु वह एक या अधिक व्यक्तियों को दे देती है। साम्राज्यवादी युग में भी इस कल्पना का ह्रास नहीं हुआ कि राजसत्ता का अन्तिम स्रोत जनता है और सम्राट् जनता का अभिकर्ता (Agent) है; यद्यपि वास्तव में सम्राट् किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था; केवल उसे ही आदेश देने और आज्ञापालन करवाने का अधिकार था। अपने बुद्धि-चातुर्य और कौशल से वकीलों ने एक ऐसे निरपेक्ष शासक की सृष्टि कर डाली थी जिसकी इच्छा कानून था। गणतन्त्री तथा साम्राज्यवादी युगों में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि साम्राज्यवादी युग में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही राजसत्ता एकीकृत थी। गणतन्त्र में सैनिक अधिकारीगण भी राजसत्ता के प्रयोग में भाग लेते थे। साम्राज्य के अन्तर्गत शासकों को सेना के नियन्त्रण पर अधिकाधिक निर्भर करना पड़ता था; इस लिये राजसत्ता के नागरिक और सैनिक अंग एक जगह घुल मिल गये और राजसत्ता एकीकृत हो गई। राजसत्ताधारी को निरंकुश बनने से रोकने वाली यह भावना थी कि राजसत्ता एक धरोहर है जिसका प्रयोग जनहित के लिए होना चाहिये। राजतन्त्र के युग में यह भावना एक वास्तविकता थी; गणराज्य और साम्राज्य के काल में भी यह जीवित रही। गणतन्त्र के युग में सचमुच और साम्राज्य के युग में केवल सैद्धांतिक रूप से यह विश्वास किया जाता था कि राजसत्ता का आधार जन-इच्छा है। इस हद तक हम कह सकते हैं कि रोमन लोग जनप्रिय सत्ता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे।

पोलिबियस (Polybius)— यह है रोम की कानूनी पद्धति के विकास और राजनीतिक विचार को रोम की देन का संक्षिप्त इतिहास। किन्तु रोम की शासन पद्धति की महानता, विजय तथा स्थिरता के कारणों के बारे में पोलिबियस के विचार तथा सिसरो और सैनेका (Seneca) के राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख किये बिना उपरोक्त विवरण अधूरा और अपूर्ण ही रहेगा।

पोलिबियस का जन्म २०४ ई० पू० में हुआ था; वह एक यूनानी दार्शनिक इतिहासकार था। १६ वर्षों तक रोमनों ने उसे एक राजनीतिक बन्धक के रूप में रक्खा था। रोम में रहते हुए उसने वहाँ के बौद्धिक तथा सैनिक नेताओं से सम्बन्ध स्थापित किये और रोम के मन, चरित्र तथा संस्थाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। वह इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि रोमनों ने ५३ वर्ष से कम के समय में ही संसार को परास्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर डाला और अपने 'रोम का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उसने रोम को इस अद्भुत सफलता के कारणों का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। उसके विचार में इसका कारण रोम की असाधारण स्थिर शासन प्रणाली थी।

पोलिवियस ने अफलातून और अरस्तु की यह वात अपनाई कि सरकारों को ६ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है और सरकार एक परिवर्तन चक्र में से गुज़रती है। यद्यपि इस विचार की कि एक मिश्रित सरकार की अपेक्षा अमिश्रित सरकार अधिक शीघ्रता से पतित हो जाती है सब से पहिले उद्भावना अफलातून और अरस्तु ने की किन्तु पोलिवियस द्वारा इसे बहुत बड़ा सम्बल मिला। उसके विचार से रोमन सरकार की इतनी अधिक स्थिरता का कारण उसका मिश्रित चरित्र था। यह राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तत्त्वों का एक सुन्दर समन्वय था। राजतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व कन्सल्स (Consuls), कुलीनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व सीनेट (Senate) तथा जनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व जनता की सभाओं द्वारा होता था। मिश्रित संविधानों के विषय में अफलातून तथा अरस्तु और पोलिवियस के विचारों में बहुत बड़ा अन्तर है। अरस्तु जनतन्त्र तथा धनतन्त्र के आधारभूत राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण करना चाहता था। उसकी 'पोलिटी' एक ऐसा राज्य था जिसमें मध्यवर्ग सब से अधिक शक्तिशाली था और जिसमें स्वतन्त्र जन्म के जनतन्त्री सिद्धान्त तथा राज्य के पदों के वितरण के लिये धनतन्त्र के गुणात्मक सिद्धांत का गठजोड़ करने का प्रयास किया गया था। पोलिवियस ने अपने मिश्रित संविधान में उन तत्त्वों का सम्मिश्रण करने की चेष्टा की है जोकि विभिन्न प्रकार की सरकारों की विशेषतायें हैं; वह सरकार की शक्तियों को विभिन्न अंगों में विभक्त करता है जिनमें से प्रत्येक अंग सरकार के एक विशिष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करता है। जैसाकि हम पहिले ही कह चुके हैं, राज्य की सर्वोच्च सैनिक शक्ति कन्सल्स (Consuls) के हाथों में थी जोकि राज्य के राजतन्त्री अंग का प्रतिनिधित्व करते थे; न्यायिक तथा वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ सीनेट को दी गई थीं जोकि कुलीनतन्त्री वर्ग की प्रतिनिधि थी, और नीति-निर्धारक कार्य जनप्रिय सभाओं को दिये गये जिन्हें जनतंत्री अंग कहा जा सकता है। परन्तु रोमन पद्धति को वास्तविक स्थिरता प्रदान करने वाली चीज़ यह थी कि इसमें वे तीनों अंग एक दूसरे को नियन्त्रित करते थे और उसे अति शक्तिशाली होने से रोकते थे। यदि कन्सल्स अपने अधिकार की सीमाओं का उल्लंघन करते थे तो सीनेट जिसका धन के ऊपर अधिकार था, उन्हें नियन्त्रित कर सकती थी। जनप्रिय सभायें राज्य पदों को वितरित करने तथा कानून बनाने और उन्हें रद्द करने की अपनी शक्ति द्वारा अन्य दो अंगों को नियन्त्रित कर सकती थीं। रोमन प्रणाली में प्रत्येक अंग का एक दूसरे के ऊपर नियन्त्रण था; यह 'नियन्त्रण और संतुलन' (Checks and Balances) के सिद्धांत के ऊपर आधारित था। इस सिद्धांत को एक विकसित रूप में सामने रखने का सर्वप्रथम श्रेय पोलिवियस को है। रोम की सफलता की कुंजी यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नियन्त्रण और संतुलन' का सिद्धांत था जैसा कि पोलिबियस का विचार था या कोई और चीज़? यह एक कठिन प्रश्न है जिसमें जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। हम केवल इतना कहेंगे कि मोमसेन (Mommsen), जो कि एक महान् इतिहासकार था, पोलिबियस के इस अनुमान को एक बुद्धिहीन राजनीतिक कल्पना समझता है।

सिसरो (Cicero)— अब हम सिसरो और सैनेका (Seneca) पर आते हैं, जिनका रोम में स्टोइक दर्शन का प्रवेश कराने में मुख्य हाथ है। सिसरो का जन्म पोलिबियस से लगभग एक सौ वर्ष बाद १०६ ई० पू० में हुआ था, जब कि रोम में दो शक्तिशाली गुटों में गृहयुद्ध होने के फलस्वरूप गणतंत्री संविधान ढल रहा था। वह सामाजिक संघर्ष का युग था; गण राज्य के विभिन्न अंगों का गतिरोध समाप्त करने के लिए शक्ति का सहारा लिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि गणतंत्री संविधान की असफलता की पृष्ठभूमि में सिसरो ने अपनी रचनायें कीं। उसका उद्देश्य गण राज्य को टाइबीरियस ग्रेकस (Tiberius Gracchus) के क्रांतिकारी शासन से पूर्व के रूप में प्रतिष्ठित करना था। उसका ध्येय यह भी था कि उसके देशवासी रोम के जनसेवा के परम्परागत धर्म तथा प्राचीन शासन पद्धति को फिर से अपनायें। उसे अपने उद्देश्य में कोई विशेष सफलता नहीं मिली; उस समय उसकी कृतियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु उनमें एक महान् गुण था; उनकी शैली ओजपूर्ण है, उनमें धाराप्रवाह है और उनका व्यापक अध्ययन हुआ। उनका महत्त्व अपने विचारों की मौलिकता में नहीं, अपनी अभिव्यंजना की शैली में है। जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है उसकी कृतियाँ संग्रह-मात्र थीं; परन्तु जैसा कि सैबाइन ने कहा है, उसने जिस विचार को एक बार लेखबद्ध कर दिया वह पाठकों के लिये सदा बना रहा और वह अमर हो गया। यूनानी राजनीतिक विचारों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसारक (Transmitter) होने के नाते सिसरो का राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सिसरो ही वह व्यक्ति था जो कि स्टोइक्स के प्राकृतिक कानून को स्वर्ग से धरती पर लाया; उसके द्वारा ही प्राकृतिक कानून और समानता के स्टोइक विचारों की रोमन पद्धति में अनुभूति हुई और वे विश्व की थाती का एक स्थायी भाग बने। वह अफलातून की रचनाओं से भी परिचित था और उसने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों का नामकरण करने में भी उस महान् यूनानी विचारक का अनुकरण किया है। उसकी महत्वपूर्ण कृतियों के नाम हैं: डी रिपब्लिका (De Republica), डी लेजीबस (De Legibus), तथा डी ऑफीसिस (De Officiis)। परन्तु सिसरो यूनानी विचार का पुनर्कथन मात्र नहीं करता; उसने उसकी पुनर्व्याख्या भी की है और रोमन वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए उसे अधिक ठोस अर्थ प्रदान किया है। उसने स्टोइक दार्शनिक विचारों को लैटिन कानूनी शब्दों में परिभाषाबद्ध कर दिया जिनका प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे आने वाले रोमन तथा ईसाई वकीलों ने किया। उसने नये नये शब्द भी घड़े जिनका वाद के लेखक बराबर प्रयोग करते रहे।

'डी रिपब्लिका' की रचना में अफलातून की 'रिपब्लिक' का अनुकरण किया गया है। न केवल उनके नामों में बल्कि सामान्य विषय सामग्री तथा विषय प्रवन्ध में भी दोनों में एक घनिष्ठ समानान्तर है। न्याय के स्वरूप की मीमांसा दोनों ग्रंथों का मुख्य विषय है। और सिसरो कार्नीडीज़ (Carneades) की विध्वंसक आलोचना के विरुद्ध न्याय का पक्ष समर्थन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन करता है। अफलातून की भाँति ही सिसरो भी अपनी 'डी रिपब्लिका' में एक आदर्श राज्य अंकित करता है। परन्तु जब कि अफलातून का आदर्श राज्य हवाई क़िला था और इस धरती के वास्तविक मानव जीवन से उसका कोई सम्बन्ध न था, सिसरो का आदर्श राज्य यथार्थ के अत्यन्त निकट है। वह उसके सिद्धांतों का विकास रोमन संविधान के इतिहास की धारा में देखता है। एक आदर्श राज्य का संविधान एक लम्बे विकास का परिणाम है जिसमें विभिन्न परिस्थितियों में सोचने वाले बहुत से व्यक्तियों ने योग दिया है। इसकी स्थापना एक व्यक्ति की प्रतिभा द्वारा नहीं हो सकती, उसके लिये युगों की आवश्यकता है। ऐसा संविधान मिश्रित होता है। रोमन प्रणाली में ये सभी गुण पाये जाते थे। अफलातून नगर-राज्य का दार्शनिक था; सिसरो, जिसका पोषण स्टोइक दर्शन से हुआ था, विश्व की भावना रखता था।

सिसरो राज्य को एक 'कॉमनवैल्थ' (Commonwealth) कह कर पुकारता है। यह मनुष्यों का समूह है जो एक दूसरे के लिए स्वाभाविक संवेदना की भावना द्वारा एक जगह संघटित हुये हैं; उनका राजनीतिक संघटन सूत्र उनका एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है, समाज से अलग रहकर निर्बलता का अनुभव या कोई भौतिक स्वार्थ नहीं। राज्य का आधार मनुष्यों के पारस्परिक हितों की एकता तथा न्याय के ऊपर आधारित कानून को स्वेच्छापूर्वक मानना है, भय अथवा लोभ नहीं। यहाँ तक तो सिसरो और अफलातून में कोई अन्तर नहीं है; सिसरो ने राज्य के मूल तथा स्वरूप के विषय में यूनानी विचारों को पुनर्व्यक्त किया है। परन्तु एक बात में उसमें तथा अफलातून में एक आधारभूत अन्तर है। सिसरो का राज्य अफलातून के राज्य की भाँति एक विशिष्ट तन्त्र नहीं है जिसमें कि राजनीतिक शक्ति केवल कुछ व्यक्तियों के हाथ में है और शेष उसके अंग होते हुए भी उसकी शक्ति में भाग से वंचित हैं; सिसरो का राज्य जनता का राज्य है। इसका ध्येय सब की भलाई है; समस्त जनता का इससे सम्बन्ध है। उचित और कानूनी राजनीतिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति है।

सिसरो के सरकारों के वर्गीकरण में कोई नई बात नहीं है। वह उन्हें तीन प्रारंभिक वर्गों में विभक्त करता है: (१) राजतन्त्र, (२) कुलीनतन्त्र, (३) जनतंत्र। इनमें से प्रत्येक विशुद्ध रूप की प्रवृत्ति अपने अनुरूप भ्रष्ट रूप में परिवर्तित हो जाने की होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रवृत्ति को रोकने का केवल एक ही साधन है और वह है इन तीनों के तत्त्वों को सम्मिश्रण कर देना। पोलिबियस के चरणचिह्नों पर चलते हुए वह भी रोमन संविधान को मिश्रित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण समझता है। प्रोफेसर डनिंग (Dunning) के अनुसार सिसरो का 'नियन्त्रण तथा संतुलन' का सिद्धान्त पोलिबियस के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सजीव है, वह उतना यान्त्रिक नहीं है; रोमन विचारक सिसरो तत्त्वों और अंगों की अपेक्षा सिद्धान्तों के संतुलन को अधिक पसन्द करता था। यह विषय कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं है; इसलिये इसका विस्तृत विवरण आवश्यक नहीं। जिस चीज ने पाश्चात्य राजनीतिक विचार के इतिहास में सिसरो को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है वह उसकी राज्य की परिभाषा या सरकारों का वर्गीकरण नहीं बल्कि प्राकृतिक कानून (Law of Nature) की स्टोइक धारणा की उसके द्वारा की हुई पुनर्व्याख्या तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग है। उसके लेखों के बहुत से अवतरणों को जिनमें कि इसकी अभिव्यंजना हुई है, रोमन वकीलों तथा 'चर्च पिताओं' (Church Fathers) ने प्रायः उद्धरित किया है जिनके द्वारा वह रोमन कानून का एक अंग बना और फिर मध्यकालीन लेखकों तथा उनसे भी आगे तक पहुंचा। सिसरो की धारणा थी कि समस्त ब्रह्माण्ड को शासित करने वाला एक ही कानून या कानून-प्रणाली है जो कि ब्रह्मा की सृष्टि में प्रत्येक वस्तु— चैतन्य, जड़, बुद्धिपरक अथवा अबुद्धि-परक— के ऊपर लागू होता है। यह इतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं कानून और यह स्वयं राज्य का स्रोत है; मनुष्यों को राज्यरूपी माला में गूंथने वाला सूत्र है कानून। सिसरो के शब्दों में कानून "प्रकृतिसम्मत विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो सब मनुष्यों में प्रसरित है, जो नित्य और शाश्वत है; जो अपनी आज्ञा द्वारा कर्तव्य का पालन कराता है और निषेधाज्ञा द्वारा छल छन्द से रोकता है।"* यद्यपि समस्त चीज़ों का व्यवहार इसके अनुसार चलता है; किन्तु इसका पालन करने के सब के ढंग भिन्न भिन्न होते हैं। जड़ जगत प्राकृतिक आवश्यकता के वश उससे बंधा हुआ है; पशु अपनी विवेकहीन सहज प्रवृत्तियों के कारण उसके निर्देशन में रहते हैं; वे उसका पालन तो करते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि वह क्या है। मनुष्य और केवल मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस कानून को जानने की सामर्थ्य रखता है और चेतनापूर्वक उसके अनुसार आचरण करता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक वस्तुएँ तथा निम्नतर प्राणी प्रकृति के कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं; किन्तु मनुष्य उस कानून के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुसार आचरण करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राकृतिक कानून का सिसरो का अर्थ आधुनिक वैज्ञानिकों से भिन्न है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त (Law of Gravitation) मानव प्राणियों पर भी उतना ही लागू होता है जितना कि पत्थरों पर; परन्तु मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का उसके अनुसार होने के लिये

---

* Law is right reason consonant with nature, diffused among all men, constant and eternal; which summons to duty by its command and hinders from fraud by its prohibition.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह आवश्यक नहीं है कि वह उससे अवगत हो और उसके अनुसार आचरण करे। और न ही कोई व्यक्ति उसका उल्लंघन कर सकता है। किन्तु सिसरो का प्राकृतिक कानून मानव व्यापार पर स्वयमेव लागू नहीं होता; मनुष्य उसे अपनी चेतना द्वारा ग्रहण करके और स्वेच्छा द्वारा ही उसके अनुसार आचरण कर सकते हैं। यह स्वयं अपने ऊपर लगाया जाता है और इसीलिये कोई व्यक्ति इसका पालन करने के लिये विवश नहीं है यद्यपि प्रत्येक को इसका पालन करना चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक कानून भौतिक नियमों से भिन्न होता है; उसका स्वरूप नैतिक सिद्धान्त जैसा होता है; इसे ईश्वरीय कानून कहना अधिक समुचित होगा।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक कानून नित्य और अपरिवर्त्तनीय है। अनादि होने के कारण वह स्वयं राज्य का स्रोत है। इसमें यह बात निहित है कि एक राज्य विशेष के द्वारा बनाये हुए कानून प्राकृतिक कानून अथवा शुद्ध बुद्धि के अनुसार होने चाहियें। उनका पालन करना नागरिकों के लिये वहीं तक बाध्य है जहाँ तक कि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार हैं। यदि वे उसके अनुकूल न हों तो नागरिकों के लिए उन का मानना अनिवार्य नहीं। वास्तव में राज्य द्वारा बनाया हुआ कोई भी कानून जो इसके विरुद्ध हो सच्चे अर्थों में कानून नहीं हो सकता; जो चीज़ स्वयं ग़लत है उसे कोई भी शासक अपनी मोहर लगाकर सही नहीं कर सकता। स्वयं सिसरो के शब्दों में 'इस कानून को मानव के बनाये हुए कानूनों द्वारा रद करना नैतिक रूप से कभी भी उचित नहीं हो सकता।'

दूसरे शब्दों में, मनुष्य दो कानूनों के अधीन हैं: (१) प्रकृति का कानून, (२) जिस राज्य में वे रहते हैं उसके बनाये हुए कानून। पहिले का पालन करने का उनका कर्त्तव्य निरपेक्ष और अशर्त्त है; दूसरे के प्रति उनकी भक्ति सशर्त्त है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होते ही राज्य के कानून अपनी मान्यता खो बैठते हैं। सिसरो का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में प्राकृतिक कानून को जान लेने की क्षमता है। अफलातून के अनुसार वह शक्ति केवल दार्शनिक राजा का एकाधिकार था। सिसरो की शिक्षाओं में प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त एक अन्य बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त से सम्बद्ध है और वह है मनुष्य की प्राकृतिक समानता का सिद्धान्त। यह सिद्धान्त राजनीतिक विचार को स्टोइसिज़्म की सब से महत्त्वपूर्ण देन है। मनुष्य धन, विद्या तथा शारीरिक बल में समान नहीं हैं; किन्तु बुद्धि पर उन सब का समान रूप से अधिकार है और वे सब के सब मानव प्राणी हैं। इसलिये वे समान हैं। मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में समान हैं। असमानता पाप से उत्पन्न होती है, प्रकृति से नहीं; वह मनुष्य-जनित है, प्राकृतिक नहीं। मनुष्य की प्राकृतिक समानता में यह विश्वास स्टोइक्स तथा सिसरो को अफलातून और अरस्तु की अपेक्षा हमारे अधिक निकट ले आता है। डा० कारलाइल (Carlyle) के शब्दों में यह प्राचीन तथा आधुनिक राजनीतिक विचार के बीच की विभाजक रेखा है। परन्तु सिसरो समानता को एक तथ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं वल्कि एक नैतिक आवश्यकता समझता है; वह उसके द्वारा किसी जनतंत्री परिणाम पर नहीं पहुँचता।

प्राकृतिक कानून की धारणा की एक अन्य उपसिद्धि भी उल्लेखनीय है। एक ही बुद्धि में भागीदार होने के कारण सभी मनुष्य एक सामान्य तथा विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून के अधीन हैं और एक ही न्याय को प्राप्त करते हैं। एक ही कानून के अधीन होने तथा एक ही न्याय में भागीदार होने के कारण समस्त मानव प्राणी एक ऐसे समाज के घटक हैं जो कि जाति तथा भाषा का अतिक्रमण करता है और जो स्वयं मानवता का एकाकार है। हमें समस्त विश्व को एक सामान्य संघ समझना चाहिये अच्छे बुरे सभी मनुष्य जिसके घटक हैं। विश्वनागरिकता के स्टोइक सिद्धान्त की यह पुनरावृत्ति है।

सिसरो के राजनीतिक सिद्धान्त में तीन विचार प्रमुख हैं; उन्हें लगभग सभी रोमनों ने स्वीकार कर लिया था और कई शताब्दियों तक वे पश्चिम की बौद्धिक थाती के भाग वने रहे। वे ये हैं: (१) राज्याधिकार का स्रोत जनता है, (२) इसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिये, और (३) नैतिक आधार पर ही इसका प्रयोग करना उचित है। परन्तु इन विचारों को व्यावहारिक रूप से लागू करने में विभिन्न लेखकों तथा विद्वानों में काफी मतभेद था। उदाहरण के लिए, यद्यपि प्रत्येक इस बात को स्वीकार करता था कि आततायीतन्त्र घृणात्मक है और उसे सहन नहीं किया जाना चाहिये, किन्तु एक आततायी शासक से किस प्रकार छुटकारा पाया जाये, इस प्रश्न का कोई सामान्य उत्तर न था। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता था कि सरकार की शक्ति का स्रोत जनता है; किन्तु इस प्रश्न के बारे में वे एकमत न थे कि जनता का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है। 'साम्रज्य' में ऐसे विचार गणतन्त्री युग के अवशेष थे किन्तु उनमें अधिक तथ्य नहीं रह गया था।

सैनेका (Seneca)– रोमनों में स्टोइक विचारों तथा सिद्धान्तों का बहुत बड़ा प्रचार करने वालों में दूसरा बड़ा विचारक सैनेका था जिसका प्रादुर्भाव सिसरो से एक शताब्दी के बाद हुआ। 'साम्राज्य' के प्रारम्भिक दिनों में रोम ने राजनीतिक सद्गुणों का बहुत बड़ा पराभव देखा था। राज्य निरंकुश हो चुका था; जनता भी उतनी ही पतित हो चुकी थी जितना कि शासक। ऐसी परिस्थितियों में राज्य को अब जनता के नैतिक विकास का साधन नहीं समझा जाता था; नागरिक सद्गुणों का अभाव हो गया था। उस समय पर आच्छादित निराशावाद का प्रतिविम्ब हमें सैनेका के लेखों में मिलता है। यह एक नई तान है जो हमें सिसरो में सुनाई नहीं पड़ती थी। सिसरो ने एक नैतिक उद्देश्य को लेकर अपनी रचनायें की हैं और वह उद्देश्य था रोमनों के परम्परागत नागरिक सद्गुणों को पुनर्जीवित करना; परन्तु सैनेका के मन में ऐसा कोई सपना न था। वह महसूस करता था कि एक अच्छा व्यक्ति एक सार्वजनिक पद पर बैठकर अपने देशवासियों का अधिक हित नहीं कर सकता। इसीलिए वह सरकार के रूपभेद को कोई महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न देता था। वह इस उक्ति का हृदय से स्वागत करता था कि 'सरकार के रूप के लिए केवल मूर्ख झगड़ते हैं; सर्वोत्तम सरकार वही है जो सर्वोत्तम ढंग से चलाई जाये।'*

परन्तु आदिकालीन 'सिनिक्स' तथा 'स्टोइक्स' की भांति सैनेका ने सामाजिक जीवन का परित्याग करने की सलाह नहीं दी। उसने राज्य और समाज में भेद किया। उसकी धारणा थी कि मनुष्य पर दो संघों का अधिकार है जिनमें से एक राज्य है जिसका कि वह एक सदस्य है और दूसरा व्यापक मानव समाज है जिसका प्रत्येक व्यक्ति एक मानव होने के नाते घटक है। इस व्यापक समाज का घटक होने के नाते मनुष्य जो भी समाज-सेवा कर सके उसे करनी चाहिये; इस समाज के वन्धन सामाजिक हैं; राजनीतिक नहीं। सैनेका के हाथ में जाकर स्टोइसिज़्म ने एक धार्मिक दर्शन का रंग ग्रहण कर लिया जो कि, सैवाइन के शब्दों में, 'इस संसार में शक्ति और सान्त्वना प्रदान करते हुए भी एक आध्यात्मिक जीवन पर विचार करने की ओर प्रवृत्त थी। इस प्रकार जीवन के आध्यात्मिक और इहलौकिक हितों में एक निश्चित और स्पष्ट दराड़ उत्पन्न हुई जिस के ऊपर आगे चलकर ईसाई धर्म ने वल दिया और जिसने मध्ययुग के राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला।'

एक दूसरे ढंग से भी सैनेका मध्ययुग के राजनीतिक विचार का पूर्वाभास देता है और परम्परागत यूनानी दृष्टिकोण से वहुत दूर हट जाता है। अफलातून, अरस्तु तथा आदिकालीन स्टोइक्स में से कोई भी मनुष्य को मूलरूप से पापमय नहीं समझता। यह विचार ईसाई धर्म के साथ सम्वद्ध है। सैनेका में यह पाया जाता है और उसके राज्य के सिद्धान्त को प्रभावित करता है। वह मनुष्य को तत्वतः पापी समझता है और राज्य को मनुष्य के पाप का एक इलाज और दण्ड मानता है; उसे वह मनुष्य के नैतिक सुधार का यन्त्र नहीं समझता। भ्रष्ट रोमन राज्य में उसने अपने चारों ओर जो पाप और भ्रष्टाचार देखा, हो सकता है उसी के कारण उसका ऐसा दृष्टिकोण बना हो। शायद मनुष्य के पापमय स्वभाव की अनुभूति के कारण ही सैनेका ने सहानुभूति तथा नम्रता के गुणों को इतना महत्त्व दिया और यह कहा कि धर्म पाप का निरन्तर विरोध करने में है, मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा में नहीं।

पाप और दुख को देखकर ही, जो कि मनुष्य के सामाजिक जीवन के इतने मुख्य प्रत्यय हैं, सैनेका ने एक 'स्वर्णिम युग' (Golden Age) की कल्पना की जिसमें कि मनुष्य नागरिक समाज का आविर्भाव होने से पहिले रहता था। स्वर्णिम युग में मनुष्य एक सरल आनन्द और निष्पाप जीवन व्यतीत करते थे; सभ्य जीवन की कृत्रिमतायें तथा विलासितायें उनमें न थीं। उसके स्वर्णिम युग के वर्णन को देखकर हमें प्राकृतिक अवस्था में मानव जीवन के सम्वन्ध में रूसो के विचारों की याद आ जाती है। तव लोगों को

---

* 'For forms of government let fools contest.
Whatever is best administered is best.'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार की कोई आवश्यकता न थी; वहाँ कोई लोभ नहीं था, कोई निजी सम्पत्ति नहीं। परन्तु मनुष्यों पर जब लोभ सवार हो गया और उनमें वस्तुओं को अपना बनाने की इच्छा उदय हुई तो सरकार की आवश्यकता भी महसूस होने लगी। इस प्रकार सरकार मनुष्य के प्रारंभिक जीवन की सरलता और निश्छलता से पतित हो जाने का परिणाम है; इसलिए यह अभिसमयात्मक (Conventional) है; वह उस अर्थ में प्राकृतिक कभी नहीं हो सकती जिसमें कि अफलातून और अरस्तु उसे प्राकृतिक समझते थे। यह विचार 'मध्य युग' में ईसाई धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्त के बहुत निकट है। यह यूनानियों और यहाँ तक कि सिसरो के विचारों से भी एकदम भिन्न है। सिसरो का यह सिद्धान्त कि मनुष्यमात्र समान हैं और सैनेका का यह सिद्धान्त कि सरकार मानव पाप का परिणाम तथा उसका एक इलाज है, वे दोनों मिलकर राजनीतिक जीवन के यूनानी मूल्यों को पूर्ण रूप से पलट देते हैं। "नागरिकता के सर्वोच्च मूल्य की जगह वहाँ प्रत्येक प्रकार और स्थिति के मनुष्यों की समानता है; वहाँ राज्य मानव जीवन को पूर्ण बनाने के एक यन्त्र की जगह एक शक्ति है जो बलपूर्वक मनुष्य के लौकिक जीवन को ऐसा बनाने की चेष्टा करती है जिस प्रकार सहन किया जा सके; किन्तु अपने इस उद्देश्य में भी राज्य सफल नहीं हो पाता। मूल्यों का यह क्रान्तिकारी परिवर्तन यद्यपि अभी तक सुझावमात्र है; किन्तु आगे चल कर उसके परिणामों की खोज की गई और वे 'ईसाई फादर्स' के राजनीति दर्शन में अधिकाधिक दृढ़ता से जमते गये।"*

— ——

* 'In place of the supreme value of citizenship there is a common equality shared by all sorts and conditions of men; and in place of the State as a positive agency of human perfection there is a coercive power that struggles ineffectively to make an earthly life tolerable. Though this revolutionary change in the scale of values is yet only suggested, its implications were destined to be explored and to become more and more firmly embedded in the political philosophy of the Christian Fathers.' —Sabine: *Ibid*, page 180.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १०

प्रारंभिक ईसाइयत का प्रभाव

परिचयात्मक— 'ईसाई धर्म' के प्रादुर्भाव के साथ 'पश्चिम' के राजनीतिक विचार में एक नया तत्त्व प्रविष्ट हुआ जो कि यूनानियों तथा रोमनों की देन से बहुत भिन्न था। इसको समुचित रूप से समझने के लिये यूनानी और रोमन देन पर फिर से दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यूनान तथा रोम की देन— नगर राज्य के स्वरूप तथा ध्येय के विषय में विचार करते हुए अफलातून और अरस्तु ने मानव जाति के सामने एक स्वतन्त्र नागरिकता का आदर्श रक्खा जो कि आज भी उतना ही मान्य है जितना कि कभी पहिले था। स्वतन्त्र नागरिकता का अर्थ था समाज के राजनीतिक जीवन में समान रूप से भाग लेना और राजनीतिक अधिकारों का समान रूप से उपभोग करना। राज्य का कार्य बुद्धिसंगत वाद-विवाद द्वारा होना चाहिये और सरकार संवैधानिक हो यह विचार भी यूनानियों की देन है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि यूनान में धर्म और राजनीति में कोई विभाजन नहीं था; यूनानियों ने कभी एक ऐसे संस्थाबद्ध धर्म की कल्पना नहीं की जिसका कार्य-क्षेत्र राज्य से बिल्कुल भिन्न और अलग हो। जहाँ तक कि नगर राज्य का जीवन तथा समृद्धि दास प्रथा के ऊपर निर्भर करती थी, जो कि एक मानी हुई संस्था थी, यूनानी विचारकों के मन में मानव समानता का विचार उत्पन्न नहीं हो सकता था। क्योंकि वे नगर राज्य को सामाजिक संघटन का सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट रूप समझते थे इसलिये वे यूनान की राष्ट्रीय एकता की धारणा को स्पष्ट रूप से सामने रखने में विफल रहे। यहाँ तक कि अरस्तु ने भी सिकन्दर की सैनिक विजय के राजनीतिक परिणामों की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लीं। यूनान का दुर्भाग्य था कि उसके राजनीतिज्ञ तथा राजनीतिक विचारक राज्य के आन्तरिक कलह तथा अन्तर्राज्य प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न हुई समस्याओं का कोई हल न निकाल सके। उन्हें अपनी विफलता का दण्ड भुगतना पड़ा। विभिन्न राज्यों के एक सूत्र में संगठित न होने और अपने सामान्य शत्रु के सामने एक सामान्य मोर्चा न लगा पाने का कटु फल यह हुआ कि यूनान ने पहिले तो मकदूनिया की शक्ति के सामने घुटने टेक दिये और फिर रोम के हाथों परास्त हुआ।

बदली हुई राजनीतिक स्थितियों में पुराने नागरिक आदर्श नहीं बने रह सकते थे; यह धारणा समाप्त हो गई कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और वह एक स्वशासक समाज का अभिन्न अंग है; इसकी जगह यह विचार प्रतिष्ठित हो गया कि मनुष्य समाज से अधिक से अधिक स्वाधीन रहने वाला एक व्यक्ति है। एक अच्छे या बुद्धिमान व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग लेने से बचना चाहिये। अफलातून और अरस्तु का दर्शन उस स्टोइसिज़्म की बढ़ती हुई बाढ़ के सामने न टिक सका जो कि विश्वव्यापी कानून, मानव समानता तथा विश्व नागरिकता के विचारों पर ज़ोर देता था।

रोमनों ने यूनानियों से जो कुछ लेकर पश्चिम को दिया वह अफलातून और अरस्तु की दर्शन धारा नहीं थी बल्कि विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून तथा विश्व नागरिकता के अत्यन्त फलदायक स्टोइक सिद्धांत थे। इन आदर्शों की साकार अभिव्यक्ति रोम के विश्व-साम्राज्य में हुई जो कि यूरोप तथा उस भूभाग के, जिसे हम आज 'निकट पूर्व' (Near East) कहते हैं, दो तिहाई भाग पर आच्छादित था। यह एशिया माइनर तथा आईवेरियन पठार के बीच में तथा भूमध्य सागर और उत्तरी सागर के बीच में रहने वाली जातियों को एक ही विश्वव्यापी कानून तथा एक ही सामान्य संस्कृति के अन्तर्गत ले आया। रोमन न्यायविदों ने मानव समानता और मानव-भ्रातृत्व के स्टोइक आदर्शों को रोमन न्यायशास्त्र की माला में पिरो दिया। मानव जाति को एक शानदार कानून प्रणाली तथा न्याय शास्त्र देने के अतिरिक्त रोम ने अपने विशाल साम्राज्य में आठ शताब्दियों तक शान्ति स्थापित रक्खी। उसने सड़कें बनवाईं, पुल बनवाये, सफाई के प्रबन्ध में सुधार किया और वाणिज्य तथा व्यापार को भारी प्रोत्साहन दिया। रोम ने विचार जगत को कोई विशेष देन नहीं दी; उसकी देन यह है कि यूनान, मिश्र और कार्थेज से जो टेक्नीकल, कलात्मक तथा बौद्धिक विरासत मिली उसे उसने क़ायम रक्खा, उसे पचाया तथा उसे आने वाली नस्लों तक पहुँचाया।

रोम के कारनामों का एक निषेधात्मक पक्ष भी है। अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करने तथा उसमें कई शताब्दियों तक शान्ति और व्यवस्था कायम रखने में उसे विवश होकर विजित जातियों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना पड़ा। जीती हुई विभिन्न जातियों को एकता के सूत्र में गूँथने के लिये रोम को कानून, अनुशासन तथा एकता पर अधिक ज़ोर देना पड़ा, स्वतन्त्रता और जनतन्त्र पर नहीं। स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचारों को न केवल रोम के पराधीन देशों में बल्कि स्वयं रोम में भी कुचला गया। वास्तव में स्वतन्त्रता तथा जनप्रिय सरकार के सिद्धान्तों का एक अत्यन्त केन्द्रीकृत साम्राज्यवादी प्रशासन में कोई स्थान नहीं हो सकता था। इससे पहले कि मानव जाति राष्ट्र राज्य द्वारा उत्पन्न एक ऐसे यन्त्र को उत्पन्न करे जो कि एक विशाल राज्य में जनप्रिय सरकार को सम्भव बनादे, जनतन्त्र-हीन साम्राज्य का यह रोमन प्रयोग शायद आवश्यक था।

परन्तु यूनान और रोम की देन एक दूसरे से कितनी भी भिन्न क्यों न हों, ईसाई धर्म के आविर्भाव के समय वे दोनों एक ही संस्कृति का अंग थीं। इस संस्कृति को हम यूनानी-रोमन (Graeco-Roman) संस्कृति कह सकते हैं। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि इसने एक अन्तर्मुखी धार्मिक जीवन के विचार को उत्पन्न नहीं किया। यूनानियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रोमन, दोनों ही वाह्य क्रियाओं और संस्कारों को धर्म समझते थे; धर्म उनके लिये न्यूनाधिक राज्य का ही एक उपकरण था। यद्यपि सैनेका ने इहलौकिक तथा आध्यात्मिक हितों को एक दूसरे से अलग कर दिया और शरीर को आत्मा के लिये एक बन्धन समझा तथापि व्यक्ति के जीवन में व्यक्ति की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाओं से पृथक् धार्मिक हित को एक निजी और स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया। न तो यूनानियों ने और न रोमनों ने आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक शक्ति से अलग किया। यूनानी-रोमन युग की यह मौलिक धर्मनिरपेक्ष एकता तब तक भंग नहीं हुई जब तक कि ईसाई धर्म का आविर्भाव नहीं हुआ जिसने पश्चिम के इतिहास में पहिली बार मनुष्य के लौकिक तथा आध्यात्मिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची और 'उसके द्वारा, इस संसार में एक नवीन करुणा तथा एक नवीन आशा का संचार किया' और 'मुक्ति का एक नया आश्वासन तथा पाप का एक नया विचार दिया।'

ईसाइयत की देन— पाश्चात्य विचार तथा संस्कृति को ईसाई धर्म की प्रमुख देन यह है कि इसने मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन किया है। इसका विश्वास है कि मनुष्य दो तत्वों से बना है; एक ओर वह शरीर है और दूसरी ओर आत्मा। शरीर का हित आत्मा के हित से भिन्न है, शरीर होने के नाते मनुष्य इन्द्रिय सुख, सांसारिक शक्ति और समृद्धि की कामना करता है; आत्मा होने के नाते उसका ध्येय पाप से मुक्त होना और मोक्ष प्राप्त करना है। पहिली चीज़ को वह लौकिक समाज का सदस्य होकर और उसके क़ानूनों का पालन करके प्राप्त कर सकता है; दूसरे लक्ष्य की सिद्धि वह ईसाई चर्च की सदस्यता तथा परमात्मा की अनुकम्पा (Grace) द्वारा प्राप्त कर सकता है। इन दोनों हितों में सदैव सामंजस्य नहीं हो पाता; कभी कभी चर्च की सदस्यता और उसके प्रति कर्तव्य तथा राज्यभक्ति में संघर्ष उठ खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में चर्च के प्रति भक्ति की राज्य के प्रति भक्ति पर प्रधानता होती है। सारांश यह कि रोमन साम्राज्य के केन्द्र विन्दु पर ही एक दैविक चर्च की स्थापना करके ईसाई धर्म ने एक नई बात उत्पन्न की; उसने एक ऐसे और सर्वथा नवीन समाज की धारणा को जन्म दिया जोकि राज्य के सामने खड़ा हुआ उससे स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का दावा कर रहा था।

ईसाइयत ने मनुष्य के भौतिक हितों की अपेक्षा उसके आत्मिक कल्याण को अधिक महत्त्व दिया, इस लिये शुभ जीवन (Good life) के विषय में उसकी धारणा का तत्सम्बन्धी प्रचलित धारणा से अत्यन्त भिन्न होना स्वाभाविक ही था। यूनानियों ने शरीर और बुद्धि के समन्वयपूर्वक विकास पर बल दिया और मनुष्य के सामने शुभ अथवा नैतिक जीवन का एक कुलीनतन्त्री, बौद्धिक तथा सौंदर्यप्रधान आदर्श रक्खा, और रोमनों ने साहस, अनुशासन तथा राज्यभक्ति के गुणों पर ज़ोर दिया; ईसाई धर्म ने मनुष्य को यह सिखाया कि आध्यात्मिक हितों की पूर्ति किये बिना जीवन को शुभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कहा जा सकता। परमात्मा के पितृत्व तथा मनुष्य के भ्रातृत्व के अपने सिद्धान्त द्वारा इसने मानव समानता के स्टोइक सिद्धान्त को साकार रूप दिया और एक रागात्मक तत्त्व द्वारा उसे सम्बल पहुंचाया। इसने मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान करना सिखाया और यह माँग की कि उसे साध्य समझा जाना चाहिये, साधन नहीं। विश्वास, आशा तथा दानशीलता ईसाइयत के विशेष गुण समझे जाने लगे और उसका प्रेम का सिद्धांत स्टोइसिज्म तथा मानवतावाद, दोनों का अतिक्रमण कर गया। ईसाइयत का करुणाशील तथा समताप्रधान दृष्टिकोण तभी से पश्चिमी संस्कृति का एक अभिन्न अंग बना हुआ है।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ईसाइयत ने जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति को राज्य के कार्यक्षेत्र से बाहर निकाल लिया। यह यूनानी-रोमन दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत था जिसके अनुसार राज्य मानव जीवन के समस्त मूल्यों की प्राप्ति की सुविधा प्रदान करता है। इसका न केवल यह अर्थ था कि जीवन के लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र एक दूसरे से अलग अलग हैं बल्कि इसमें यह बात भी निहित थी कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवन अन्तर्मुखी होता है, इस बात से यूनानी और रोमन एकदम अपरिचित थे। जिस ईश्वर के राज्य का वर्णन ईसा करता था वह मनुष्य के अन्दर ही है, बाहर नहीं; उसकी प्राप्ति के लिए एक निश्चित नैतिक विधान का पालन करना आवश्यक है, समाज के राजनीतिक जीवन में भाग लेना नहीं। उसका अर्थात् ईश्वर के राज्य का सदस्य बनने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य समस्त स्वार्थ भावना, निर्दयता तथा कामुकता का परित्याग करके अपने हृदय को पवित्र करे और अपने पड़ौसियों से वैसा ही प्रेम करे जैसा कि वह स्वयं अपने से करता है। परमात्मा के राज्य की प्राप्ति किसी क्रान्ति अथवा आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं द्वारा नहीं, बल्कि एक पवित्र जीवन द्वारा की जा सकती है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि ईसाइयत की सब से महत्त्वपूर्ण देन धार्मिक तथा भौतिक जीवन में विभाजन करना था; इसने सामाजिक ढाँचे की उस एकता को भंग कर दिया जोकि यूनानी-रोमन संस्कृति की एक मुख्य विशेषता थी। सैबाइन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ईसाई चर्च का एक ऐसी संस्था के रूप में जिसे कि मानव के आत्मिक विषयों के ऊपर राज्य से स्वतन्त्र रह कर शासन करने का अधिकार हो, अभ्युदय होना पश्चिमी यूरोप के इतिहास में, राजनीति और राजनीति दर्शन के दृष्टिकोण से, एक सबसे अधिक क्रान्तिकारी घटना थी।

ईसाई चर्च के अभ्युदय को यूरोप के इतिहास में सब से अधिक क्रान्तिकारी घटना समझने के निम्नलिखित कारण हैं: प्रथम यह कि तत्कालीन समाज के अन्तर्गत एक ऐसे समाज को जन्म देकर जिसका कि अपना संघटन था और अपने नियम तथा संस्कार थे, यह प्राचीन परम्परा से एकदम दूर जा हटा। अपने धार्मिक विचारों तथा संस्थाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समर्थन करने में प्रारंभिक ईसाई लोग तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था की कटु आलोचना करते थे और ऐसा करके उन्होंने इतिहास के प्रवाह पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गिबन (Gibbon) के अनुसार रोम के अधःपतन में मुख्य हाथ ईसाइयत का था। उसका कहना है कि ईसाइयत ने उस पुराने विश्वास को नष्ट कर दिया जिसने कि रोमनों के चरित्र तथा साम्राज्य को स्थिरता प्रदान की थी; मनुष्य का मस्तिष्क इहलौकिक व्यापार से हटाकर व्यक्तिगत मोक्ष की ओर आकृष्ट किया; अपने अनुयाइयों को पद ग्रहण करने तथा सैनिक सहायता पहुँचाने से रोका तथा साम्राज्य की एकता को भंग किया। इन सब बातों ने मिलकर ही रोम का पतन कर डाला, ऐसा गिबन का विचार है। इसके विपरीत अन्य इतिहासकारों की धारणा है कि ईसाइयत का प्रादुर्भाव रोम के पतन का कारण नहीं बल्कि परिणाम है। विल ड्यूरेण्ट (Will Durant) का विचार है कि जिस समय ईसाइयत का उत्थान हुआ उस समय रोम एक खोखला मात्र रह गया था; ईसाइयत का इतनी तीव्र गति के साथ प्रसार ही इसलिए हुआ क्योंकि रोम मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ दम तोड़ रहा था। हमारे लिये इस बात का निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि रोम के पतन में ईसाइयत का मुख्य हाथ था या नहीं; हाँ, इतना अवश्य मानना होगा कि एक हद तक ईसाइयत रोम के पराभव के लिए अवश्य उत्तरदायी है। ईसाइयत का इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके लिए हमें यह नहीं देखना है कि रोम के पतन में उसका कहाँ तक हाथ है, बल्कि हमें देखना तो यह है कि उसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें रोमन विचार ईसाई धारणाओं के साथ घुल मिल गये। रोमन साम्राज्य के खण्डहरों में से पश्चिम में एक ईसाई जगत का जन्म हुआ जिसने रोम की सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं को नवीन धाराओं में प्रवाहित कर दिया। दूसरी बात यह है कि बर्बरों के आक्रमणों के फल-स्वरूप रोमन साम्राज्य के पराभव के बाद पश्चिम में ईसाई चर्च ही पाश्चात्य सभ्यता का एक मात्र संरक्षक रह गया। इसने न केवल ट्यूटनों (Teutonic hordes) के आक्रमण से सभ्यता की रक्षा की बल्कि स्वयं आक्रमणकारियों को भी सभ्य बनाकर सभ्यता की सीमाओं को प्रसारित किया। 'अन्धकार युग' (Dark Ages) में चर्च पश्चिमी सभ्यता का एक बहुत बड़ा सहारा सिद्ध हुआ। रोम के पतन का मार्ग प्रशस्त करने या एक नवीन सामाजिक व्यवस्था कायम करने की अपेक्षा सभ्यता का प्रसार ऐतिहासिक रूप से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार ईसाई चर्च का उद्भव पश्चिम में राजनीतिक विचार के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना सिद्ध हुई। प्रथम तो यह कि उसने उस समस्या को जन्म दिया जिसमें समस्त मध्य युग में विचारकों का मन उलझा रहा। उनके सामने मुख्य समस्या यह थी कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति, पोपशाही (Papacy) और साम्राज्य में सम्बन्ध क्या हो। इस विवाद के विभिन्न पक्षों के समर्थन और विरोध में रचे गये साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यदि हम छोड़ दें तो मध्य युग में कोई राजनीतिक विचार शेष नहीं रह जाता। दूसरे यह कि ईसाई धर्म ने उस युग के राजनीतिक विचार में एक नवीन तत्व का समावेश किया। यूनानी-रोमन युग का दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं था; वह मनुष्य अथवा समाज को एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए नहीं देखता था; उसके अनुसार जीवन स्वयं अपना पुरस्कार और औचित्य था। इसके विपरीत ईसाई धर्म ने मानव जीवन तथा सामाजिक संघटन में एक उद्देश्य का समावेश किया; उसने सिखाया कि मनुष्य को एक लक्ष्य की पूर्ति करनी है और समाज का निर्माण उस लक्ष्य की प्राप्ति के दृष्टिकोण से होना चाहिये। उसने व्यक्ति के सामने एक भावी तथा श्रेष्ठतम जीवन का चित्र रक्खा जिसके लिए वर्तमान जीवन एक भूमिका मात्र है। यह बात कि मनुष्य को एक लक्ष्य की प्राप्ति और एक ध्येय की पूर्ति करनी है ईसाई धर्म की एक नवीन कल्पना है; इसने आधुनिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला है और उसका रूप निर्धारित किया है; यह प्रभाव आज भी शेष है। इसमें मानव व्यक्तित्व के मूल्य तथा सम्मान का सत्कार भी निहित है; यूनानी और रोमन विचार के लिए वह बात एकदम नवीन है। सारांश यह कि प्रगति में विश्वास, व्यक्ति का सम्मान, और मानवतावाद की धारणा आधुनिक विचार को ईसाई धर्म की मुख्य देन है; ईसाइयत के आदि काल से ही ये पश्चिमी संस्कृति का एक अभिन्न अंग रहे हैं। मध्यकालीन समाज के संस्थान तथा जीवन के अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या का रूप निर्धारण इसी विश्वास द्वारा हुआ कि मनुष्य का मुख्य ध्येय अपनी आत्मिक उन्नति है।

ईसाई चर्च का विकास— ईसाई चर्च के मूल तथा विकास के इतिहास की बारीकियों में जाना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिए केवल इतना ही देखना काफी है कि ईसाई धर्म का जन्म रोमन साम्राज्य के एक ऐसे भाग में हुआ था जो अधिक प्रसिद्ध नहीं था और आरंभ में लोगों ने इसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। ईश्वर के पितृत्व, मनुष्य के भ्रातृत्व तथा ईसा की अनुकम्पा द्वारा आत्मा की मुक्ति के इसके सिद्धान्त समाज के पीड़ित और दलित वर्गों को बड़े आकर्षक लगे और उन्हीं वर्गों में से आरम्भ में साधारणतया ईसाई धर्म में लोग आये। जब तक कि ईसाई धर्म का प्रसार दीन हीन तक ही सीमित रहा और उसके अनुयाइयों की संख्या थोड़ी रही, तब तक रोमन साम्राज्य को उससे भयभीत होने की कोई बात न थी और इसीलिए उसने उसके ऊपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु जैसे जैसे यह उच्च तथा अभिजात्य वर्गों में फैलने लगा और इसकी संख्या बढ़ने लगी, उसका अपना एक संघटन उत्पन्न हुआ और वह एक प्रकार से राज्य के अन्दर राज्य बन गया तो रोमन साम्राज्य उससे आशंकित हो उठा और उसे दमन करना शुरू किया। परन्तु उसका उत्पीड़न कभी कभी ही होता था; इसमें तीव्रता तभी आती थी जबकि ईसाई लोग असंतोष उत्पन्न करते थे। परन्तु चौथी शताब्दी में बहुत बड़ी संख्या में रोमन सैनिकों ने ईसाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म ग्रहण कर लिया और उन्होंने सम्राट् की उपासना करने से इन्कार कर दिया; इसने एक अत्यन्त जटिल राजनीतिक समस्या उत्पन्न कर दी। सम्राट् कॉन्स्टेण्टाइन (Constantine) ने महसूस किया कि उस समस्या का एकमात्र हल उसका ईसाई धर्म को स्वीकार करना था। इस प्रकार घटनाओं से विवश होकर उसने नवीन धर्म स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार के राजनीतिक कारणों से सम्राट् थिडोसियस (Theodosius) ने ईसाइयत को साम्राज्य का एकमात्र कानून-विहित धर्म घोषित कर दिया। इस प्रकार ईसाई धर्म ने दूसरे धर्मों तथा सम्प्रदायों को परास्त कर दिया और महान् शक्ति और सम्मान अपने लिए प्राप्त कर लिया।

ईसाई धर्म की विजय के परिणाम— ईसाई धर्म का दूसरे प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को पराजित कर देना और उसका साम्राज्य के एकमात्र शाही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना एक बहुत बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी; इसने साम्राज्य और स्वयं ईसाई धर्म में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किये। ईसाई धर्म की आदिकालीन सरलता और पवित्रता नष्ट हो गई और उसमें जटिलता और कट्टरता आ गई; यह अब एक विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन ही न रहकर एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति भी बन गया। आगे चलकर इसने पोपशाही को जन्म दिया; चर्च ने एक अत्यन्त केन्द्रीकृत और शिखरोन्मुखी (Hierarchical) संघटन का विकास किया। दूसरी ओर इसने सम्राट् के अधिकार को एक नई शक्ति— धर्म की शक्ति– प्रदान की। परोक्ष रूप से इस विश्वास का प्रचार किया गया और यह व्यापक रूप से माना जाने लगा कि 'साम्राज्य' एक दैविक रचना है और उसे संसार पर शासन करने के लिए ही बनाया गया है। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का जन्म तथा आगे चलकर इटली को विजय करने के लिए जर्मन सम्राटों का संघर्ष इसी विश्वास का स्वाभाविक परिणाम मालूम होता है। साम्राज्य का प्रेत मध्य युग के ऊपर सदा लटका रहा।

जब ईसाइयत को 'साम्राज्य' ने शाही धर्म के रूप में अपना लिया तो ईसाई धर्म को मानना एक फैशन हो गया; सभी प्रकार के लोग इसकी ओर आकृष्ट होने लगे। किन्तु उनका धर्म-परिवर्तन केवल नाम मात्र का था; वह कोई हृदय-परिवर्तन के कारण नहीं हुआ था, इसलिये उनके साथ ही बहुत से ग़ैर-ईसाई विचार और व्यवहार भी ईसाई धर्म में आये। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म की मौलिक सरलता और पवित्रता को जबर्दस्त आघात लगा। सारांश यह कि विजय उस ईसाई धर्म की नहीं जिसका उपदेश ईसा तथा उसके शिष्यों ने किया था, बल्कि उस ईसाई चर्च की हुई जो मैक्सी के शब्दों में "एक भानुमती का कुन्बा था जिसमें ईसाइयत के कुछ शेष तत्त्व उन सभी गैर-ईसाई धर्मों में से उधार ली हुई बातों के साथ मिले हुए थे जिन्हें कि इसने पराभूत कर दिया था।"* 'साम्राज्य' के ईसाई धर्म वहन कर लेने से चर्च भी एक हद

* Christian Church was "a hybrid thing in which a residue of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक मूर्तिपूजकों की संस्था हो गया।

ईसाई धर्म की विजय का एक दूसरा मुख्य परिणाम यह हुआ कि यह अब एक विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं रहा वल्कि एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया। चर्च राज्य का एक विभाग बन गया और उसके प्रमुख सदस्य अर्थात् विशपगण सरकार के माने हुए अधिकारी बन गये और इस प्रकार वे राजनीति में प्रविष्ट हो गए। जागीरदारी (Feudal) प्रणाली के अन्तर्गत भूमिपति होने के नाते विशपगण, ऐब्टगण तथा अन्य पादरी लोग राज्य के चाकर बन गये और इस नाते राज्य के प्रति उनके कुछ कर्त्तव्य हो गये। गिरजाओं (Churches) ने विशाल सम्पत्ति प्राप्त कर ली और पादरी लोग तत्कालीन राजनीति के तूफान में फंस गये। जब जब भी उत्तराधिकार का प्रश्न उठता था वे शाही चुनावों के षड्यन्त्र और दाँवपेंच में पड़ जाते थे। इस प्रकार कर्म और राजनीति में वह विभाजन समाप्त हो गया जो कि ईसाई धर्म ने पहिले किया था। सम्राट् (Caesar) इस वसुन्धरा पर प्रभु का अवतार बन गया और उसकी आज्ञा का पालन करना एक दैनिक कर्त्तव्य समझा जाने लगा। यह आदेश कि "लौकिक बातों में राजा का और पारलौकिक बातों में परमात्मा की आज्ञा का पालन करो" (Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's) निरर्थक हो गया।

इसका अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ पोपशाही का जन्म। ईसाई चर्च का प्रारंभिक संघटन स्थानीय और जनतंत्री था; उसमें कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जो कि स्थानीय तथा प्रान्तीय शाखाओं के ऊपर नियंत्रण रखती। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में चर्च का एक प्रमुख अधिकारी विशप होता था जो कि प्रान्त के अन्य विशपगण के ऊपर कुछ नियन्त्रण रखता था; किन्तु जहाँ तक कि नगरों के विशपों के पारस्परिक सम्बन्धों का सम्बन्ध है उन सब का दर्जा बराबर होता था; किसी का भी दूसरे के ऊपर कोई नियंत्रण या अधिकार नहीं होता था। जब ईसाइयत 'साम्राज्य' का शाही धर्म बन गया तो रोम के विशप को समस्त धार्मिक विषयों में सम्राट् का परामर्शदाता बना दिया गया। इस प्रकार उसे अन्य विशपों के ऊपर एक सीमा तक प्रभुता प्राप्त हो गई। इस बात को इस विश्वास से भी सम्बल मिला कि रोम के चर्च की स्थापना सन्त पीटर ने की है। कुछ अन्य कारणों ने भी इसी दिशा में योग दिया। इस प्रकार रोम ईसाई धर्म का केन्द्रीय स्थान बन गया और एक अत्यन्त केन्द्रीकृत तथा शिखरोन्मुखी संगठन का जन्म हुआ।

साम्राज्य की राजधानी रोम से हटकर कुस्तुन्तुनिया (Constantinople) में जा पहुँची और तदनन्तर 'साम्राज्य' दो भागों में विभक्त हो गया जिनमें से एक पूर्वी भाग था जिसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया थी और दूसरा पश्चिमी जिसका केन्द्रीय स्थान रोम

Christian elements were mingled with borrowings from almost every pagan creed which it had supplanted in its struggle for supremacy."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। अन्त में ४७६ ई० में सम्राट् ऑगस्टस (Augustus) को सिंहासन से उतारने के साथ पश्चिमी साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। इन सब बातों ने रोम के बिशप के पोप बनने और उसके पश्चिम के समस्त धार्मिक संगठन के प्रधान बनने में योग दिया। राजधानी के रोम से हटकर कुस्तुनतुनिया में चले जाने से रोमन बिशप नगर में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी रह गया; सम्राट् की अनुपस्थिति में वह अधिक स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकता था। इस प्रकार वह अपने कुस्तुनतुनिया में रहने वाले प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक रूढ़िभक्त माना जाने लगा। सम्राट् की शक्ति का धीरे धीरे ह्रास हो जाने के कारण रोमन बिशप को नगर के राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेनी पड़ी। आगे चलकर जब कि बर्बरों के आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमी साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और नये राज्यों का जन्म हुआ तो रोमन बिशप की शक्ति और अधिकार और भी अधिक बढ़ गये। अन्त में पूर्वी चर्च और पश्चिमी चर्च के जो कि क्रमशः 'यूनानी कैथोलिक चर्च' तथा 'रोमन कैथोलिक चर्च' के नाम से विख्यात हुए, एक दूसरे से अलग हो जाने के कारण रोमन बिशप पश्चिमी चर्च का सर्वेसर्वा हो गया। इस प्रकार पोपशाही का जन्म हुआ। ग्रेगरी महान् सरीखे शक्तिशाली पोप स्वतंत्र होकर कार्य करने लगे। अधिकतर पूर्वी सम्राटों की असमर्थता ने पोपशाही के एक स्वाधीन धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने में बड़ी सहायता दी।

ईसाई धर्म की विजय का एक अन्तिम परिणाम भी उल्लेखनीय है जिसने कि पश्चिम के विकास को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया। जब तक ईसाई धर्म वर्जित और ग़ैरक़ानूनी था और उसके अनुयाइयों को राज्य राजनीतिक कारणों से कुचलता था तब तक तो यह उत्पीड़न की निन्दा करता था और इस आधार पर कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के मानने तथा पालन करने का अधिकार होना चाहिये अपने लिए सहिष्णुता की मांग करता था। परन्तु जब यह स्वयं साम्राज्य का एकमात्र और कानूनी धर्म बन गया तो इस के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया और इसने साम्राज्य के अन्दर किसी अन्य धर्म को सहन करने से इन्कार कर दिया। समस्त ग़ैर-ईसाई धर्मों का उत्पीड़न प्रारम्भ हुआ। यह उत्पीड़न इक्का दुक्का, अनियमित तथा किसी स्थिति से विवश होकर नहीं किया जाता था और न ही इसका स्वरूप राजनीतिक था जैसा कि साम्राज्य के अन्तर्गत ईसाइयों के साथ होता था, यह नियमित, क्रमबद्ध रूप से निरंतर चलता था। इसके पीछे यह विश्वास था कि ईसाई मत ही एकमात्र सच्चा धर्म है जो परमात्मा ने स्थापित किया है इसलिए राज्य का प्रत्येक ऐसे मत को जो कि मनुष्य को ईश्वर से विमुख करता है कुचलने का पवित्र कर्तव्य है। वह राज्य जो मिथ्या मतों के कुचलने में कोताही करता है वह मानों प्रभु की इच्छा की अवहेलना करता है जो कि समस्त मनुष्यों को मुक्ति दिलाना है। इसलिए ग़ैर-ईसाइयों को कुचलना राज्य का परम कर्तव्य हो गया। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि लगभग एक हज़ार वर्षों तक बुद्धि कट्टरता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ंजीरों में जकड़ी रही और दर्शन शास्त्र ईसाई चर्च के हाथ की कठपुतली बना रहा। किसी का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि यूनानी युग का ध्येय मनुष्य के विचारों को बुद्धि की संगति में बैठाना था और आधुनिक युग का ध्येय उनको तथ्य के अनुरूप ढालना है किन्तु मध्य युग का ध्येय मनुष्य की धारणाओं को चर्च के रंग में रंगना था। ऐसे मानसिक वातावरण में ज्ञान की प्रगति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये मध्य युग को कभी कभी अन्धकार युग कहा जाता है।

प्रारम्भिक ईसाई धर्म के राजनीतिक विचार— सैबाइन के इस कथन को, कि मानव जाति के आध्यात्मिक विषयों को अनुशासित करने का अधिकार लिये एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में ईसाई चर्च का आविर्भाव राजनीतिक विचार के इतिहास में एक सब से अधिक क्रान्तिकारी घटना थी, पूर्ण रूप से समझने के लिए ईसाई धर्म के कुछ सिद्धांतों के राजनीतिक परिणामों का तनिक विस्तार के साथ वर्णन करना आवश्यक है। ऐसा करना इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि आरम्भ में ईसाइयत एक धार्मिक आन्दोलन था, राजनीतिक सिद्धान्त नहीं; प्रारम्भिक ईसाइयों का संगठन सूत्र आध्यात्मिक धारणायें थीं, सांसारिक या राजनीतिक हित नहीं। उनके जो कुछ भी राजनीतिक विचार थे वे कुछ उन्हीं के निराले नहीं थे बल्कि वे सामान्य रूप से दूसरों के भी थे। उनका स्वरूप अधिकतर स्टोइक था। उदाहरण के लिए, वे इस बात को एक स्वयंसिद्ध सत्य समझते थे कि कानून विहित शक्ति की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है और मनुष्य की परमात्मा की आँखों के सामने एकता और संसार के ऊपर दैविक शासन में भी वे विश्वास करते थे। ये स्टोइक विचार परमात्मा के पितृत्व तथा मनुष्य के भ्रातृत्व सम्बन्धी ईसाई धारणाओं से सम्बद्ध होकर अधिक सारगर्भित हो उठे; मानव समानता की जनतन्त्री धारणा को इस धारणा से कि एक ही दैविकता में भागीदार होने के नाते सभी मनुष्य आपस में भाई भाई हैं, इस स्टोइक धारणा की अपेक्षा कि सब मनुष्य एक ही विश्वव्यापी कानून के अधीन हैं, अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। इसी प्रकार विश्ववाद की स्टोइक धारणा 'लक्ष्य राज्य' (Kingdom of Ends) के द्वारा अधिक अर्थगर्भित और गहरी हो उठी।

ईसा ने इन विख्यात तथा प्रायः उद्धरित शब्दों में राज्यभक्ति के महत्व पर बल दिया था: "संसार की बातों में राजा की आज्ञा मानो; पारलौकिक बातों में परमात्मा के आदेश का पालन करो।" सन्त पाल (St. Paul) ने इसी विचार को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है: "प्रत्येक आत्मा उच्चतर शक्तियों के अधीन रहनी चाहिये। क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति है ही नहीं, इसलिये जो भी शक्ति संसार में है वह ईश्वर की प्रकट की हुई है। इसलिए जो कोई भी सांसारिक शक्ति की अवहेलना करता है, मानो वह स्वयं ईश्वर के आदेश की अवहेलना करता है और अवहेलना करने वालों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर ईश्वर का प्रकोप होगा।"* राजकीय आज्ञा पालन के कर्त्तव्य को इससे अधिक ज़ोरदार और प्रभावक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार राज्य की आज्ञा का पालन करना ईसाई विचार की एक मुख्य विशेषता बन गई।

किन्तु ईसाई धर्म की उक्त शिक्षा इतनी सरल और निष्क्रिय नहीं है जितनी कि यह दिखाई पड़ती है; इसमें एक अत्यन्त क्रांतिकारी परिणाम निहित है। इसमें यह बात समाविहित है कि राजनीतिक क्षेत्र से परे जीवन का एक और क्षेत्र है जिसके अपने कर्त्तव्य हैं। यदि कुछ चीज़ें ऐसी हैं जिनमें राजा की इच्छा सर्वोपरि है तो कुछ चीज़ें ऐसी हैं जिनमें राजा की नहीं, ईश्वर की इच्छा सर्वोपरि है। राजनीतिक महत्त्व इस विभेद में है और इससे बढ़कर यह कहने में है कि ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली बातों में ईश्वर की इच्छा का ही पालन होना चाहिये। दूसरे शब्दों में ईसाई धर्म का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का कर्त्तव्य दोहरा है, एक राज्य के प्रति और दूसरा ईश्वर के प्रति। यदि इन दोनों में संघर्ष हो तो एक सच्चे ईसाई का धर्म ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है, न कि राजाज्ञा का। राज्यभक्ति के ऊपर सैद्धान्तिक रूप से ज़ोर देने के बावजूद इस सिद्धान्त में एक ऐसा तत्त्व वर्तमान है जो कि उस अपरिमित और अविभक्त भक्ति से बिल्कुल ताल नहीं खाता जिसकी माँग रोमन राज्य व्यक्ति से करता था। यही कारण है कि मार्कस ऑरीलियस (Marcus Aurelius) सरीखे धर्मात्मा सम्राट् को ईसाइयों का उत्पीड़न करना पड़ा। इस कथन का कि 'लौकिक विषयों में राजा की और पारलौकिक विषयों में ईश्वर की आज्ञा का पालन करो' पूर्ण महत्त्व समझने के लिए हमें इसकी तुलना अफलातून और अरस्तु के इस विचार से करनी चाहिये कि मनुष्य जीवन के समस्त मूल्यों की प्राप्ति राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है। ईसाई धर्म का दृष्टिकोण यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्त की जड़ पर ही आघात करता है; आध्यात्मिक क्षेत्र को लौकिक क्षेत्र से अलग करके यह जीवन के अन्तिम मूल्यों को राजनीतिक क्षेत्र अर्थात् राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर ले जाता है। "वह व्यक्ति को नगर अथवा धर्म राज्य की जैविक एकता से बाहर निकाल लेता है और उसे एक ऐसे संसार के सम्बन्ध में रख देता है जो कि उनसे ऊपर है। यह अधिक प्रारम्भिक और कम व्यक्तिकृत समाज के ढाँचे और उस मनोवैज्ञानिक एकता को ढहाता है जिसके कारण प्रारम्भिक समाज दृढ़ और स्थिर बने रहे थे, भले ही वे भावुक न हों।" †

* "Let every soul be subject to unto higher powers. For there is no powers but of God: the powers that be are ordained of God. Whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of God; and they that resist shall receive unto themselves damnation."

† "It pulls the individual out of the organic community of the City or Temple State and sets him in relation to a world beyond them. It undermines the whole structure of the more primitive, less individualised community and the psychological solidarity which had kept earlier societies strong and stable, if insensitive."

—Bowle: *Western Political Thought*, page 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई धर्म के उपरोक्त सिद्धान्त का आधार यह धारणा है कि मनुष्य दो तत्त्वों से मिलकर बना है और इसलिये वह दो विभिन्न शक्तियों के अधीन है। शरीर के रूप में वह नागरिक समाज का अंग है, उसके भौतिक अथवा लौकिक हित लौकिक राज्य की सदस्यता से सम्बद्ध हैं; इसलिये उसकी आज्ञा का पालन करना एक लौकिक आवश्यकता है। आत्मा होने के नाते उसके भिन्न हित हैं और भिन्न लक्ष्य हैं; वह ईश्वरीय राज्य का सदस्य हो जाता है जो कि उसके अन्दर है; उसके आत्मिक हितों का संरक्षक चर्च है न कि नागरिक समाज। आत्मिक हित लौकिक हितों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, इसलिये राज्य-भक्ति तथा ईश्वर-भक्ति में यदि संघर्ष हो तो दूसरी को पहिली के ऊपर सदा तरजीह मिलनी चाहिये।

निस्सन्देह स्टोइक्स भी दो राज्यों की सदस्यता में विश्वास करते थे; उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक ओर तो उस राज्य का सदस्य है जिसमें कि उसका जन्म हुआ है और दूसरी ओर वह समस्त विश्व का एक घटक है। परन्तु विश्व नागरिकता का स्टोइक विचार ईश्वरीय राज्य की सदस्यता की ईसाई धारणा के अनुरूप नहीं हो सकता। ईसाई धारणा के अनुसार व्यक्ति के जीवन का एक ऐसा ध्येय है जो कि स्टोइक धारणा से एक दम भिन्न है। ईसाई धारणा का अर्थ दूसरे प्रसंग में स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ हम केवल इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि दोहरी भक्ति का ईसाई सिद्धान्त, जिसका कोई जोड़ यूनानी या रोमन विचार में नहीं है, शरीर और आत्मा के विभेद पर आधारित है जिस पर ईसाई धर्म ज़ोर देता है।

ईसाई सिद्धान्त के एक दूसरे राजनीतिक परिणाम पर भी हमें ध्यान देना चाहिये। सन्त पाल ने ईसाइयों को तत्कालीन राजनीतिक शक्ति का सम्मान करने और उसकी आज्ञा का पालन करने की प्रेरणा इस आधार पर की थी कि समस्त शक्ति ईश्वर-प्रदत्त हैं और जो भी नागरिक शक्ति की अवहेलना करता है वह स्वयं ईश्वर की अवहेलना करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य एक दैविक संस्था है और शासक अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करते हैं। वे इसे जनता से प्राप्त नहीं करते जैसा कि रोम की परम्परागत धारणा थी; वे दैविक अधिकार द्वारा शासन करते हैं, जनता द्वारा दिये हुए अधिकार द्वारा नहीं। दूसरे शब्दों में, ईसाई धर्म के अनुसार राजाज्ञा का पालन करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है; राजा की आज्ञा भंग करना ईश्वर की आज्ञा भंग करना है। यह केवल समाज के प्रति ही एक अपराध, नहीं है, यह ईश्वर के प्रति पाप भी है। यह राजनीतिक कर्त्तव्य के संविदात्मक आधार का खण्डन है। ईसाई सिद्धान्त के इस पहलू को उस समय अच्छी तरह नहीं समझा गया; इसके और रोमन दृष्टिकोण के विरोध को स्पष्ट रूप से नहीं देखा गया। संत पाल की शिक्षाओं में यह बात भी निहित है कि आज्ञा-पालन राजा के पद का होता है, स्वयं राजा का नहीं; इसलिये जहाँ तक उसकी शक्ति की आज्ञा पालन करने के कर्त्तव्य का सम्बन्ध है राजा के व्यक्तिगत गुण, दोष अप्रासंगिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। ईसाई धर्म ने समर्थन राज्य के दैविक अधिकार का किया है, राजाओं के अधिकार का नहीं।

यहाँ यह बताना भी अनावश्यक न होगा कि ईसाई धर्म के अनुसार राजा जनता का स्वामी नहीं है बल्कि उसका प्रथम सेवक है। उस का समुचित कार्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, उसके ऊपर प्रभुत्व जमाना नहीं। संत पाल ने निम्नांकित घोषणा की थी: "तुम में जो भी महान् होगा वही तुम्हारा मंत्री बनेगा। और जो भी सर्व प्रभुत्व होगा वही सब का सेवक होगा।"* सारे मध्य युग में राजपद एक ट्रस्ट समझा जाता था।

ईसाई धर्म की धारणा के अनुसार राजनीतिक शक्ति की स्थापना ईश्वर ने मनुष्य के अधःपतन के बाद और उसके फलस्वरूप की। यदि आदम अर्थात् आदि पुरुष ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन न करता और वर्जित फल न खाता तो वह ईश्वर का कोपभाजन न बनता और सरकार की बिल्कुल कोई आवश्यकता न होती। सारांश यह कि ईसाई धारणा के अनुसार सरकार की स्थापना का कारण मानव पाप है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह स्वयं पापमय है। वह पापमय नहीं हैं क्योंकि स्वयं ईश्वर ने न्याय की रक्षा के लिये उसकी स्थापना की है। न्याय का अर्थ है पुण्य और पाप के लिए पुरस्कार और दण्ड की समुचित व्यवस्था द्वारा ईश्वरीय क़ानून को कायम रखना। इस प्रकार राज्य को एक पवित्र चरित्र प्रदान किया गया; उसके प्रधान को ईश्वर का एक एजेण्ट समझा गया। इस प्रकार राज्य को ईश्वर द्वारा स्थापित और मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक समझा गया। प्रारंभिक ईसाइयों में फैली हुई अराजकतावादी प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने की भावना से प्रेरित होकर धर्मावतारों (Apostles) ने क़ानून विहित राज्य की आज्ञापालन के कर्त्तव्य पर जोर दिया।

धर्मावतारों ने न केवल राज्यभक्ति को उचित ठहराया, वरन् उस समय पाई जाने वाली दास प्रथा का भी समर्थन किया, जो कि ईसाई धर्म की शिक्षाओं के एकदम विपरीत थी। यदि स्वभावतया सभी मनुष्य समान हैं; यदि ईश्वर किसी भी मनुष्य को परतंत्र या स्वतंत्र उत्पन्न नहीं करता तो फिर दास प्रथा का औचित्य ही क्या है? संत पाल ने इसे इस आधार पर उचित ठहराने का प्रयत्न किया कि राज्य की भाँति दास प्रथा भी पाप का परिणाम और उससे मुक्त होने का साधन है। ईश्वर ने तो सब मनुष्यों को समान बनाया किन्तु मनुष्य के 'पतन' के कारण यह मौलिक समानता नष्ट हो गई और मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के दास हो गए। दासता या पशु प्रकृति का पाश एक स्वामी के प्रति आज्ञाकारी रहने से ही दूर हो सकता है। बाह्य दासता एक ऐसा अनुशासन है जो परमात्मा ने दास की आत्मा के कल्याण के लिये उस पर थोपा है।

* "Whosoever shall be great among you shall be your minister. And whosoever will be the chiefest shall be the servant of all."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये दास को अपनी संकटमय स्थिति से भाग निकलने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये वल्कि उसे प्रभु इच्छा समझ कर उसके सामने समर्पण कर देना चाहिये। ईसाई चर्च ने शताब्दियों तक दास प्रथा को सहन किया।

प्रारंभिक ईसाइयों ने परिवार तथा पैतृक अधिकार को भी पुनर्जीवित किया क्योंकि यह उस नवीन सामाजिक व्यवस्था को एक दृढ़ आधार प्रदान करता था जोकि उस समय जन्म ले रही थी। याद रहे कि सन्तान के ऊपर पिता का नियन्त्रण जोकि रोमन इतिहास के प्रारम्भिक काल में विल्कुल निरपेक्ष था 'साम्राज्य' के समय में राज्य के दबाव के कारण प्रायः नष्ट हो गया था। इसी के साथ साथ उस समय विवाह को एक कानूनी समझौता समझा जाने लगा जिसे उभय पक्ष अपनी इच्छानुसार कभी भी तोड़ सकते थे। इन दो वातों ने मिलकर परिवार वन्धन को वहुत दुर्बल वना दिया। आदिकालीन ईसाइयों ने परिवार को पुनर्जीवित करने का एक सफल प्रयास किया। वे विवाह को एक कानूनी समझौता नहीं, बल्कि एक संस्कार समझते थे जिसे भंग नहीं किया जा सकता; उन्होंने पिता के सन्तान पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के अधिकार को स्वीकार किया। परिवार के ऊपर परिवार के प्रधान का अधिकार राज्य के अधिकार का प्रतिद्वन्द्वी वन गया। "प्रत्येक ईसाई पुरुष राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे रहा था क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास था कि विवाह एक पवित्र संस्कार है और ईश्वर ने उसे परिवार का प्रधान वनाया है। इस पद पर अपने को ईश्वर द्वारा नियुक्त समझते हुए वह सरकारी अधिकारियों की ओर से कोई हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार न था। प्रारंभिक ईसाइयों द्वारा परिवार इकाई को पुनर्जीवित करना राजनीतिक समाज की एक नवीन व्यवस्था की रचना की ओर उनका एक पहिला महत्वपूर्ण कदम था।"*

आदिकालीन ईसाइयों ने एक दूसरा कदम उठाया जिसके महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम निकले। राज्य के प्रति भक्तिभाव का उपदेश तो उन्होंने अवश्य दिया; किन्तु साथ साथ सन्त पॉल की यह धारणा थी कि ईसाइयों को अपने झगड़ों का निर्णय मूर्तिपूजकों के न्यायालयों में नहीं कराना चाहिये। इसका अर्थ यह समझा गया कि ईसाइयों को अपने मामलों का निपटारा ईसाई कानून के अनुसार और ईसाइयों द्वारा ही कराना

* "Political authority was being challenged by every Christian man who, firmly convinced that his marriage was a holy sacrament, knew himself to be placed at the head of the family by the will of God, and regarding himself as divinely appointed to this position could not brook interference from the pagan authority of imperial officials. The revival of the family unit by the early Christians was one of their first significant moves towards the constitution of a new order of political authority."

—Doyle : *A History of Political Thought*, page 58.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिये। इस प्रकार इस बात की मांग उठी कि ईसाई कानून के अनुसार काम करने वाले ईसाई न्यायालय कायम किये जायें। जाहिर है कि ऐसे न्यायालय राज्य के न्यायालयों के प्रतिद्वन्द्वी थे। इसका अर्थ था राज्य के अन्दर एक राज्य का कायम होना।

इस प्रकार चौथी शताब्दी तक ईसाई चर्च एक निश्चित संघटन बन गया; उसने परिवार का पुनरुत्थान किया जोकि नवीन सामाजिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण इकाई थी; और अपने सदस्यों के लिये अलग न्यायालयों की स्थापना करके उसने राज्य के अन्दर राज्य को जन्म दिया। यह थी वह स्थिति जिसने सम्राट् कॉन्स्टेन्टाइन को धर्म परिवर्तन करके ईसाई बनने के लिये विवश किया और जिसके कारण अन्य धर्मों पर ईसाइयत की विजय हुई।

एक नई समस्या का उत्पन्न होना— यह सही है कि ईसा के इस कथन में कि 'लौकिक विषयों में राजा की और पारलौकिक मामलों में ईश्वर की आज्ञा का पालन करो' क्रान्तिकारी परिणाम निहित थे और इसके ऊपर विभक्त भक्ति का सिद्धान्त आधारित था और एक निश्चित संस्था के रूप में ईसाई चर्च की स्थापना रोमन साम्राज्य की सुरक्षा के लिये एक गम्भीर खतरा थी। परन्तु इन सब बातों के बावजूद प्रारंभिक ईसाइयत का स्वरूप अराजनीतिक था; राजनीतिक विचारकों के लिए उसने कोई समस्या खड़ी नहीं की। उसके प्रमुख सदस्यों की नम्रता, पारलौकिकता तथा राजनीतिक उदासीनता और उनका मुख्य रूप से आत्मा की मुक्ति की समस्या में संलग्न रहना राजनीतिक कल्प विकल्प के विकास के लिये एक दम प्रतिकूल था। नवीन धर्म के निर्माण काल में आध्यात्मिक तथा लौकिक क्षेत्र के विभेद ने राज्य और चर्च के पारस्परिक सम्बन्ध की कोई समस्या उत्पन्न नहीं की क्योंकि चर्च एक ऐच्छिक समुदाय था और यदा कदा उसके ऊपर अत्याचार होता रहता था। परन्तु जब ईसाइयत साम्राज्य का राज्य धर्म बन गई और चर्च साम्राज्य का एक अंग हो गया तो स्थिति में परिवर्तन हुआ। चर्च और राज्य में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ और सब लोग यह स्वीकार करते थे कि दोनों को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिये। राज्य भक्ति का उपदेश देना चर्च का कर्तव्य था और चर्च की रक्षा तथा सहायता करना राज्य का कार्य था। प्रारम्भ में सम्राट् समस्त विषयों में, चाहे वे लौकिक हों या धार्मिक, अन्तिम अधिकार का प्रयोग करता था; धर्म राज्य का एक विभाग समझा जाता था; चर्च में अभी आत्मचेतना तथा शक्ति नहीं आई थी। परन्तु ज्योंही चर्च शक्तिशाली बना, उसने विशाल सम्पत्ति प्राप्त की और अपने संघटन तथा सिद्धान्तों का विकास किया त्यों ही वह आध्यात्मिक विषयों में स्वायत्त शासन की मांग करने लगा। सन्त ऐम्ब्रोज (St. Ambrose) मिलान के बिशप ने बड़ी तत्परता के साथ इस धारणा का प्रतिपादन किया। जब उसने आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वतन्त्रता का दावा किया तब से ही राज्य और चर्च के बीच में उचित सम्बन्ध की समस्या खड़ी हुई। परन्तु ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक इसने कोई संघर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न नहीं किया। तब तक दोनों का सम्बन्ध 'दो तलवारों' के सिद्धान्त पर आधारित रहा। दोनों के पारस्परिक संघर्ष का वर्णन १२वें अध्याय में किया जायेगा। यहाँ पर हम आरंभिक काल में चर्च के दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति सन्त एम्ब्रोज़, सन्त ऑगस्टाइन (St. Augustine) तथा पोप ग्रेगरी महान् (Pope Gregory, the Great) ने की। इनमें से किसी भी विचारक ने राज्य और चर्च के सम्बन्ध में किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त का विकास नहीं किया; उन्होंने आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वाधीनता पर जोर दिया और उन्होंने जो विचार प्रगट किये वे ईसाई विचार का एक अभिन्न अंग बन गये।

सन्त एम्ब्रोज— सन्त एम्ब्रोज़ (३४०–३९७ ई०), मिलान के बिशप का राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उन्होंने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई चर्च की बढ़ती हुई आत्मचेतना तथा शक्ति को अभिव्यक्त किया। सम्राट् थ्यूडोसियस तथा वेलन्टीनियन (Valentinian) के साथ व्यवहार करने में उन्होंने वीरता से काम लिया और आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वाधीनता की दृढ़तापूर्वक रक्षा की। उन्होंने सम्राट् वेलन्टीनियन को लिखा कि धर्म के विषयों में सम्राट् बिशप गण के अधीन हैं, बिशप गण सम्राट् के नहीं। आध्यात्मिक विषयों में समस्त ईसाई जिनमें सम्राट् भी सम्मिलित थे चर्च के अधिकार क्षेत्र में थे; सम्राट् का चर्च के ऊपर आधिपत्य नहीं था बल्कि वह स्वयं चर्च के अधीन था, और आध्यात्मिक विषयों पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। जब सम्राट् ने सन्त एम्ब्रोज़ को एरियन्स (Arians) के प्रयोग के लिये चर्च देने का आदेश दिया तो उसने यह कहकर इंकार कर दिया कि 'महलों का स्वामी सम्राट् है; चर्चों के स्वामी बिशपगण हैं।' चर्च की भूमि सम्पत्ति पर सम्राट् का अधिकार था किन्तु चर्च के भवनों पर नहीं था जोकि प्रभु सेवा के लिये अर्पित थे। एक दूसरे अवसर पर उसने सम्राट् थ्यूडोसियस की उपस्थिति में एक उत्सव मनाने से इंकार कर दिया क्योंकि सम्राट् एक हत्याकाण्ड का अपराधी था और इस लिये चर्च द्वारा नैतिक भर्त्सना का पात्र था।

सन्त ऑगस्टाइन: उनका जीवन तथा समय– सन्त ऑगस्टाइन (३५४–४३० ई०) सन्त एम्ब्रोज़ के एक महान् शिष्य थे। उन्हें रोमन चर्च फादर्स में महानतम समझा जाता है और आने वाले विचार पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैबाइन का कहना है कि उनके लेख विचारों की खान हैं जिनमें से बाद के विचारकों ने खोदकर विचार निकाले हैं। ईसाई चर्च के इतिहास में सन्त पॉल के बाद सन्त ऑगस्टाइन को सब से महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता है।

उनका प्रादुर्भाव संसार के इतिहास के एक अत्यन्त नाजुक जमाने में हुआ। यह एक भारी संकट और बवण्डर का समय था जब कि रोमन साम्राज्य और रोमन कैथोलिक चर्च दोनों का ही विनाश निश्चित दिखाई पड़ता था। वह रोमन साम्राज्य जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय तक के इतिहास में संसार का महानतम साम्राज्य था और जिसने आठ शताब्दियों तक सभ्य संसार में शान्ति कायम रक्खी थी, अब उत्तर-पूर्व से आने वाले बर्बरों के आक्रमण से उसकी धज्जियाँ उड़ रही थीं। हूणों ने डैन्यूब और राइन (Rhine) को पार किया और दुर्बलताग्रस्त साम्राज्य के ऊपर बाज की तरह झपट पड़े। उन्होंने रोम की सेनाओं को ३७६ ई० में परास्त कर दिया और वे आधुनिक सर्बिया तथा बलगेरिया के प्रदेशों में बस गये। वे केवल दो वर्षों के निवास के बाद उन क्षेत्रों से आगे बढ़े और बीस वर्षों तक साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में लूट मार करते रहे। अन्त में ४१० ई० में राजा अलारिक के नेतृत्व में विजीगौथ्स ने रोम को तीन दिन तक लूटा खसोटा। वह रोम जिसकी ओर लोग ८०० वर्ष तक मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण के लिये देखते रहे थे और जिसे प्रत्येक स्थायी और बलशाली चीज़ का प्रतीक समझा जाता था उसकी पराजय ने मूर्तिपूजकों तथा ईसाइयों, सभी के दिल को आघात पहुँचाया। मूर्तिपूजक चिल्ला उठे कि 'रोम का नाश ईसाई काल में हुआ है।' उन्होंने कहा कि जब तक रोम तथा रोम के नागरिक मंगल, बृहस्पति इत्यादि प्राचीन देवताओं की उपासना करते रहे तब तक सफलता तथा विजय उनके क़दम चूमती रही और देश-देशान्तरों में रोम का झण्डा लहराता रहा। जब उन्होंने प्राचीन देवताओं का परित्याग करके नवीन धर्म को अपनाया तभी उनके ऊपर संकट आया और रोम का पतन हो गया। ईसाई लोग यद्यपि इस विचार का खण्डन करते थे तथापि वे इस बात से बहुत दुखी और चिंतित थे कि नवीन धर्म रोम की रक्षा न कर सका। उन्हें यह देख कर घोर निराशा हुई कि वह साम्राज्य, जिस पर वह अपनी सहायता तथा रक्षा के लिये भरोसा रखते थे, स्वयं अपने आप को भी बचा सका।

9403

केवल साम्राज्य के दुर्भाग्य ने ही विचारशील व्यक्तियों को चिंतित नहीं किया बल्कि विजेता ईसाई चर्च की स्थिति भी उनके लिये चिंता का विषय बन गई। इसके अन्दर ऐसी फूट और पारस्परिक कलह उत्पन्न हो गये जिनका कोई उपचार दिखाई नहीं पड़ता था; साम्राज्य से संघर्ष के समय इसमें जो एकता पाई जाती थी वह लुप्त हो गई। "सिद्धान्त के ऊपर मतवैभिन्न्य, विशेष रूप से आलरियस (Alrius) तथा अथानासियस (Athanasius) के मतभेद ने ऐसी दराड़ें उत्पन्न करदीं जिनका भरना असम्भव हो गया; अनुशासन की संदिग्ध समस्याओं ने, विशेषकर उन्होंने जिनका सम्बन्ध डोनेटिस्ट्स (Donatists) से था, कलहकारी मतभेद उत्पन्न किये; पद, पुरस्कार, सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष ने पादरी समाज को चित्तभ्रष्ट कर दिया, धर्मावलम्बियों को दुखित और संसार को चकित कर दिया।"* अन्य किसी जगह की अपेक्षा उत्तरी

---

* "Differences of Doctrine, particularly that which divided Alrius from Athanasius, caused irreconcilable breaches; doubtful problems of discipline, particularly that associated with the Donatists, led to schismatical dissent; conflicts for office, emolument, property, power

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका में स्थिति अधिक गम्भीर थी जहाँ कि नाना प्रकार के मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये, नास्तिकता फैल गई और यह खतरा उत्पन्न हो गया कि कहीं ऐसा न हो कि चर्च के शत्रु उसे बिल्कुल नष्ट कर दें।

सन्त ऑगस्टाइन ने अपने सामने तीन कार्य रक्खे: (१) ईसाई धर्म को अपनाने के बाद रोमन साम्राज्य के पतन का कारण बतलाना, (२) नास्तिकता को कुचलना तथा ईसाई-विरोधी धर्म का सामना करना, और (३) चर्च को शक्तिशाली बनाना तथा वह आदर्श अंकित करना जिसकी ओर उसे अग्रसर होना था। अपने इस त्राकार लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसने अपने हिपो (Hippo) के बिशप होने तथा अपनी दार्शनिक प्रतिभा का पूरा लाभ उठाया। बिशप के रूप में उसने अपनी समस्त शक्तियों को चर्च के दृढ़ करने तथा नास्तिकता को कुचलने में लगाया और रोम के पतन का कारण समझाने के लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डी सिविटटे डेई' (De Civitate Dei) की रचना की जो अंग्रेज़ी में 'दी सिटी ऑफ गॉड' (The City of God) के नाम से प्रसिद्ध है।

सन्त ऑगस्टाइन का जन्म ३५४ ई० में उत्तरी अफरीका में रोम के एक प्रान्त नूमीडिया (Numidia) में हुआ था। उनका पिता एक मूर्तिपूजक था और उनकी माता ईसाई थी। उनके पिता ने अपनी शक्ति भर उन्हें सर्वश्रेष्ठ शिक्षा दी और उनकी माता ने उन्हें ईसाई धर्म का पाठ पढ़ाया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसका उनके ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि वह अपनी तरुणावस्था में भी ईसाई नहीं थे। शुरू में उन्होंने मैनीकिज़्म (Manichaeism) अपनाया; और फिर एक 'नियो-प्लाटोनिस्ट' (Neo-Platonist) हो गये। अन्त में मिलान के बिशप सन्त एम्ब्रोज़ ने उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया और वह एक बहुत सक्रिय और उत्साही पादरी बन गये। ४३० ई० में अपने ही प्रान्त हिपो के वह बिशप नियुक्त किये गये जहाँ कि वह अपने जीवन के अन्त तक रहे। उनकी मृत्यु के समय 'वैन्डल्स' (Vandals) ने नगर का घेरा डाला हुआ था। यहाँ पर हम उनके महान् ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' का एक संक्षिप्त विवरण देंगे जिसमें उनके सब से अधिक महत्वपूर्ण विचारों में से दो पाये जाते हैं:— (१) ईसाई कॉमनवैल्थ की धारणा तथा (२) इतिहास का दर्शन जो कि कॉमनवैल्थ की स्थापना को मानव जाति के आध्यात्मिक विकास की अन्तिम सीढ़ी समझता है। उसके दर्शन को अफलातूनवाद तथा ईसाई धर्म का समन्वय समझा जा सकता है जिसमें प्रेम तथा विश्वास पर बल है जो ईसाई धर्म का सार है।

इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)— जैसा कि हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं, आगस्टाइन ने अपने महान् ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' की रचना

---

distracted the episcopate, scandalised the faithful and amazed the world." —Hearnshaw : *Social and Political Ideas of the Middle Ages*, page 36.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाये गये इस आरोप का खण्डन करने के लिये की थी कि उसके कारण ही रोम का पतन हुआ। उनकी धारणा थी कि यह विश्वास करना मूर्खता है कि साम्राज्यों का उत्थान या पतन देवताओं की प्रसन्नता या प्रकोप के कारण होता है। न तो रोमन साम्राज्य की सम्पन्नता और विजय रोमन देवताओं का वरदान था और न उसके पतन का कारण ईसाई धर्म की दुर्बलता थी; ये दोनों ही बातें दैविक योजना और उद्देश्य की अभिव्यंजना की घटनायें थीं। दूसरे शब्दों में, सन्त ऑगस्टाइन मानव इतिहास के प्रवाह को ईश्वर इच्छा की अभिव्यक्ति समझता था। उसकी शिक्षा यह थी कि समस्त वस्तुयें इस वसुन्धरा पर प्रभु के राज्य की स्थापना की ओर जा रही हैं। रोम का पतन इसलिये हुआ क्योंकि उसका पराभव दैविक उद्देश्य की पूर्ति और रोमवासियों के हृदय को मूर्तिपूजक धर्म के दोष से हटाकर उन्हें प्रभु की दया के लिये तैयार करने के लिये आवश्यक था।

कार्ल मार्क्स की भांति ऑगस्टाइन भी मानव इतिहास के प्रवाह को एक निरन्तर संघर्ष के रूप में देखता था; किन्तु मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष आर्थिक शक्तियों के बीच में होता है जबकि ऑगस्टाइन उसे पाप और पुण्य का द्वन्द्व समझता है जिसमें विजय सदा पुण्य की होती है। ऑगस्टाइन का यह विचार हमारे प्राचीन साहित्य में पाई जाने वाली देवासुर संग्राम की धारणा से बहुत मिलता जुलता है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्-गीता के अनुसार पाप का नाश करने तथा धर्म की स्थापना करने के लिये ईश्वर अवतार लेता है उसी प्रकार ईसाइयों का भी यह विश्वास था कि ईश्वर अपने पुत्र ईसा के द्वारा इस पृथ्वी पर 'ईश्वरीय राज्य' स्थापित करना चाहता था। रोम का पतन इसलिये हुआ क्योंकि ईश्वर ईसाई कॉमनवैल्थ स्थापित करने की तैयारी के लिये उसे आवश्यक समझता था।

सन्त ऑगस्टाइन ने इस स्टोइक धारणा को ही स्वीकार किया कि मनुष्य दो राज्यों, अपने जन्म के राज्य तथा समस्त विश्व, का नागरिक है किन्तु मनुष्य के दोहरे स्वभाव की ईसाई धारणा से प्रेरित होकर उसकी एक नई व्याख्या की। शरीर होने के नाते मनुष्य सांसारिक राज्य का सदस्य है जिसका आधार मनुष्य की पाशविक प्रकृति की तृष्णापूर्ण तथा संग्रहात्मक भावना है। आत्मा होने के नाते वह 'ईश्वरीय राज्य' का सदस्य है जिसकी सदस्यता आत्मा की मुक्ति के लिए अपरिहार्य है। ऑगस्टाइन मानव इतिहास को इन दो राज्यों तथा समाजों के बीच में संघर्ष की एक कहानी समझता था जिन्हें वह क्रमशः 'शैतान का राज्य' (Civitas Terrena) तथा 'दैविक राज्य' (Civitas Dei) कह कर पुकारता था। अपने स्वभाव से ही 'शैतान का राज्य' अर्थात् सांसारिक राज्य नाशमान है; एक न एक दिन इसे अवश्य नष्ट होना है। इसके विपरीत 'ईश्वरीय राज्य' स्थायी है; केवल यही सदा कायम रहेगा; केवल इसी में शान्ति प्राप्त होना सम्भव है। "सभी सांसारिक राज्य एक न एक दिन नष्ट हो जायेंगे; क्योंकि सांसारिक शक्ति स्वभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही परिवर्तनशील और नाशमान् है ; इसका आधार मानव जीवन की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अवश्य ही युद्ध तथा शक्तिलोलुपता को जन्म देती हैं।"* इस प्रकार संत ऑगस्टाइन ने रोम के पतन को दैविक योजना की पूर्ति के मार्ग में एक कदम बताया।

ईश्वरीय राज्य तथा सांसारिक राज्य— ऑगस्टाइन की शिक्षाओं को समुचित रूप से समझने के लिए इन शब्दों का अर्थ अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। ऑगस्टाइन का 'ईश्वरीय राज्य' भी स्टोइक्स के 'ईश्वरीय नगर' की भाँति एक विश्वव्यापी समाज है जो कि जाति, वर्ग तथा राज्य के भेदों का अतिक्रमण करता है; यह एक ऐसा समाज है जिसका सदस्य प्रत्येक मानव प्राणी केवल मानव होने के नाते बन सकता है। परन्तु स्टोइक समाज की भाँति कोई व्यक्ति मनुष्य रूप में जन्म लेने के कारण ही इसका सदस्य स्वयमेव नहीं बन जाता। जब से मनुष्य का 'पतन' हुआ है तब से मनुष्य केवल प्रभु कृपा से ही इसका सदस्य बन सकता है और यह कृपा हर किसी को प्राप्त नहीं होती; यह केवल उन्हीं को मिलती है जो ईसा में विश्वास रखते हैं। दूसरे शब्दों में, स्टोइक्स के विश्वव्यापक समाज के विपरीत ऑगस्टाइन की कल्पना के 'ईश्वरीय राज्य' के क्रोड़ में समस्त मानवता नहीं आती; उसके अंक में केवल वे ही लोग आते हैं जो कि ईसाई चर्च के सदस्य हैं या थे। जो चीज़ उन्हें एकता के सूत्र में गंथती है और समाज के रूप में उनका निर्माण करती है वह है ईश्वर के प्रति उनका सामान्य प्रेम और भक्ति; वर्ग, जाति तथा राज्य भेद का उसमें कोई स्थान नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि ईसाई चर्च ही 'ईश्वरीय राज्य' है; ऑगस्टाइन दोनों को एक नहीं समझता। 'ईश्वरीय राज्य' में देवगण तथा वे स्वर्गीय आत्मायें भी सम्मिलित हैं जो कि इस पृथ्वी को छोड़ चुकी हैं; इस दृष्टिकोण से चर्च की अपेक्षा इसकी सदस्यता अधिक व्यापक है। यद्यपि इन दोनों को एकरूप नहीं समझा जा सकता तथापि इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि 'ईश्वरीय राज्य' का सदस्य साधारणतया चर्च की शिक्षाओं का पालन करके ही बना जा सकता है। 'ईश्वरीय राज्य' एक अमूर्त्त कल्पना है; वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है; ईसाई चर्च को उसका साकार रूप समझा जा सकता है। दोनों के सम्बन्ध को फ़ॉस्टर ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया हैं: "चर्च 'ईश्वरीय नगर' का वह विभाग है जिसमें वे सब सदस्य सम्मिलित हैं, जो कि अभी अपनी विश्व यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमें को वे सब (या लगभग सब) जो कि

---

* "All earthly kingdoms must pass away, for earthly power is naturally mutable and unstable; it is built on those aspects of human nature which necessarily issue in war and the greed of domination."
—Sabine: *A History of Political Theory*, page 190.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ईश्वरीय राज्य' के सदस्य हैं, गुज़र चुके हैं।" † जहाँ तक कि वह ईश्वर प्रेम से प्रेरित है ईश्वर का राज्य सम्पूर्ण मानव जाति है।

ईसाई चर्च को 'ईश्वरीय राज्य' का साकार रूप तथा उन सब लोगों का एक समाज समझना जिन्होंने कि धार्मिक संस्कारों में भाग लेकर प्रभु की कृपा प्राप्त की है, एक युगनिर्मायक धारणा थी। इसने एक विश्वव्यापी ईसाई समाज के विचार के लिये भूमि तैयार की जोकि सारे मध्य युग की चिंतन-धारा के ऊपर छाया रहा। क्योंकि ईसाई चर्च वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रभु अपनी दया प्रदान करता है, इसलिये उसकी स्थापना देवासुर संग्राम के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात था; इसका अर्थ यह था कि भविष्य में राज्य को ईसाई राज्य होना चाहिये "जिसका कर्तव्य एक ऐसे समाज की सेवा करना, जोकि एक सामान्य ईसाई धर्म का पालन करने के नाते एक है, एक ऐसे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, जिसमें आध्यात्मिक हित सर्वोपरि हैं तथा धर्म की पवित्रता को सुरक्षित रखकर मनुष्य की मोक्ष-प्राप्ति में सहायता करना है।" एक ऐसे सार्वभौमिक समाज की धारणा जिसमें कि एक ही शक्ति द्वारा बनाये हुए एक ही जीवन सिद्धान्त का साम्राज्य हो सब से पहिले सन्त ऑगस्टाइन के मन में आई, ऐसा प्रतीत होता है। शायद इसी लिये कभी कभी यह कहा जाता है कि ऑगस्टाइन वह व्यक्ति था जिसने एक नवीन युग का सूत्रपात किया; उसने प्राचीन विचार को पूर्णता प्रदान की और नवीन विचार की पूर्व सूचना दी। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' (Holy Roman Empire) की सारी धारणा 'ईश्वरीय राज्य' के ऊपर आधारित है।

ईश्वरीय राज्य की धारणा की भांति आसुरी राज्य अथवा इहलौकिक राज्य की कल्पना भी अमूर्त है। रोमन साम्राज्य (या भूतकाल का अन्य कोई मूर्तिपूजक राज्य) के तद्रूप न होते हुए भी यह उसके बहुत निकट थी। जिस अपूर्ण ढंग से ईसाई चर्च को ईश्वरीय राज्य का साकार रूप समझा जा सकता है उसी प्रकार से रोमन साम्राज्य को भी आसुरी राज्य का पार्थिव प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दोनों में इसी साम्य के कारण ऑगस्टाइन ने चर्च की तुलना में लौकिक राज्य को हीन ठहराया है और उसके अधिकार की भर्त्सना की है। ऑगस्टाइन के बाद के अन्य मध्यकालीन लेखकों में भी यही तान सुनाई पड़ती है; उन्होंने चर्च की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। ऑगस्टाइन के सन्त एम्ब्रोज़ सरीखे पूर्ववर्तियों ने ऐसा नहीं किया। राज्य की अपेक्षा चर्च की महत्ता को

† "The Church is both one section of the City, comprising those members who are still on their pilgrimage through the world, and the avenue through which all (or almost all) who are members of the City must have passed." —Foster: *Masters of Political Thought*, Vol. I, page 203.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करके ऑगस्टाइन ने आने वाले युग के राजनीतिक विचार में एक नई विशेषता उत्पन्न कर दी।

न्याय तथा शांति के विषय में ऑगस्टाइन के विचार— ऑगस्टाइन के अनुसार न्याय तथा शांति ईश्वरीय राज्य के गुण हैं; इसलिये इनको केवल उसी समाज में प्राप्त किया जा सकता है जोकि ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है; उन्हें ऐसे समाज में प्रात नहीं किया जा सकता जो आसुरी राज्य का प्रतिनिधि हो। दूसरे शब्दों में, ऑगस्टाइन के अनुसार ईसा के पहिले के मूर्तिपूजक राज्यों में न्याय खोजना व्यर्थ है; वह तो केवल ईसाई राज्य में ही प्राप्त हो सकता है।

यह उपसिद्धि (Corollary) है न्याय की इस परिभाषा की कि न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्त्तव्यों का पालन करने में है जिनकी कि व्यवस्था मांग करती है। देखने में यह परिभाषा न्याय की अफ़लातून द्वारा दी हुई इस परिभाषा से कि न्याय स्वधर्म का पालन करना है, मिलती जुलती दिखलाई पड़ती है; परन्तु दोनों में एक आधारभूत अन्तर है। अफ़लातून के लिए राज्य सर्वोत्कृष्ट इकाई है; इससे अधिक व्यापक और कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसका कि राज्य एक अंग या भाग हो। परन्तु ऑगस्टाइन ऐसा नहीं मानता। वह राज्य को एक अधिक व्यापक समाज का एक अंग और इसलिये उसे उसके अधीन मानता है। यदि राज्य इस अधिक व्यापक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता है और अपने नागरिकों के लिये ऐसा आचरण निर्धारित करता है जोकि उस व्यवस्था को भंग करे, तो वह राज्य अन्यायी बन जाता है। यह व्यापक व्यवस्था, जिसके परिवार, नगर तथा राज्य अंग हैं, एक सार्वभौमिक व्यवस्था है जिसे ईश्वर इच्छा ने मानव मात्र के लिए निर्धारित किया है; यह उन सब मनुष्यों का एक समुदाय है जो ईसाई चर्च द्वारा ईश्वरीय राज्य में भाग लेते हैं। जो राज्य ईसाई चर्च के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण नहीं करता अर्थात् जो एक ईसाई राज्य नहीं है उसमें सच्चे न्याय की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। मूर्तिपूजक राज्यों में पाया जाने वाला न्याय सापेक्षिक था, निरपेक्ष नहीं।

इसी प्रकार, पूर्व-ईसा युग के मूर्तिपूजक राज्य स्थायी तथा सार्वभौमिक शांति की सिद्धि भी नहीं कर सकते थे। वे अपनी सीमाओं के अन्दर तो शांति स्थापित रख सकते थे, परन्तु आपस में नहीं क्योंकि उनका आधार आत्म-प्रेम तथा शक्ति का लोभ था। विश्व शांति के लिये दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम, समस्त मनुष्य एक ही विश्व-व्यवस्था के अंग होने चाहियें और वे एक ही सार्वभौमिक कानून के अधीन रहने चाहियें। दूसरे, यह कि मानव मात्र को एक दूसरे से वैसा ही प्रेम करने की प्रेरणा देनी चाहिये जैसा कि वह अपने आप से करता है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध इतने घनिष्ठ और दृढ़ हों जितने कि मूर्तिपूजक (Pagan) युग में सम्भव नहीं थे। इस पूर्व-आवश्यकता की पूर्ति यूरोप के लिये सब से पहिले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसा की शिक्षाओं ने की और इस लक्ष्य की प्राप्ति ईश्वरीय राज्य के प्रतीक और पार्थिव प्रतिनिधि के रूप में ईसाई चर्च की स्थापना से सम्भव हो सकी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मूर्तिपूजक राज्य शांति स्थापित नहीं कर पाये; ऑगस्टाइन ऐसा नहीं कहता और न ही वह इस दिशा में उसकी सफलता का महत्त्व कम करता है। उसके कहने का अभिप्राय केवल यह है कि उनके द्वारा स्थापित की हुई शान्ति सापेक्षिक थी, निरपेक्ष या सार्वभौमिक नहीं; वह शुभ अवश्य थी, परन्तु परम शुभ नहीं। उनकी शान्ति कानूनी सम्बन्ध व्यवस्था की उत्पत्ति थी; इसीलिये वह सर्वोत्कृष्ट नहीं थी। सच्ची अथवा सार्वभौमिक शान्ति का अभिप्राय युद्ध का अभाव नहीं है बल्कि यह वह व्यवस्था है जो कि मनुष्यों के बीच में एक सुव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें प्रेम सूत्र में गूंथती है। ऐसा प्रेम केवल उन्हीं में सम्भव हो सकता है जो कि ईश्वर से प्रेम करते हैं और मानवमात्र को ईश्वर की सन्तान समझते हैं। यह है ऑगस्टाइन के विचार से शान्ति का अर्थ।

राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार— सन्त ऑगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई परम्परा को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पाप के उपचार के रूप में स्थापित किया है, इसलिए उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिये। परन्तु उसके इस तर्क ने कि पूर्व-ईसा मूर्तिपूजक रोमन साम्राज्य ईश्वरीय राज्य नहीं बल्कि आसुरी राज्य का प्रतिनिधि था और केवल लौकिक जीवन का परिणाम था, उसके लिये ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं जोकि प्रारंभिक चर्च फ़ादर्स के सामने न आई थीं। मनुष्य के ऊपर एक ऐसे राज्य को क्या अधिकार हो सकता है जो कि केवल एक लौकिक संघटन है और जो सच्चे न्याय को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि अपने संविधान के शिकन्जे में जकड़ा होने के कारण वह पारलौकिक अर्थात् आध्यात्मिक बातों में ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। ऐसे राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य क्यों करें? ऑगस्टाइन का उत्तर यह है कि ऐसे राज्य का सम्मान इसलिये होना चाहिये क्योंकि वह शांति कायम रखता है और नागरिक की सम्पत्ति की रक्षा करता है; शांति और व्यवस्था तथा सम्पत्ति की सुरक्षा में तो आसुरी प्रवृत्ति वालों का भी अनुराग है। शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिये सन्त ऑगस्टाइन निजी सम्पत्ति को आवश्यक समझता था और समानतावादी आलोचकों के विरुद्ध उसने निजी सम्पत्ति का समर्थन किया। परन्तु इसके साथ ही साथ उसकी यह भी धारणा थी कि मनुष्य को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है। जितनी कि उसके लिये आवश्यक है; आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग सर्वजनहिताय होना चाहिये।

सन्त ऑगस्टाइन दासों को निजी सम्पत्ति का ही एक रूप समझता था और इसी लिये वह दास प्रथा का समर्थन करता था। परन्तु दास प्रथा के ऑगस्टाइन तथा अरस्तु द्वारा समर्थन के कारण बिल्कुल भिन्न भिन्न हैं। ऑगस्टाइन इसे स्वाभाविक नहीं समझता; उसका यह विश्वास नहीं कि स्वभावतया कुछ मनुष्य स्वामी और कुछ दास होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दासता को वह पाप का दैविक प्रतिकार समझता है। यदि मनुष्य पाप न करता तो ईश्वर दासता की व्यवस्था न करता; मनुष्य के पतन ने उसे इस समानता से वंचित कर दिया जो कि शुरु शुरु में ईश्वर स्थापित करना चाहता था। इसलिये वह दासों से कहता है कि उन्हें अपने स्वामी के शासन में रहना चाहिये, उससे भागना नहीं चाहिये। व्यक्तिगत रूप से यह सिद्धान्त तभी लागू हो सकता है जब कि हम यह मान लें कि प्रत्येक दास अपने स्वामी की अपेक्षा अधिक पापी है और प्रत्येक दशा में एक दास अपने व्यक्तिगत पाप का फल ही भोगता है। इन मान्यताओं को सिद्ध करना बड़ा कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऑगस्टाइन दास प्रथा को 'आदम' (Adam) अर्थात् आदि पुरुष के पतन का मानवता को सामूहिक दण्ड समझता था।

राज्य तथा चर्च— सन्त ऑगस्टाइन एक ईसाई राज्य की आज्ञा-पालन के कर्तव्य की एक बहुत ही भिन्न व्याख्या देता है। यह चर्च के एक लौकिक अंग के रूप में काम करता है और इसका ध्येय सच्चे अथवा पूर्ण न्याय की प्राप्ति करना है। इसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के पीछे एक दैविक योजना और उद्देश्य है जो इसके चरित्र को परिवर्तित करता है और उसे उदात्त बनाता है। मनुष्य को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये क्योंकि वह दैविक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है, केवल इसलिये नहीं कि वह शांति और व्यवस्था कायम रखता है और सम्पत्ति की रक्षा करता है। सारांश यह कि ऑगस्टाइन के लिये राज्य का औचित्य इस बात में है कि वह एक सार्वभौमिक नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करता है, इस बात में नहीं कि वह जीवन की सामाजिक तथा अन्य सुविधायें जुटाता है जैसा कि प्राचीन यूनानी तथा रोमन लोग मानते थे। ऑगस्टाइन की यह धारणा पुरानी विचार-धारा से एकदम भिन्न है।

इसी विचार को एक दूसरे ढंग से भी व्यक्त किया जा सकता है। अफलातून तथा अरस्तु सरीखे विचारकों के लिए राज्य एक उच्चतम संगठन था; उससे उच्चतर अन्य कोई शक्ति न थी; वह सर्वोच्च शक्ति थी। ऑगस्टाइन की धारणा इसके एकदम उल्टी है; वह राज्य को ईश्वर की उच्चतर शक्ति के अधीन मानता है; उसके कानूनों का पालन करना तथा उसकी शक्ति का सम्मान करना केवल वहीं तक उचित है जहाँ तक कि वह ईश्वर के प्रति कर्तव्य का उल्लंघन न हो। दूसरे शब्दों में राज्य के प्रति भक्ति का कर्त्तव्य निरपेक्ष नहीं है; वह ईश्वर की उच्चतर शक्ति के प्रति कर्तव्य के अधीन है। एक सच्चा ईसाई नागरिक कानूनों का इसलिये पालन करता है क्योंकि वह उनके पीछे ईश्वर की स्वीकृति देखता है। इसमें यह बात स्पष्ट निहित है कि लौकिक शक्ति ईश्वर की उच्चतर शक्ति के अधीन है।

उपरोक्त धारणा का स्वाभाविक परिणाम राज्य को चर्च के अधीन करना है जैसा कि आगे चल कर सन्त टॉमस ऐक्वीनास, पोप ग्रेगरी सप्तम तथा पोप बॉनीफेस अष्टम ने किया। परन्तु ऑगस्टाइन एक धर्मतन्त्र (Theocracy) की स्थापना नहीं करता;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह राज्य को चर्च का एक अंग नहीं बनाता। वह रोमन सम्राट् को मान्यता प्रदान करता है, यह स्वीकार करता है कि वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है और राजाज्ञा का पालन करना प्रजाजन का कर्तव्य बतलाता है और चर्च की रक्षा करने तथा अधर्म का विनाश करने के लिये सम्राट् का आह्वान करता है। परन्तु वह लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक विभाजन रेखा खींचता है और आध्यात्मिक विषयों में सम्राट् को कोई अधिकार नहीं देता। उसकी धारणा है कि यदि राज्य आध्यात्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो नागरिकों को उसके प्रति भक्ति का परित्याग कर देना चाहिये। राज्य और चर्च को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिये। एक ईसाई शासक को धार्मिक विषयों में चर्च के निर्देशन की आवश्यकता है और लौकिक विषयों में बिशपों को राज्यशक्ति की अपेक्षा है; इसलिये दोनों को परस्पर सहयोग के साथ काम करना चाहिये। तथापि ऑगस्टाइन इस बात के ऊपर ज़ोर देता है कि लौकिक शक्ति अर्थात् राज्य आध्यात्मिक रूप से मृतप्राय है यदि वह चर्च के साथ घनिष्ट मित्रता स्थापित न करे। स्वयं मानव जीवन की व्यवस्था और महत्त्व तभी समझ में आ सकता है जब कि मनुष्य के पतन तथा मोक्ष का सिद्धान्त हमारे सामने हो।

सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव— जैसा कि गत पृष्ठों में हम बार बार कह चुके हैं, मध्यकालीन यूरोप के विचार पर सन्त पॉल के अतिरिक्त अन्य किसी ईसाई लेखक का इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि सन्त ऑगस्टाइन का। उसके सुविख्यात ग्रन्थ 'सिटी ऑफ़ गॉड' का व्यापक अध्ययन हुआ; सैबाइन के शब्दों में यह विचारों की एक खान है जिसमें से आगे आने वाले कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेएट लेखकों ने खोद २ कर विचार निकाले हैं। इसने शार्लीमैग्ने (Charlemagne) तथा ऑटो महान् (Otto the Great) सरीखे मध्यकालीन शासकों के विचार का रूप निर्धारित किया और वह आधार प्रस्तुत किया जिसके ऊपर आगे चल कर पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण हुआ। ईसाई कॉमनवैल्थ की उसकी धारणा मध्य युग के सार्वभौमिकवाद का आधार थी जो कि एक विश्वव्यापक समाज की सत्ता को मानता है। यद्यपि उसने स्वयं राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया किन्तु आगे आने वाले लेखकों ने उसके विचारों को तराश खराद कर धर्म के प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास किया। वह एक महान् रचनात्मक धर्मवेत्ता था। ईसाई चर्च के उद्देश्यों का, जो कि उसको एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान करते थे, वर्णन करके उसने उसकी शिक्षाओं को एक निश्चित सिद्धान्त प्रणाली का रूप दिया। यह कथन एकदम सत्य है कि इसने एक नवीन युग का प्रवर्त्तन किया। इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् सभ्यता की व्याख्या धर्मशास्त्र के अनुसार होने लगी और विद्या का अधिकाधिक सम्बन्ध बाइबिल के विषयों से बढ़ता गया।

ग्रेगरी महान् (Gregory the Great)— सन्त एम्ब्रोज़ तथा सन्त ऑगस्टाइन ने चर्च की स्वायत्त स्वाधीनता पर जो ज़ोर दिया था पोप ग्रेगरी महान् ने भी उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परा को कायम रक्खा। यद्यपि उसने रोम के विशप पद की शक्ति और सम्मान को बहुत ऊँचा उठाया और उसके हाथ में एक बहुत बड़ी लौकिक एवं धार्मिक शक्ति थी तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया; उसने राजाज्ञा-पालन के कर्तव्य का अधिवक्तन किया। राजनीतिक शासन की आवश्यकता और पवित्रता का उसने ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया; यहाँ तक कि उसने चुपचाप और निष्क्रिय रूप से आज्ञापालन का सुझाव दिया।

यह सिद्धान्त कि चर्च आध्यात्मिक विषयों में और राज्य लौकिक विषयों में स्वाधीन हैं और इनमें से किसी को भी दूसरे के कार्य में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये जब तक कि वह अपने क्षेत्र की सीमाओं का उल्लंघन न करे साधारणतया 'दो तलवारों' (Two Swords) के सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। यह सिद्धान्त चर्च फ़ादर्स के युग में चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है। इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

दो तलवारों का सिद्धान्त (The Theory of Two Swords)— पाश्चात्य विचार को ईसाई धर्म की देन का वर्णन करते हुए हमने यह कहा था कि ईसाई धर्म ने मानव के लौकिक एवं आध्यात्मिक हितों में विभेद करके और आध्यात्मिक हितों को राजनीतिक क्षेत्र से बिल्कुल अलग करके उस युग के राजनीतिक विचार में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। प्राचीन भारतीयों के सदृश प्राचीन यूनानियों तथा रोमनों के लिए धार्मिक तथा नागरिक जीवन एक अविभाज्य सम्पूर्ण था। ईसाई धर्म ने इस एकता को भंग कर दिया और दोनों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग कर दिया क्योंकि उसका विश्वास था कि मनुष्य की दोहरी प्रकृति है और उसका दोहरा जीवन लक्ष्य है। नाशवान् शरीर के रूप में उसके कुछ भौतिक हित होते हैं जो कि लौकिक अथवा नागरिक शक्ति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत हैं; एक अमर आत्मा के रूप में उसके कुछ पारलौकिक हित हैं जिनके ऊपर अधिकार चर्च अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति का है। अपने शारीरिक तथा आर्थिक कल्याण और सांसारिक शांति तथा समृद्धि का उपभोग करने के लिये मनुष्य को राज्य का शासन स्वीकार करना चाहिये; अपनी आत्मिक उन्नति तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसे चर्च के अनुशासन में चलना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य दो विभिन्न शक्तियों के अधीन है; दो तलवारों के अधीन है क्योंकि तलवार शासनशक्ति का प्रतीक है। प्रारंभिक चर्च फ़ादर्स के अनुसार परमात्मा ने, जो कि समस्त शक्ति का स्रोत है, एक तलवार सम्राट् को और दूसरी पोप को दी। राज्य का मुख्य कर्तव्य शांति और व्यवस्था कायम रखना तथा न्याय प्रदान करना है जब कि चर्च के पादरियों का कार्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करना तथा शाश्वत मोक्ष प्राप्त करने में उसकी सहायता करना है। एक को दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। परन्तु दोनों में परस्पर सहयोग और सहायता की भावना होनी चाहिये। ईसा की इस उक्ति से कि 'लौकिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयों में राजा का और आत्मिक विषयों में ईश्वर के आदेश का पालन करो' यह स्पष्ट है कि राज्य तथा चर्च में किसी प्रकार के संघर्ष की आशंका नहीं की जाती थी; यह विश्वास किया जाता था कि उन दोनों में पूर्ण शांति एवं तालमेल रहेगी; आध्यात्मिक विषयों में ईसाई शासक चर्च के अधिकारियों का परामर्श लेगा और विशप गण लौकिक विषयों में राज्य की सहायता करेंगे और राजकीय कानूनों का प्रयोग केवल सांसारिक कार्यों के लिये ही करेंगे।

दो तलवारों के इस सिद्धान्त का सब से अधिक अधिकारपूर्ण वर्णन पोप गैलेसियस प्रथम (Pope Gelasius I) ने किया है, जिसकी धारणा थी कि धर्म सिद्धान्त के विषय में सम्राट् को अपनी इच्छा चर्च के आदेश के अधीन रखनी चाहिये; ऐसे विषयों में उसका कर्तव्य पादरियों से कुछ सीखना है, उन्हें सिखाना नहीं, और सांसारिक विषयों में पादरियों को सम्राट् द्वारा बनाये हुए कानूनों का पालन करना चाहिये। उसने सम्राट् अनस्टेसियस (Anastasius) को निम्नलिखित शब्द लिखे: "महान् सम्राट्, इस संसार पर दो शक्तियों— विशपगण तथा राजाओं— का शासन है। इन दोनों में पादरियों का उत्तरदायित्व अधिक भारी है, क्योंकि उन्हें स्वयं राजाओं के कामों के लिए भी ईश्वर को हिसाब देना है .... तुम्हें श्रद्धापूर्वक विशपगण के सामने सिर झुकाना चाहिये जो कि धार्मिक विषयों के संचालन के लिए उत्तरदायी हैं; मुक्ति मार्ग पर चलने के लिए तुम्हें उनकी शरण में जाना चाहिये; और समस्त धार्मिक संस्कारों की प्राप्ति तथा प्रशासन में, तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिये कि तुम्हारा धर्म उनको आदेश देना नहीं उनके आदेश का पालन करना है .... ऐसे समस्त विषयों में तुम्हें उनके निर्णय पर निर्भर करना चाहिये, और उनसे अपनी इच्छा का पालन कराने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है ...... समस्त लौकिक व्यवहार में धर्माधिकारीगण तुम्हारे कानूनों का पालन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि तुम्हें अपनी शक्तियाँ ऊपर से मिली हुई हैं।"*

---

* August emperor, this world is governed by two powers,— by bishops and by kings; of these the responsibility of the priests is the weightier, since they have to render an account to God even for kings themselves ...... You devoutly bow your head to the bishops who are charged with the administration of holy things; you address yourself to them to be conducted in the ways of salvation; and in all that regards the reception and administration of the sacraments, you acknowledge that far from having any power to command, you are bound to obey them ...... in all such concerns you depend upon their judgment, and that you have no right to subject them to your will ...... The ministers of religion obey your laws in all that belongs to the temporal order, because they know you have received your powers from above.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि लौकिक और आध्यात्मिक विषयों की सीमाओं को निश्चित रूप से निर्धारित किया जा सकता तो दो समानान्तर तथा स्वशासक शक्तियों के जिसके समस्त ईसाई लोग अधीन थे, इस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने में कोई कठिनाई उत्पन्न न होती। परन्तु सामन्तवादी प्रथा द्वारा उत्पन्न जटिलताओं के कारण दोनों के अधिकार क्षेत्र एक दूसरे के ऊपर छाये हुये थे, जिसके फलस्वरूप उनमें से प्रत्येक यह महसूस करता था कि दूसरा उसके क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है। इस प्रकार पोप तथा सम्राट् का सम्बन्ध एक विवादग्रस्त विषय बन गया। यह विवाद ११वीं शताब्दी में उठा और कई सौ वर्षों तक चलता रहा; इस बीच में उसमें बहुत बड़े उतार चढ़ाव आये। इसका वर्णन १२वें अध्याय में किया जायगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ११

मध्यकालीन राजनीतिक विचार की सामान्य पृष्ठभूमि

परिचयात्मक— यद्यपि लगभग सभी लोग राजनीतिक विचार के इतिहास को तीन कालों— प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक— में विभाजित करते हैं किन्तु प्राचीन काल कहाँ समाप्त होता है और मध्यकाल कहाँ आरम्भ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में सभी विचारकों का मत एक नहीं है। मैकलवेन सरीखे कुछ लेखक पूर्व-मध्यकाल तथा उत्तर-मध्यकाल में विभेद करते हैं और सन्त एम्ब्रोज़, सन्त ऑगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी सरीखे चर्च फ़ादर्स को पहिले भाग में स्थान देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे लेखकों के अनुसार मध्यकाल ईसाई चर्च की स्थापना से आरम्भ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य के स्वतन्त्र तथा पृथक् रहकर मनुष्य के आध्यात्मिक विषयों को अनुशासित करने वाले एक ईसाई चर्च की स्थापना एक अत्यन्त क्रान्तिकारी घटना थी और यह भी सत्य है कि ईसा के इस कथन ने कि "लौकिक विषयों में राज्य का तथा पारलौकिक विषयों में ईश्वर की इच्छा का पालन करो" राजनीतिक विचार में एक ऐसे तत्त्व का समावेश कर दिया जिससे कि प्राचीन काल सर्वथा अनभिज्ञ था; तथापि यह कहना उचित नहीं कि ईसाई धर्म का आविर्भाव प्राचीन काल के अन्त तथा मध्यकाल के आरम्भ का सूचक है। सन्त एम्ब्रोज़, सन्त ऑगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी महान् के राजनीतिक विचार राज्य तथा कानून सम्बन्धी रोमन धारणाओं से अधिक भिन्न नहीं थे; पूर्वगामियों की भांति उनके लिये भी रोमन साम्राज्य एक महान् राजनीतिक तथ्य था जिसके अधिकार क्षेत्र के अन्दर एक सार्वभौमिक कानून प्रचलित था। इसीलिये हमने उन्हें प्राचीन काल में रखना और उनके विचारों की गत अध्याय में विवेचना करना उचित समझा।

मध्यकाल का आरम्भ— मध्यकाल के आरम्भ होने की तिथि के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। सौभाग्यवश उसका निश्चय करना हमारे उद्देश्य के लिये आवश्यक भी नहीं है। केवल यही जानना काफी है कि वह घटना जो कि प्राचीन काल के अन्त और मध्यकाल के आदि की सूचना देती है वह है जर्मन तथा टय़ूटन जातियों की पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर विजय। इस विजय की प्रक्रिया समस्त ५वीं शताब्दी ई० में जारी रही, बल्कि छठी तक भी चली। इसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि मध्ययुग का अन्त कब हुआ। यह युग विभिन्न देशों में विभिन्न समय पर समाप्त हुआ। राजनीतिक विचार के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इसका अन्त मैकियावेली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४६६-१५२७) के साथ हुआ जिसे मध्यकाल का अन्तिम तथा आधुनिक काल का प्रथम राजनीतिक विचारक माना जाता है।

मध्यकाल की मुख्य विशेषतायें— इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल लगभग एक हज़ार वर्षों तक- छटी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी ई० तक- जारी रहा। इस लम्बे युग में सभ्यता की कोई ऐसी महान् प्रगति नहीं हुई जैसी कि उसके पहिले या उसके बाद के युगों में हुई; यह युग वास्तव में मौलिक चिंतन का नहीं, केवल पाचन (Assimilation) का था। उसके सामने महान् कार्य जर्मन बर्बर को (जो कि रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों पर अधिकार करके उनका शासक बन बैठा था) विवेक तथा सभ्यता के उस स्तर पर लाना था जहाँ से कि वह सभ्यता के उस मिशन को जारी रख सके जिसे कि प्राचीन काल ने विवश होकर छोड़ दिया था।

यह समझना कठिन नहीं है कि इन शताब्दियों में अधिक प्रगति क्यों नहीं हुई। प्राचीन काल में प्रगति रुक गई थी; सभ्यता को एक निश्चित स्तर पर लाकर प्राचीन काल के लोगों में उसे और आगे बढ़ाने का सामर्थ्य नहीं रह गया था। रोमनों के राजनीतिक उत्तराधिकारी जर्मनों में बाहुबल और ओज का तो प्राबल्य था किन्तु प्राचीन यूनानियों की बौद्धिक प्रखरता और प्राचीन रोमनों की क़ानूनी तथा प्रशासकीय योग्यता का उनमें अभाव था। वे बर्बर असभ्य तथा अशिक्षित थे; यूनानी-रोमन सभ्यता को समझने और उसका मूल्यांकन करने की उनमें योग्यता ही न थी। कहा जाता है कि एक जर्मन योद्धा एक कमरे के फर्श पर चित्रित तैरती हुई बत्तखों को देखकर आश्चर्यचकित रह गया और यह देखने के लिये कि वे जीवित थीं या नहीं अपने कुल्हाड़े को उस सुन्दर चित्रकारी पर दे मारा। बर्बरों ने अपनी विध्वंसप्रियता और अज्ञान के कारण रोम की विभूति के एक बड़े भाग को नष्ट कर दिया। बहुत कुछ जैसे कि रोमन कला, रोमन विद्या तथा यूनानी भाषा का रोमन ज्ञान इस कारण नष्ट हो गया क्योंकि उसका प्रयोग नहीं हुआ और उसे भुला दिया गया। यहाँ तक कि सड़क और पुल भी मरम्मत के अभाव में नष्ट भ्रष्ट हो गये जिसके फलस्वरूप वाणिज्य तथा व्यापार का ह्रास हो गया। नवीन सरकार क़ानून तथा व्यवस्था कायम न रख सकी; फलतः हिंसात्मक अपराधों की वृद्धि हो गई। छटी से लेकर नवीं तक तीन शताब्दियों में जर्मनों द्वारा शासित पश्चिमी यूरोप में स्थिति इतनी अनिश्चित और डाँवाडोल रही कि उसमें राजनीतिक अथवा दार्शनिक चिंतन कला अथवा साहित्य के क्षेत्र में कोई रचनात्मक क्रिया हो ही नहीं सकती थी। दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में और नये बर्बर आक्रमण हुए जिनके कारण देश में गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल गई। इस प्रकार कैरोलिंगियन्स (Carolingians) के शासन काल के एक छोटे से मध्यान्तर को छोड़ कर, ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय विचार ने कोई प्रगति नहीं की। इस अस्तव्यस्त समय में बौद्धिक जीवन केवल पहिले लेखकों के लेखों की पुनरावृत्ति करने तक सीमित था। डॉयल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों में "शिशुओं की भाँति नवीन राष्ट्र बौद्धिक वर्णमाला सीख रहे थे; और सपरिश्रम प्राचीन गुरुओं की कृतियों के समझने का प्रयास कर रहे थे।"* ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कहीं जाकर स्वतंत्र चिंतन का प्रयास हुआ। राज्याधिकारियों के द्वारा विशपगण को पदासीन करने के विषय पर उत्पन्न होने वाले पोप ग्रेगरी सप्तम तथा सम्राट हैनरी चतुर्थ के बीच के विवाद ने इस स्वतंत्र चिंतन के लिये अवसर प्रदान किया और उसे प्रस्फुरण दिया। आध्यात्मिक तथा लौकिक अधिकारियों के बीच में यह विवाद मध्य युग के अन्त तक चलता रहा और इस युग का लगभग समस्त राजनीतिक विचार इसी की उपज है। यह विवाद विभिन्न समय समय पर विभिन्न स्तरों पर चला और इसके बीच में ऐसी समस्यायें उत्पन्न हुईं जो उन समस्याओं से अत्यन्त भिन्न थीं जिनमें कि पहिले विचारकों का ध्यान उलझा रहा था। १३वीं शताब्दी से उन शक्तियों के आविर्भाव के लिये भूमि तय्यार होने लगी जिन्होंने कि १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक युग को जन्म दिया।

यद्यपि मध्य युग प्रगतिहीन था, तथापि वह सर्वथा निष्फल नहीं रहा; उसकी देन काफी है। उसने यूरोपीय सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और आधुनिक युग का शिलान्यास किया। प्राचीन इतिहास के कारनामों में जर्मन जातियों के विचारों तथा संस्थानों को जोड़ कर और पुराने जर्जरित समाज में नवीन जातियों की तरुण शक्ति तथा ओज का प्रसार करके उसने आधुनिक युग के आविर्भाव के लिये भूमि तय्यार की। कैथोलिक चर्च, सामन्तवाद, क़ानून, राजतंत्र तथा दान्ते का सार्वभौमिक साम्राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन संस्थायें थीं। १६वीं शताब्दी तक उनमें से बहुतों की उपयोगिता समाप्त हो गई थी। मेकियावेली तथा हॉब्स का विचार मुख्य रूप से उन्हीं पर प्रहार करता था। पश्चिमी सभ्यता के विकास में मध्य युग का क्या भाग है, इसका सुन्दर वर्णन प्रोफ़ेसर आडम्स ने इस प्रकार किया है: "मध्य युग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नहीं था, बल्कि विभिन्नजातीय (Heterogeneous) तथा प्रायः परस्पर विरोधी तत्त्वों में से, जो कि इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकताबद्ध तथा सजातीय (Homogeneous) संसार का निर्माण करना था, और इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिये आवश्यक स्थिति जुटाईं जो कि प्राचीन काल वालों के लिये सम्भव नहीं थीं।"† मध्य युग ने क्या प्राप्त

* "The young nations, like children, were learning their intellectual alphabet and were laboriously spelling out the works of former masters." Doyle: *A History of Political Thought*, page 67.

† "The work of the middle ages was not primarily progress; it was to form the organically united and homogeneous world out of the heterogeneous and often hostile elements which the ancient world supplied, and so to furnish the essential conditions for an advance beyond any point possible to the ancients."

—Adams: *Civilization during the Middle Ages*, page 14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया और आधुनिक काल उसका कहाँ तक ऋणी है, इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वे विभिन्न तत्त्व क्या थे जिन्हें लेकर मध्य काल ने आरम्भ किया और उन्हें किस प्रकार एक जगह विलीन करके एक नई इकाई का निर्माण किया। परन्तु राजनीतिक विचार के दृष्टिकोण से तफसील में जाना आवश्यक नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिये केवल उन मुख्य शक्तियों का वर्णन करना काफी होगा जिन्होंने कि उस युग के विचार की रूपरेखा निर्धारित की और राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिये स्थिति विशेष उत्पन्न की। उनमें से मुख्य ये हैं: पोपशाही का जन्म, सामन्तवाद का अभ्युदय तथा प्रसार, और साम्राज्यवादी विचार का पुनरुत्थान। इस युग के अन्तिम दिनों में हम एक नई भावना का जन्म होते हुए पाते हैं, वह भावना है राष्ट्रवाद। पोपशाही तथा राज्य के बीच संघर्ष में पोपशाही की पराजय में मुख्य हाथ राष्ट्रवाद का ही है। हम यहाँ पर इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

पोप की शक्ति का विकास— मध्य युग को भूतकाल से जो थाती उत्तराधिकार में मिली उसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं: (१) दर्शन, विज्ञान, कला तथा साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन यूनानियों की देन, (२) कानून तथा प्रशासन के क्षेत्र में रोमनों की देन, और (३) साम्राज्य तथा चर्च का संघटन तथा सिद्धान्त। इन तीनों में शायद सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग रोमन कैथोलिक चर्च का संघटन तथा सिद्धान्त है। याद रहे कि चर्च तथा वे समस्त वस्तुयें जिनके पीछे ईसाई धर्म की स्वीकृति थी, बर्बरों द्वारा किये गये विनाश से बच निकले। बर्बरों में धर्मग्रन्थों, चर्च फ़ादर्स के अधिकार, और चर्च की परम्पराओं के प्रति श्रद्धा थी। इसलिये ईसाई चर्च विजेता जातियों को अपने धर्म में परिणत कर सका और उन्हें सभ्य बना पाया। उस संकटपूर्ण काल में यदि चर्च सीधा और डट कर खड़ा न रहता तो पश्चिम में सभ्यता का सारा ढाँचा ही गिर गया होता। परन्तु यह न केवल जीवित रहा बल्कि इसकी शक्ति और भी बढ़ गई और मध्य युग के राजनीतिक विचार की रूपरेखा निर्धारित करने में यह सब से अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन गया। लोग इसे पवित्र कैथोलिक चर्च कहकर पुकारने लगे। यह सार्वभौमिक चर्च के उस आदर्श के बहुत निकट आ गया जिसका कि चित्र ऑगस्टाइन ने 'दी सिटी ऑफ गॉड' में अंकित किया था। इस महान् धार्मिक संघटन में समस्त पश्चिमी ईसाई संसार एक प्रधान की छत्रछाया में एकता के सूत्र में बंध गया। उसका प्रधान, पोप, ईश्वर का प्रतिनिधि था और मानव जाति के धार्मिक शासन में उसका प्रतिनिधित्व करता था। पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि ईसाई चर्च की स्थापना कब और किस प्रकार हुई और किस प्रकार पोपशाही का अभ्युदय अर्थात् रोम के बिशप को चर्च में औपचारिक रूप से प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। यहाँ हम यह देखेंगे कि पोप ग्रेगरी महान् के पदासीन होने (५९०-६०४) के पश्चात् पोप की शक्तियों में किस प्रकार वृद्धि हुई। पोप ग्रेगरी का शासन ईसाई चर्च के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि पोप इन्नोसेण्ट प्रथम (Innocent I) तथा पोप लियो प्रथम (Leo I) जैसे पादरियों के हाथ में जाकर पाँचवीं शताब्दी में पोप पद की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, तथापि राजनीतिक विषयों से इसका अभी तक कोई सम्बन्ध न था। परन्तु छटी शताब्दी के अन्त में स्थिति में परिवर्त्तन हुआ जबकि पोप ग्रेगरी को बर्बर आक्रमणों, विशेषकर लोम्बार्ड्स (Lombards) के विरुद्ध जिन्होंने नगर को घेर लिया था और उसे अपने अधीन बनाना चाहते थे, नगर की रक्षा का भार संभालना पड़ा। पोप ग्रेगरी ने लोम्बार्ड्स से सन्धि करली और उन्होंने नगर का घेरा उठा लिया और वापिस लौट गये। तब से पोपों को राजनैतिक मामलों में ध्यान देना पड़ा; आरम्भ में रोम के मामलों में तथा बाद में इटली के।

कुछ समय के पश्चात् लोम्बार्ड्स ने फिर चढ़ाई की। पोप ने नगर की रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाकर विवश होकर फ्रांकिश राजा चार्लस मार्टेल से सहायता माँगी। उसने तथा उसके पुत्र पिपिन ने पोप की प्रार्थना को स्वीकार किया और लोम्बार्ड्स को खदेड़ दिया। जो प्रदेश उन्होंने लोम्बार्ड्स से वापिस छीने और जिन पर पहिले इटली के पूर्वी सम्राट् का आधिपत्य था, वे उन्होंने पोप को प्रदान कर दिये। ऐसा करने से पोपशाही के हाथों में सैद्धांतिक रूप से भी वह राजनीतिक शक्ति आ गई जो वास्तविक व्यवहार में पहिले से ही उसके पास थी। पोप तथा फ्रांक्स (Franks) में इस प्रकार हुए गठबंधन ने आने वाले घटनाप्रवाह पर बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव डाला। एक ओर तो इसने पोपशाही तथा इटली को लोम्बार्ड्स द्वारा परास्त होने से बचाया और दूसरी ओर इसने फ्रांस (Frankish) साम्राज्य की स्थापना तथा कुछ समय के लिए समस्त ईसाई जगत के एकीकरण के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

पीपिन का पुत्र शार्लीमैगने यूरोप का सब से शक्तिशाली शासक बन गया था; उसके अधिकार क्षेत्र में उस प्रदेश का अधिकतम भाग था जो कि आजकल फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड तथा डैन्मार्क, स्विट्ज़रलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, ऑस्ट्रिया, जैकोस्लोवेकिया तथा उत्तरी इटली का एक अंग है। पोप लियो तृतीय तथा उसके राजनीतिक विरोधियों के मध्य विवाद का निपटारा करने के लिये शार्लीमैगने से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की गई। उस विवाद के सफल निर्णय के उपलक्ष में एक भव्य धार्मिक उत्सव का आयोजन किया गया जिसमें कि पोप ने शार्लीमैगने के सिर को मुकुट से विभूषित कर दिया, जब कि वह पोप के सामने नतमस्तक हो रहा था, और उसे रोमनों का सम्राट् घोषित कर दिया। इस घटना का बहुत बड़ा महत्त्व है। प्रथम, यह इस बात की सूचक है कि राज्य को वह सार्वभौमिकता फिर से प्राप्त हो गई जो कि बर्बरों के आक्रमणों से खण्डित हो गई थी। साम्राज्य की पुनर्स्थापना का भावी घटनाचक्र के ऊपर बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। दूसरे, यह कि लौकिक विषयों में पोप के हस्तक्षेप का यह प्रारम्भ बिन्दु बन गया। पोपशाही जो कि आरंभ में एक विशुद्ध आध्यात्मिक संस्था थी अधिकाधिक राजनीति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खींची जाने लगी। तीसरी बात यह कि शार्लीमैगने तथा अन्य दर्शकों की दृष्टि में उस कार्य अर्थात् पोप द्वारा उसे मुकुट पहिनाने का वास्तविक महत्व चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो; किन्तु आगे चल कर पोपशाही के समर्थकों ने इसका अर्थ यह निकाला कि राजाओं को लौकिक शक्ति प्रदान करने का अधिकार आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् चर्च को है। इसे इस बात के कि राजा अपना अधिकार पोप से प्राप्त करता है, एक प्रमाण के रूप में पेश किया गया।

इन सब बातों के फलस्वरूप पोपशाही का राजनीतिक महत्त्व बढ़ा। इसका एक अत्यन्त गम्भीर परिणाम निकाला। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति पोपों के चुनाव में दिलचस्पी लेने लगे और पोप पद के लिये होने वाले संघर्ष बहुत तीव्र तथा कटु बन गये जिनमें काफी दंगे और रक्तपात तक हो जाते थे। प्रायः पोप किसी सिद्धान्तहीन सामन्त के हाथ की कठपुतली बन जाता था। "टस्कुलम के सरदारों ने पोपशाही को अपने वंश का एक मौरूसी पद सा ही बना लिया था, और यह अत्यन्त भ्रष्ट साधनों द्वारा हुआ।"* फलतः दसवीं शताब्दी में पोपों का व्यक्तिगत चरित्र बहुत नीचे गिर गया और पोपशाही के अधिकार पर इसकी अनिवार्य और स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई। ऐसी स्थिति अधिक दिन तक कायम नहीं रह सकती थी, चर्च के सुधार का एक आन्दोलन शुरु हुआ। पोप को चुनने का अधिकार जो अब तक पादरियों और रोम के निवासियों को था, अब कार्डिनलों (Cardinals) के एक मण्डल को दे दिया गया। प्रारंभ में इसमें रोम के तथा उसके आस पास के पादरीगण सम्मिलित होते थे; किन्तु आगे चलकर अधिक विस्तृत क्षेत्र के पादरी उसमें शामिल होने लगे। केवल एक यही सुधार नहीं किया गया; निम्नलिखित दो अन्य दोषों— पादरियों का विवाह करना तथा धार्मिक पदों को धन द्वारा खरीदना — को भी दूर करने का प्रयास किया गया। यद्यपि यह सुधार आंदोलन ९१० में क्लूनी के मठ की स्थापना से आरम्भ हुआ किन्तु सुधार तब तक नहीं किये जा सके जब तक कि हिल्डेब्रैण्ड (Hildebrand) पोप ग्रेगरी सप्तम के रूप में पदासीन नहीं हो गया। जो नीति हिल्डेब्रैण्ड ने अपनाई वह मध्यकालीन विचार के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी मुख्य तान थी 'जस्टीशिया' (Justicia)। जस्टीशिया का अर्थ है (१) चर्च के ऊपर पोप का प्रभुत्व, (२) पादरियों को विवाह के सामाजिक बन्धन, पदों को खरीदने के आर्थिक बन्धन तथा राजनीतिक अधिकारियों द्वारा पद प्रदान (Lay Investiture) के सामन्तवादी बन्धन से मुक्ति प्रदान करना। इसी नीति, विशेषकर पादरियों को सामन्ती सरदारों की अधीनता से मुक्त करने की नीति, क्रियान्वित करने का जब उसने प्रयत्न किया तो उससे पोपशाही

* "The Counts of Tusculum had almost made the papacy hereditary in their family, and by the most corrupt means."

—Adams : *op. ct.*, page 235-6.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा साम्राज्य के मध्य प्रसिद्ध विवाद उठ खड़ा हुआ। जस्टीशिया की नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने का अर्थ था चर्च को राज्याधिकारियों की अधीनता से मुक्त करना जो कि शार्लीमैगने, ओटो प्रथम तथा जर्मनी के राजा हैनरी तृतीय सरीखे शक्तिशाली शासकों के युग में एक स्पष्ट सत्य था। परन्तु चर्च को राज्य से पृथक् करने का अर्थ यह नहीं था कि राज्य को चर्च की अधीनता से मुक्त कर दिया जाये। पोप के सर्वप्रभुत्व अधिकार की धारणा में यह बात सन्निहित थी कि वह राजाओं और सम्राटों के कार्यों का निर्णय कर सकता है तथा उन्हें सुधार सकता है यदि वे चर्च के कानून को भंग करें। "सर्वप्रभुत्वपूर्ण पोप लौकिक शक्ति अर्थात् राजा को आध्यात्मिक विषयों से अलग रख सकता था: सर्वप्रभुत्वपूर्ण होने के नाते वह आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक विषयों से अलग नहीं रख सकता था।"* हिल्डेब्रैण्ड की नीति का अन्तिम परिणाम था राज्य का चर्च के अधीन हो जाना। चर्च के भीतर पोप की प्रभुता इसमें निहित ही थी।

पोप की प्रभुता के सिद्धान्त का ग्रेगरी महान् ने केवल पूर्वाभास दिया है, उसका पूर्ण विवरण उसने नहीं दिया। उसका पूर्ण वर्णन हमें पोप इन्नोसेण्ट तृतीय, पोप बॉनीफेस अष्टम और पोप जॉन २२वें के लेखों तथा एजिडियस कोलोना (Egidius Colona) के ग्रन्थ डी ऐक्लैज़ियास्टिका पोटेस्टेट (De Ecclesiastica Potestate) में मिलता है। कालान्तर में पोपों तथा लेखकों ने पोप के अधिकार की धारणा को अधिक सुनिश्चित रूप दिया। ग्रेगरी सप्तम ने चर्च के एक अनिश्चित आध्यात्मिक अधिकार तथा एक नैतिक अनुशासन लागू करने के अधिकार का प्रतिपादन किया किन्तु बॉनीफेस सरीखे व्यक्तियों ने चर्च के कानूनी अधिकारों और शक्तियों के एक नियमित सिद्धान्त को सामने रक्खा। मध्य युग में पोपशाही ने क्या कार्य किया और उसके तथा राज्य के मध्य होने वाले विवाद का क्या महत्त्व है, इसे अच्छी प्रकार समझने के लिये स्पष्ट रूप से यह जानना आवश्यक है कि पोपों ने कौन कौन सी शक्तियों के ऊपर अपना दावा जताया और इन्नोसेण्ट तृतीय सरीखे शक्तिशाली पोपों ने किन शक्तियों का प्रयोग किया और उनका क्या आधार था।

मध्य युग का आरंभ होने से पहिले ही चर्च ने एक जटिल ढाँचे और संगठन को जन्म दिया था जिसका आधार रोमन साम्राज्य का नमूना था। यद्यपि पारिभाषिक रूप से यह एक राज्य नहीं, किन्तु यह राज्य के सदृश अवश्य था जिसका नेता राजा के से कार्य करता था। इसमें एक बड़ी हद तक केन्द्रीयकरण हो गया और ग्रेगरी सप्तम तथा उसके योग्य उत्तराधिकारियों ने १२वीं तथा १३वीं शताब्दी में उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया। पोप इस बात का दावा करते थे कि उन्हें राज्य से परामर्श

* "The sovereign pope might exclude the temporal power from things spiritual: he could not, being sovereign, exclude the spiritual power from things temporal." Barker in Hearnshaw : *Ibid*, page 13.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये बिना ही बिशपगण को नियुक्त तथा पदच्युत करने तथा उन्हें एक चर्च से दूसरे चर्च में स्थानान्तर करने तथा अपने प्रतिनिधियों को पूर्ण शक्ति देकर स्थानीय प्रशासन के दोषों को दूर करने के लिये भेजने का अधिकार है। ये दावे चर्च और साम्राज्य में चल रहे संघर्ष में चर्च का पक्ष सबल करने के लिये किये गये थे किन्तु इन्होने स्वयं चर्च के भीतर पोप के हाथ मज़बूत बनाने में योग दिया। आगे चलकर इन समस्त दावों को गूंथ कर पोप के प्लेनीट्यूडो पोटेस्टेटिस (Plenitudo Potestatis) के सिद्धान्त का आविर्भाव किया गया। इस सिद्धान्त का सब से पहिले प्रतिपादन पोप इन्नोसेण्ट चतुर्थ तथा एजिडियस कोलोना, जिसे एजिडियस रोमेनस भी कहते हैं, ने किया था। यदि कोई शब्द प्लेनीट्यूडो पोटेस्टेटिस के भाव को सब से अधिक व्यक्त करता है तो वह है राजसत्ता अथवा प्रभुता। पोप की इस शक्ति में कई बातें निहित हैं। सर्वप्रथम, इसका अर्थ यह है कि चर्च की मौलिक शासक शक्ति का स्वामी पोप था और अन्य समस्त अधिकारी अपनी शक्ति उसी से प्राप्त करते थे, इसलिये वे उसके नियन्त्रण और अनुशासन के अधीन थे। सर्वोच्च शक्ति का स्वामी होने के नाते वह यह दावा करता था कि चर्च के किसी भी सदस्य को पदच्युत तथा स्थानान्तरित करने का उसे अधिकार है। दूसरी बात जो इस सिद्धान्त में निहित थी वह यह है कि पोप को समस्त मानवकृत कानूनों तथा प्रशासकीय प्रत्यादेशों को बनाने तथा रद्द करने का अधिकार है। मानवकृत कानून की परिभाषा यह की गई कि वह पोप की इच्छा की अभिव्यक्ति है। मानवकृत कानून (जो धार्मिक कानून से भिन्न है जिसका कि आधार धर्मग्रन्थ और चर्च की परम्परा है) के बनाने में पोप गत पोपों तथा परिषदों के निर्णयों से बाधित नहीं होता था। इस सिद्धान्त में तीसरी बात यह निहित थी कि किसी सांसारिक शक्ति को पोप का निर्णय करने तथा उसके आदेशों की अवहेलना करने का अधिकार नहीं है। ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते उसका निर्णय अन्तिम है; इसे स्वयं ईश्वर का ही निर्णय समझा जाता था, इसलिए इसके विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। सारांश यह कि पोप चर्च के भीतर सर्वोपरि अर्थात् सर्वप्रभुत्वपूर्ण होने का दावा करता था। पोपों को केवल चर्च में आन्तरिक सर्वोच्च शक्ति प्राप्त करने से ही सन्तोष नहीं हुआ; उन्होंने राज्य के अधिकारियों के ऊपर भी नियन्त्रण तथा देखभाल रखने का दावा किया। उदाहरण के लिये पोप इन्नोसेण्ट तृतीय यह निर्णय करने का दावा करता था कि निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित सम्राट् योग्य व्यक्ति भी हैं या नहीं और सम्राट् के विवादित तथा अनियमित चुनावों को रद्द करने के अधिकार रखने का भी वह दावा करता था। वह शासकों के मध्य संधियों तथा समझौतों को पुष्ट करने तथा उनका निर्णय करने, और युद्ध तथा शान्ति का एक अभिभावक होने, विधवाओं तथा अवयस्कों का एक विशेष अभिभावक होने, धर्म-विमुखता का दमन करने और शासकों को नैतिक अनुशासन में रखने के अधिकार का भी दावा करता था। इच्छानुसार राजकीय न्यायालयों से मुकदमे अपने पास मंगवाकर न्याय प्रशासन का अभिवेक्षण करने के अधिकार का भी वह दावा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता था। सारांश यह कि सैबाइन के शब्दों में पोप 'धार्मिक अथवा लौकिक, सभी प्रकार की शक्तियों के ऊपर पुनर्विचार तथा अभिवेक्षण की शक्ति' का दावा करता था।

इन दावों का आधार मध्य युग में पाया जाने वाला यह विश्वव्यापक विश्वास था कि चर्च एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना स्वयं ईश्वर ने मनुष्य के आत्मिक मोक्ष के लिये की है और पोप ईसा का प्रतिनिधि है। इस बात से कि पीटर को स्वर्ग की कुंजियाँ सौंपी गई थीं और इस लोक तथा स्वर्ग में प्राणियों को बन्धनग्रस्त करने तथा बन्धनमुक्त करने का, लोगों को संगठित करने का कार्य उसे सौंपा गया था, यह परिणाम बड़ी सरलता से निकाल लिया गया कि पोप को जनता के ऊपर अपरिमित अधिकार प्राप्त है और जनता को उसकी आज्ञा-पालन का कर्त्तव्य अशर्त्त है। यह माना जाता था कि पोप तो सब के गुण-दोषों की परीक्षा कर सकता है; किन्तु उसके गुण-दोषों को कोई नहीं परख सकता। सहज विश्वासी ईसाइयों ने इन दावों को एकदम बिना किसी चूंचराँ के स्वीकार कर लिया क्योंकि उनका विश्वास था कि चर्च के आशीर्वाद और अनुकम्पा के बिना कोई स्वर्ग में नहीं जा सकता और नर्क की घोर यातनाओं से नहीं बच सकता। अब यह समझ लेना कठिन नहीं कि पोप को किस प्रकार अकाट्य शक्ति प्राप्त हो गई और वह किस प्रकार चर्च के भीतर सर्वोच्च अधिकारी बन गया।

यह बात भी याद रखने योग्य है कि कैनोनिस्ट्स (Canonists) (वे व्यक्ति जो कि धार्मिक मामलों में धार्मिक कानूनों की व्याख्या करते थे तथा उसे लागू करते थे) ने भी पोप के हाथ में समस्त शक्ति के केन्द्रीभूत हो जाने की प्रवृत्ति को सम्बल पहुँचाया। जब १२वीं शताब्दी में उन्होंने केवल कानून को संगृहीत करने का कार्य आरम्भ किया तो पोप की सर्वशक्तिमत्ता के सिद्धान्त के लिये सामग्री उन्हें उपलब्ध थी।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त अन्य कई कारण भी ऐसे हैं जिन्होंने मध्य युग में चर्च के एक सर्वप्रधान संस्था बनने तथा चर्च के भीतर पोप की निरंकुश राजशाही के सिद्धान्त के विकास में योग दिया। रोमन साम्राज्य के अधःपतन के बाद रोम के सब से अधिक प्रतिभाशाली तथा मेधावी व्यक्ति चर्च की नौकरी में आये क्योंकि चर्च ही उस ज़माने में व्यक्तिगत उत्थान के अधिकतम अवसर प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा और विद्या के ऊपर चर्च का एकाधिकार था; इसलिये शक्ति का उसके हाथों में केन्द्रित हो जाना स्वाभाविक ही था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि मानव हृदय के ऊपर चर्च का राज होने के कारण ही प्राचीन काल के वे राजनीतिक विचार चलते रहे जिन्हें कि ईसाई धर्म ने स्वीकृति प्रदान कर दी थी, जैसे कि प्राकृतिक कानून को सही मानना तथा शासकों का उससे बाधित होना, शासकों का न्यायपूर्वक शासन करने का कर्त्तव्य तथा वैधानिक शास्त्र का सम्मान।

ट्यूटनों के राजनीतिक विचार— पोपशाही के अतिरिक्त सामन्तवाद (Feudalism) दूसरी शक्ति थी जिसने कि मध्य युग की राजनीति तथा विचार की रूप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखा को निर्धारित किया। ट्यूटन जाति अपने साथ जो कुछ लाई और रोमनों से उसे जो कुछ उत्तराधिकार में मिला उन दोनों की एक दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम सामन्तवाद था। इसलिये ट्यूटनों के राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ देना बहुत आवश्यक है।

प्रोफेसर आडम्स का विचार है कि जर्मन जातियाँ अपने साथ न केवल एक नवीन स्फूर्ति तथा तारुण्यपूर्ण दृष्टिकोण लाईं बल्कि कुछ नवीन विचार और संस्थायें भी उनके साथ आईं जिनका प्राचीन विचारों और संस्थाओं के साथ सम्मिश्रण होकर एक नवीन सभ्यता का जन्म हुआ। प्राचीन यूनानी और रोम की सभ्यतायें व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व पर आधारित नहीं थीं; यूनानियों और रोमनों के लिये राज्य सब कुछ था और उसकी तुलना में व्यक्ति कुछ नहीं था। वे राज्य को एक साध्य समझते थे, साधन नहीं। ट्यूटनों की भावना इसके बिल्कुल विपरीत थी। आडम्स के शब्दों में 'उनके हृदय में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य की तुलना में व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व का बहुत बड़ा सम्मान था।' 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की यह अनुभूति एक योद्धा की व्यक्तिगत अभिमान भावना' तथा उनके दण्ड-न्याय (Criminal justice) सम्बन्धी विचारों में प्रतिबिम्बित है। इसका आधार वह सिद्धांत नहीं जिस पर कि हमारा अपना दण्ड विधान आधारित है, अर्थात् यह कि अपराधी को दण्ड देना कर्तव्य राज्य का है; उसका आधार यह मान्यता थी कि जिस व्यक्ति के साथ कोई अपराध किया गया है उसे स्वयं ही अपराधी को दण्ड देना चाहिये, यह विचार उस समय भी प्रचलित रहा, जब अपराधी को दण्ड देना राज्य का धर्म माना गया क्योंकि पीड़ित को पीड़क के ऊपर किये गये जुर्माने का एक भाग मिलता था।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति के मूल्य के ऊपर ईसाई धर्म ने अपने आरम्भ काल में ही बल दिया था; इसकी उन्हें बहुत ही तीव्र अनुभूति थी। यह आशा करना उचित ही था कि ये दोनों धारायें एक जगह मिल जायेंगी और एक दूसरे को सम्बल पहुँचायेंगी तथा एक नवीन सभ्यता का सूत्रपात करेंगी। परन्तु आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति के परम महत्त्व तथा मूल्य का यह सिद्धांत शीघ्र ही लुप्त हो गया और मध्य युग में व्यक्ति गिल्ड (Guild), कम्यून (Commune), कॉरपोरेशन (Corporation) तथा जिस भी संघटन का वह सदस्य था, उसी में पूर्ण रूप से विलीन हो गया। हाँ, सामन्तवाद के राजनीतिक संगठन में वह अवश्य जीवित रहा। 'पुनरुत्थान' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के दो महान् आन्दोलनों में, जिन्होंने कि मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया, व्यक्ति की महत्ता का यह विचार पुनर्जीवित हो उठा।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना के अतिरिक्त ट्यूटोनिक लोगों ने प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रवेश किया और स्थानीय स्वायत्त शासन की भावना का संचार किया; इनका मध्यकालीन तथा भावी राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके आदिकालीन और कबीले के ढंग के संघटन की रोमन साम्राज्य की अत्यन्त केन्द्रीभूत तथा निरंकुश सरकार से ताल नहीं बैठ सकती थी। रोम के ऊपर बर्बर जातियों के प्रभाव का सब से पहिला परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके स्थान में ऐसे बहुत से राज्य स्थापित हो गये जो सुव्यवस्थित न थे और जिनका संघटन राष्ट्रीय नहीं बल्कि कबीले जैसा था। विजेतागण अपने साथ जो स्थानीय संस्थायें लाये उन्होंने और नवीन सामन्तवाद के अभ्युदय ने इन नये राज्यों में पूर्ण अराजकता फैलने से रोकी। प्रारम्भिक ट्यूटोनिक संस्थाओं में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं।

(१) सर्वप्रथम है राष्ट्रीय सभा (National Assembly) जिस में कबीले के समस्त स्वतन्त्र व्यक्ति सम्मिलित थे। इसका मुख्य कार्य आवश्यकतानुसार कबीले के सरदार को चुनना, अपने पास भेजे हुए महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्णय करना और कभी कभी एक न्यायालय के रूप में कार्य करना था। राजतन्त्रों के स्थापित होने से इस प्रकार की सभा लुप्त हो गई। राष्ट्रीय सभा के अतिरिक्त ट्यूटन लोग सैंकड़ों की संख्या में स्थानीय प्रतिनिधि सभायें अथवा कैन्टन रखते थे जो कि स्थानीय महत्त्व के विषयों का निर्णय करती थीं तथा न्यायालयों के रूप में कार्य करती थीं। यूरोपीय महाद्वीप में ये मध्य युग के अन्त तक जीवित रहीं जब कि पुनरोदित रोमन क़ानून के ऊपर आधारित एक नवीन न्याय प्रणाली ने उन्हें समाप्त कर दिया। उन्होंने इङ्गलैंड में लोक सभा (House of Commons) के उदय तथा ज़िला (Borough) और ग्राम (County) परिषद् सरीखी स्थानीय संस्थाओं की स्थापना के लिये आधार प्रदान किया। हम यह भी कह सकते हैं कि ट्यूटनों की इन स्थानीय सभाओं में स्वतंत्र आधुनिक धारासभाओं के तत्त्व वर्तमान थे।

(२) निर्वाचित राजतन्त्र दूसरी उल्लेखनीय ट्यूटोनिक संस्था है। जब भी आवश्यकता होती थी जनप्रिय अथवा राष्ट्रीय सभा कबीले के सरदार को निर्वाचित करती थी। आगे चल कर वंशानुगत उत्तराधिकार की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और उसने निर्वाचन सिद्धांत को आच्छादित कर लिया। परन्तु निर्वाचन सिद्धांत का पूर्ण लोप नहीं हुआ। निर्वाचन पद्धति बनी रही। कहीं कहीं यह वास्तविक थी और कहीं कहीं इसका रूप औपचारिक मात्र था। जर्मनी में निर्वाचन सिद्धान्त शताब्दियों तक बना रहा; इंगलैण्ड में राजतंत्र वंशानुगत बन गया किन्तु इस हद तक निर्वाचन सिद्धान्त बना रहा कि संसद उत्तराधिकार के विवादग्रस्त होने की स्थिति में उत्तराधिकार को चुनने तथा एक ऐसे राजा को जिसने कि जनता का विश्वास खो दिया हो सिंहासन से उतारने और उसकी जगह दूसरे को पदासीन करने के अधिकार रखने का दावा करती थी। इस प्रसंग में समझने की बात यह है कि मध्य काल में उत्तराधिकार केवल 'ज्येष्ठपुत्राधिकार' (Primogeniture) के सिद्धान्त के अनुसार ही निश्चित नहीं होता था; जनता द्वारा निर्वाचन का सिद्धान्त भी साथ साथ चलता था। न केवल यह बल्कि एक तीसरा सिद्धान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें यह जोड़ दिया गया था कि राजा ईश्वर की अनुकम्पा से शासन करता है। मध्य युग में प्रचलित विचारों के अनुसार राजा को सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था, अपने पद के लिये वह सार्वजनिक निर्वाचन पर निर्भर करता था और वह शासन परमात्मा की अनुकम्पा से करता था। शक्ति पाने के ये तीन अधिकार एक दूसरे का विकल्प नहीं थे बल्कि एक ही तथ्य के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त करते थे। वंशानुगत आधार पर सिंहासन प्राप्त कर लेना पूर्णरूप से विहित तब तक नहीं समझा जाता था जब तक कि समस्त जनता उसे पुष्ट न करे और परमात्मा की अनुकम्पा उसे प्राप्त न हो। ईश्वर कृपा द्वारा शासन करने की उपसिद्धि यह थी कि राजा कानून के अधीन था।

यद्यपि निर्वाचन सिद्धान्त को फ्रांस में बिल्कुल भुला दिया गया और इंगलैण्ड में इसका नाममात्र शेष रहा, समस्त मध्य युग में पोपों के चयन तथा जब तक पवित्र रोमन साम्राज्य कायम रहा तब तक सम्राटों के चयन में इसका प्रयोग होता रहा। कहा जा सकता है कि एक हद तक इसी सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मान लेने के कारण इङ्गलैण्ड के राजा एक जनतंत्रीय राज्य के प्रधान के रूप में कार्य कर सके हैं।

(३) स्वविकसित कानून की प्रणाली वह तीसरा जनतंत्री तत्त्व है जो कि ट्यूटन लोग अपने साथ लाये। कई बातों में कानून सम्बन्धी ट्यूटोनिक धारणा रोमन धारणा से भिन्न थी। सम्राट की आज्ञानुसार रोमन न्यायविदों ने रोमन कानून को नियमबद्ध और संहिताबद्ध कर डाला था; यह माना जाता था कि वह समस्त सम्भव मामलों पर लागू होता है। इसमें विकास के तत्त्व नहीं थे। इसके अतिरिक्त इसके निर्माण में जनता का कोई हाथ न था; कानून निर्माण की समस्त शक्ति सम्राट् में केन्द्रित थी। अन्तिम बात यह कि इसका स्वरूप क्षेत्रीय था; यह साम्राज्य में रहने वाली समस्त जातियों के ऊपर लागू होता था। इसके विपरीत जर्मन जाति कानून को एक कबीले विशेष की चीज़ समझती थी; उसके विचार में कानून एक कबीले का एकता सूत्र था और जहाँ जहाँ कबीले जाते थे अपने अपने कानून को साथ ले जाते थे। जब ये कबीले रोमन साम्राज्य में आये और ये रोमन कानून के अधीनस्थ लोगों के साथ रहने लगे तो इन्होंने अपने कानून और उन्हीं के अनुसार शासित होने के अधिकार को कायम रक्खा। दूसरे शब्दों में जर्मन धारणा के अनुसार कानून एक कबीले के प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति था जिससे वह किसी प्रदेश विशेष में रहने के कारण ही वंचित नहीं किया जा सकता था। यह कानून रस्मो रिवाज पर आधारित था। यह लिखित अथवा संहिताबद्ध नहीं था। कानून का पता लगाना, उसकी परिभाषा करना और उसकी उद्घोषणा करना न्यायालयों का कार्य था। क्योंकि न्यायालय स्थानीय सार्वजनिक सभायें ही होती थीं, इसलिये स्वयं जनता ही कानून का निर्माण और उद्घोषणा करती थी; किसी बाह्य शक्ति द्वारा वह जनता पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं थोपा जाता था। इसमें विकास का गुण भी था। इस प्रकार जनता द्वारा कानून बनाने, उसकी व्याख्या करने तथा उसे लागू करने की रीति में कोई सुनिश्चितता नहीं थी। परन्तु यह तब तक चलती रही जब तक कि यूरोपीय महाद्वीप में न्यायालयों का नियंत्रण जनता के हाथ से निकल कर ऐसे व्यक्तियों के हाथों में नहीं आ गया जोकि रोमन कानून के सिद्धान्तों में पारंगत थे। और उसे एक आदर्श समझते थे। और कानून निर्माण की शक्ति राजसत्ताधिकारी के हाथों में केन्द्रित नहीं हो गई। किन्तु इंग्लैण्ड में सामान्य कानून (Common Law) का विकास न्यायालयों द्वारा होता रहा जिन्होंने सरकार के व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक अंगों से अपनी स्वतन्त्रता बनाये रक्खी।

प्रतिनिधि स्थानीय सभायें, निर्वाचित राजतन्त्र तथा एक सामान्य कानून की प्रणाली, ये तीन जनतंत्रीय संस्थायें थीं जो कि जर्मनों ने संसार को दीं और जिन्होंने यूरोप में स्वतंत्र सांविधानिक सरकार के भावी विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। ये विचार कि कानून जनता का है और केवल उसी की इच्छा से इसे लागू किया जा सकता है और बदला जा सकता है और यह कि राजा कानून के अधीन है और उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिये लगभग विश्वव्यापक थे। परन्तु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं होगा कि ट्यूटनों ने आधुनिक संसदों के सदृश प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास किया था जिनके द्वारा स्वतन्त्र मनुष्य कानून बनाने में भाग लेते थे और राजा को न्यायपूर्वक तथा कानून के अनुसार शासन करने के लिये विवश करते थे। संविधानवाद को प्रभावक बनाने वाले यन्त्र का जन्म १३वीं शताब्दी से पहिले नहीं हो पाया। ट्यूटन लोगों ने तो केवल इस विचार की सृष्टि की कि 'जनता एक सामूहिक निकाय है जो अपने सामूहिक मनस् की अभिव्यंजना अपने न्याय रक्षकों तथा स्वाभाविक नेताओं द्वारा करती है।'*

सामन्तवाद (Feudalism)— आदि ट्यूटनों के, जो साम्राज्य के पश्चिमी भाग में रोमनों के स्थान में स्वयं शासक बन गये थे, राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि पुरानी तथा नवीन व्यवस्था में बड़ी असंगतता थी, अर्थात् वे साथ साथ नहीं चल सकती थीं। एक दूसरे से ताल बैठाने के लिये उनमें काफी हेर फेर करना पड़ा। एक ओर तो नये शासकों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनने के लिये पुराने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संघटनों में परिवर्त्तन और परिशोधन किया गया; दूसरी ओर नवीन वातावरण के अनुकूल बनने के लिये नवीन शासकों के विचारों और संस्थाओं में भी संशोधन हुआ। प्राचीन रोमन व्यवस्था तथा नवीन ट्यूटोनिक संस्थाओं में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हुआ सामन्तवाद का जन्म। यह सब से अधिक प्रभावशाली मध्यकालीन संस्थान तथा कानूनी सिद्धान्तों और सामाजिक विचारों का स्रोत था जिसने समस्त मध्य काल में जनता के जीवन और विचारों की

* "The People was a corporate body which expresses its corporate mind through its magistrates and natural leaders."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपरेखा निर्धारित की। जैसा कि सैबाइन ने कहा है, "सामन्तवादी संस्थान मध्य युग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाये हुये थे जितने कि नगर राज्य प्राचीन काल पर।" सामन्तवाद Generic शब्द है। इसका प्रयोग भिन्न भिन्न स्थितियों में हुआ है। यह केवल उस सामाजिक व्यवस्था पर ही लागू नहीं होता जोकि मध्य काल में पश्चिमी यूरोप में उत्पन्न हुई थी, बल्कि यह उन संस्थाओं पर भी लागू होता है जो जापान, कई इस्लामी राज्यों तथा हमारे देश में भी उत्पन्न हुईं। हम कभी कभी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के नवाबों और जागीरदारों को सामन्त सरदार कहकर पुकारते हैं। कुछ बातों में पश्चिमी यूरोप के संस्थानों तथा हमारे और अन्य देशों के संस्थानों में साम्य है किन्तु दोनों में बहुत बडे और आधारभूत अन्तर भी हैं। उनमें जाना हमारे लिये आवश्यक नहीं। यहाँ पर हम केवल उस सामाजिक संघटन का उल्लेख करेंगे जोकि मध्य युग में पश्चिमी यूरोप में विकसित हुआ। सामन्तवाद की कुछ विशिष्ट व्यवस्थायें, जैसे कि भृत्य प्रथा (Serfdom) पाँचवी शताब्दी में भी पाई जाती थीं, परन्तु ११वीं और १२वीं शताब्दी में जाकर इस प्रणाली का पूर्ण रूप सामने आया। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सामन्तवाद के विभिन्न संस्थानों का विकास कुछ देशों में तीव्र हो गया और कुछ में रुद्ध हो गया। फलतः सामन्तवाद ने पश्चिमी यूरोप के समस्त देशों में एक ही रूप धारण नहीं किया।

सामन्तवाद के सामान्य स्वरूप के बारे में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। मूलतः यह एक संक्रामक स्थिति है। यह उस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का नाम है जिसका जन्म उस समय हुआ जबकि शार्लीमैगने द्वारा स्थापित साम्राज्य का ह्रास तो हो चुका था परन्तु राष्ट्रराज्य का आविर्भाव नहीं हुआ था। विभिन्न राज्यों में शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना के साथ ही इसका अन्त हो गया। इसका अन्त इंग्लैण्ड में फ्रांस से पहिले और फ्रांस में जर्मनी से पहिले हुआ। ब्रिटिश राजा फ्रांस और जर्मनी के राजाओं की अपेक्षा अधिक सरलता से सामन्त सरदारों की शक्ति को कुचल सके और एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर सके। ऐसा करने में देश की कुछ परिस्थितियों ने उनकी सहायता की।

सामन्तवाद के दो प्रकार अथवा रूप हैं, एक राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। अपने परिपक्व रूप में ये दोनों एक जगह संगठित हो गये; परन्तु उनका सदा एकीकृत रहना आवश्यक नहीं है; एक के बिना दूसरा कायम रह सकता है और उसके पहिले आ सकता है। राजनीतिक सामन्तवाद का अर्थ है शासन शक्ति का विकेन्द्रित होना। इसके अन्तर्गत ऐसे महत्वपूर्ण कार्य जैसे कि सुरक्षा प्रदान करना, विवादों का निर्णय करना तथा सशस्त्र सेनायें रखना राजा नहीं बल्कि उसके सामन्त सरदार करते हैं। यह एक ऐसा शिखरोन्मुखी संघटन (Hierarchy) होता है जिसमें व्यक्ति अपने से तुरन्त ऊपर वाले स्वामियों के अधीन होते हैं जो अपने से उच्चतर स्वामियों के अधीन होते हैं। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है और अन्त में उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसके प्रति उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। राजा प्रत्यक्ष रूप से प्रजाजन तथा छोटे सरदारों से व्यवहार नहीं कर सकता, उसे उनके तुरन्त ऊपर वाले सरदारों के द्वारा उनसे वर्तना पड़ता है। इस प्रकार नागरिकता शब्द का सारा अर्थ ही समाप्त हो जाता है; इसकी जगह स्वामी तथा सेवक (Vassal) के बीच में एक प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध का जन्म होता है। सामन्तवादी समाज में नागरिक नागरिक नहीं होते; वहाँ केवल सेवक होते हैं जिनका कर्तव्य अपने तुरन्त ऊपर वाले स्वामी की आज्ञा का पालन तथा सेवा करना होता है। देशभक्ति, राष्ट्रीयता की भावना तथा राष्ट्रीय सार्वभौमिकता का जोकि राष्ट्र-राज्य की इतनी प्रमुख विशेषतायें हैं, एक सामन्तशाही समाज में कोई स्थान नहीं हो सकता: उसमें तो प्रत्येक चीज़ स्थानीय, व्यक्तिगत तथा संविदात्मक (Contractual) थी।

आर्थिक पहलू से सामन्तवाद का अर्थ भूमि अधिकरण (Land Tenure) की एक ऐसी प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत जो लोग वास्तव में भूमि को जोतते हैं वे उसे किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप में प्राप्त करते हैं। वे उसके स्वामी नहीं होते; किन्तु उनका हित कुछ कुछ स्वामियों जैसा ही होता है जो अधिकतर अदेय होता है। इस प्रकार स्वामित्व का स्थान एक प्रकार की पट्टेदारी (Leasehold) ले लेती है। सामन्तवादी सिद्धान्त के अनुसार भूमि का स्वामी राजा होता है। परन्तु क्योंकि वह स्वयं अपने प्रत्यक्ष अभिवेक्षण में समस्त भूमि में खेती नहीं करा सकता, इसलिये वह उसे बहुत से टुकड़ों में विभक्त करके बहुत से व्यक्तियों को दे देता है जो उसके बदले में उसकी कुछ सेवायें करने का वचन देता है। जब तक कि वह उन शर्तों को पूरा करता रहता है तब तक भूमि के ऊपर उसका अधिकार बना रहता है और उसके बाद उन्हीं शर्तों पर वह भूमि उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाती है। यदि वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाता तो राजा उससे भूमि वापिस लेकर किसी दूसरे को दे सकता है। ये मुख्य भूमिधर जिन्हें आम तौर से बैरन (Barons) कहा जाता है राज्य के महान् लॉर्ड होते हैं। राजा राज्य का कार्य इन्हीं लॉर्डों द्वारा करता है।

ये बैरनगण भी अपने अपने भू-भाग में प्रत्यक्ष रूप से अपने अभिवेक्षण में खेती नहीं करा पाते। इसलिये प्रत्येक बैरन अपने भू-भाग को छोटी इकाइयों में विभक्त करके एक एक इकाई अपने अधीनस्थ भूमिधरों को उन्हीं शर्तों के ऊपर दे देता है। इन्हीं उप-भूमिधरों के संगठित सहयोग से बैरनगण राजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर पाते हैं। भूमि-विभाजन की यह प्रक्रिया वहीं पर समाप्त नहीं हो जाती; यह तब तक चलती रहती है जब तक कि प्रत्येक भू-भाग केवल इतना बड़ा रह जाता है कि वह एक योद्धा के भरणपोषण तथा उसको शस्त्र सुसज्जित करने के लिये पर्याप्त हो। इस भूखण्ड को दास तथा भृत्यगण (Serfs) जोतते बोते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपरेखा निर्धारित की। जैसा कि सैबाइन ने कहा है, "सामन्तवादी संस्थान मध्य युग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाये हुये थे जितने कि नगर राज्य प्राचीन काल पर।" सामन्तवाद Generic शब्द है। इसका प्रयोग भिन्न भिन्न स्थितियों में हुआ है। यह केवल उस सामाजिक व्यवस्था पर ही लागू नहीं होता जोकि मध्य काल में पश्चिमी यूरोप में उत्पन्न हुई थी, बल्कि यह उन संस्थाओं पर भी लागू होता है जो जापान, कई इस्लामी राज्यों तथा हमारे देश में भी उत्पन्न हुईं। हम कभी कभी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के नवाबों और जागीरदारों को सामन्त सरदार कहकर पुकारते हैं। कुछ बातों में पश्चिमी यूरोप के संस्थानों तथा हमारे और अन्य देशों के संस्थानों में साम्य है किन्तु दोनों में बहुत बडे और आधारभूत अन्तर भी हैं। उनमें जाना हमारे लिये आवश्यक नहीं। यहाँ पर हम केवल उस सामाजिक संघटन का उल्लेख करेंगे जोकि मध्य युग में पश्चिमी यूरोप में विकसित हुआ। सामन्तवाद की कुछ विशिष्ट व्यवस्थायें, जैसे कि भृत्य प्रथा (Serfdom) पाँचवी शताब्दी में भी पाई जाती थीं, परन्तु ११वीं और १२वीं शताब्दी में जाकर इस प्रणाली का पूर्ण रूप सामने आया। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सामन्तवाद के विभिन्न संस्थानों का विकास कुछ देशों में तीव्र हो गया और कुछ में रुद्ध हो गया। फलतः सामन्तवाद ने पश्चिमी यूरोप के समस्त देशों में एक ही रूप धारण नहीं किया।

सामन्तवाद के सामान्य स्वरूप के बारे में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। मूलतः यह एक संक्रामक स्थिति है। यह उस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का नाम है जिसका जन्म उस समय हुआ जबकि शार्लमैगने द्वारा स्थापित साम्राज्य का ह्रास तो हो चुका था परन्तु राष्ट्रराज्य का आविर्भाव नहीं हुआ था। विभिन्न राज्यों में शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना के साथ ही इसका अन्त हो गया। इसका अन्त इंग्लैण्ड में फ्रांस से पहिले और फ्रांस में जर्मनी से पहिले हुआ। ब्रिटिश राजा फ्रांस और जर्मनी के राजाओं की अपेक्षा अधिक सरलता से सामन्त सरदारों की शक्ति को कुचल सके और एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर सके। ऐसा करने में देश की कुछ परिस्थितियों ने उनकी सहायता की।

सामन्तवाद के दो प्रकार अथवा रूप हैं, एक राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। अपने परिपक्व रूप में ये दोनों एक जगह संगठित हो गये; परन्तु उनका सदा एकीकृत रहना आवश्यक नहीं है; एक के बिना दूसरा कायम रह सकता है और उसके पहिले आ सकता है। राजनीतिक सामन्तवाद का अर्थ है शासन शक्ति का विकेन्द्रित होना। इसके अन्तर्गत ऐसे महत्वपूर्ण कार्य जैसे कि सुरक्षा प्रदान करना, विवादों का निर्णय करना तथा सशस्त्र सेनायें रखना राजा नहीं बल्कि उसके सामन्त सरदार करते हैं। यह एक ऐसा शिखरोन्मुखी संघटन (Hierarchy) होता है जिसमें व्यक्ति अपने से तुरन्त ऊपर वाले स्वामियों के अधीन होते हैं जो अपने से उच्चतर स्वामियों के अधीन होते हैं। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है और अन्त में उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसके प्रति उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। राजा प्रत्यक्ष रूप से प्रजाजन तथा छोटे सरदारों से व्यवहार नहीं कर सकता, उसे उनके तुरन्त ऊपर वाले सरदारों के द्वारा उनसे वर्तना पड़ता है। इस प्रकार नागरिकता शब्द का सारा अर्थ ही समाप्त हो जाता है; इसकी जगह स्वामी तथा सेवक (Vassal) के बीच में एक प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध का जन्म होता है। सामन्तवादी समाज में नागरिक नागरिक नहीं होते; वहाँ केवल सेवक होते हैं जिनका कर्तव्य अपने तुरन्त ऊपर वाले स्वामी की आज्ञा का पालन तथा सेवा करना होता है। देशभक्ति, राष्ट्रीयता की भावना तथा राष्ट्रीय सार्वभौमिकता का जोकि राष्ट्र-राज्य की इतनी प्रमुख विशेषतायें हैं, एक सामन्तशाही समाज में कोई स्थान नहीं हो सकता: उसमें तो प्रत्येक चीज़ स्थानीय, व्यक्तिगत तथा संविदात्मक (Contractual) थी।

आर्थिक पहलू से सामन्तवाद का अर्थ भूमि अधिकरण (Land Tenure) की एक ऐसी प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत जो लोग वास्तव में भूमि को जोतते हैं वे उसे किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप में प्राप्त करते हैं। वे उसके स्वामी नहीं होते; किन्तु उनका हित कुछ कुछ स्वामियों जैसा ही होता है जो अधिकतर अदेय होता है। इस प्रकार स्वामित्व का स्थान एक प्रकार की पट्टेदारी (Leasehold) ले लेती है। सामन्तवादी सिद्धान्त के अनुसार भूमि का स्वामी राजा होता है। परन्तु क्योंकि वह स्वयं अपने प्रत्यक्ष अभिवेक्षण में समस्त भूमि में खेती नहीं करा सकता, इसलिये वह उसे बहुत से टुकड़ों में विभक्त करके बहुत से व्यक्तियों को दे देता है जो उसके बदले में उसकी कुछ सेवायें करने का वचन देता है। जब तक कि वह उन शर्तों को पूरा करता रहता है तब तक भूमि के ऊपर उसका अधिकार बना रहता है और उसके बाद उन्हीं शर्तों पर वह भूमि उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाती है। यदि वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाता तो राजा उससे भूमि वापिस लेकर किसी दूसरे को दे सकता है। ये मुख्य भूमिधर जिन्हें आम तौर से बैरन (Barons) कहा जाता है राज्य के महान् लॉर्ड होते हैं। राजा राज्य का कार्य इन्हीं लॉर्डों द्वारा करता है।

ये बैरनगण भी अपने अपने भू-भाग में प्रत्यक्ष रूप से अपने अभिवेक्षण में खेती नहीं करा पाते। इसलिये प्रत्येक बैरन अपने भू-भाग को छोटी इकाइयों में विभक्त करके एक एक इकाई अपने अधीनस्थ भूमिधरों को उन्हीं शर्तों के ऊपर दे देता है। इन्हीं उप-भूमिधरों के संगठित सहयोग से बैरनगण राजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर पाते हैं। भूमि-विभाजन की यह प्रक्रिया वहीं पर समाप्त नहीं हो जाती; यह तब तक चलती रहती है जब तक कि प्रत्येक भू-भाग केवल इतना बड़ा रह जाता है कि वह एक योद्धा के भरणपोषण तथा उसको शस्त्र सुसज्जित करने के लिये पर्याप्त हो। इस भूखण्ड को दास तथा भृत्यगण (Serfs) जोतते बोते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह व्यक्ति जो अपने से निकटतम ऊपर वाले स्वामी से भूमि प्राप्त करता है, उसका सेवक (Vassal) और भूमि प्रदान करने वाला उसका स्वामी कहलाता है। एक सामन्तवादी समाज में भृत्य तथा भूमि को वास्तव में जोतने बोने वाले व्यक्तियों को छोड़ कर प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी का सेवक और किसी न किसी का स्वामी होता है। एक व्यक्ति के अधीन कई सेवक हो सकते हैं और एक व्यक्ति कई स्वामियों का सेवक हो सकता है। स्वामी तथा सेवक का सम्बन्ध व्यक्तिगत तथा पारस्परिक होता है। सेवक के कुछ निश्चित कर्तव्य होते हैं, जैसे कि सैनिक सेवा करना, स्वामी के दरबार में हाज़िरी बजाना तथा कुछ निश्चित अवसरों पर कुछ भेंट देना। दूसरी ओर स्वामी का कर्तव्य सेवक की रक्षा और सहायता करना तथा उसके अधिकारों तथा अभिमुक्तियों का सम्मान करना है। यदि स्वामी अपने सेवक के अधिकारों से इन्कार करे या उससे कर्तव्य पालन कराने में सीमा का उल्लंघन करे तो सैद्धान्तिक रूप से सेवक को अपना भूखण्ड तथा उसके साथ अपनी पराधीनता का परित्याग कर देने का अधिकार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामन्तवादी संगठन में "पारस्परिकता, स्वेच्छापूर्वक कर्तव्यपालन तथा सन्निहित संविदा का एक भाव पाया जाता है जो आधुनिक राजनीतिक सम्बन्धों में से प्रायः लुप्त हो गया।"

११वीं तथा १२वीं शताब्दी में इसके पूर्ण विकसित रूप में यूरोप के सामन्तवाद में ये दोनों भाव सम्मिलित थे। प्रत्येक सेवक के पास एक जागीर थी और प्रत्येक जागीर पर एक सेवक का आधिपत्य था। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक कर्तव्यों की पूर्ति भूमि पर अधिकार के साथ सम्बद्ध थी। जागीर के रूप में भूमि पर आधिपत्य रखने के नाते ही बैरनगण तथा उनके अधीन भूमिधर कुछ राजनीतिक कार्य करते थे। वे कार्य निम्नलिखित हैं :

प्रथम, प्रत्येक सेवक अपने स्वामी को सैनिक सहायता देने के लिये बाध्य था। बैरनगण राजा के मांगने पर उसे सशस्त्र सैनिक देने के लिये बाध्य थे और प्रत्येक भूमिधर तथा उपभूमिधर अपने बैरन के मांगने पर उसे एक निश्चित संख्या में सैनिक देने के लिये बाध्य थे। इस प्रकार राज्य की सेना एक सामन्तवादी सेना थी। दूसरे यह कि राज्य की समस्त आय का आधार वे अनुदाय थे जो कि मुख्य भूमिधर निर्धारित अवसरों पर राजा को देते थे। वहाँ सामान्य करारोपण की कोई प्रणाली नहीं थी। भूमि ही धन का एकमात्र स्रोत था। अंतिम बात यह कि प्रत्येक बैरन को अपनी जागीर के अन्दर अपनी जनता का न्याय करने का अधिकार था; राजा के कर्मचारी उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। इस प्रकार सरकार के तीन बड़े विभागों, सेना, न्यायालय तथा राजस्व पर सामन्तवाद का प्रभाव था और प्रत्येक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण था। विदित है कि नागरिकता का जो अर्थ आज हम लेते हैं वह सामन्तवादी युग में नहीं हो सकता था।

समाज के सामन्तवादी संगठन की एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता ध्यान देने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों का करना जागीर के रूप में भूमि पर अधिकार के साथ सम्बद्ध था। जागीर की भाँति उसके साथ सम्बद्ध सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन करना भी वंशानुगत बन गया। पुत्र को पिता से उत्तराधिकार में जागीर के साथ साथ सार्वजनिक कर्तव्य भी मिलते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक "सार्वजनिक अधिकारी अपने पद पर राजा के एक अभिकर्त्ता के रूप में नहीं बल्कि वंशानुगत अधिकार के कारण आसीन था। उसका अधिकार किसी का दिया हुआ नहीं था, बल्कि वह उसका स्वामी था; स्पष्ट है कि राजा की शक्ति एक बहुत बड़ी हद तक उसकी इस प्रवृत्ति को सीमित रखने की योग्यता पर निर्भर करती थी।"* ऐसे संगठन की अत्यन्त विध्वंसक प्रवृत्तियाँ अधिक इसलिये नहीं फैल सकीं क्योंकि मध्यकालीन राजशाही के सिद्धान्त के अनुसार राजा का एक विशिष्ट स्थान था और उसके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रक्खा जाता था। इसके अतिरिक्त सभी लोग यह मानते थे कि वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और इसलिये उसकी अवज्ञा करना धर्म विरुद्ध है। निस्सन्देह, कभी कभी सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर देखने में आता था; किन्तु यहाँ हमारा अभिप्राय राजशाही के केवल सिद्धांत से ही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण राजनीतिक सामन्तवाद की एक मुख्य विशेषता थी। स्वतन्त्र मनुष्यों को रक्षा, उनके परस्पर विवादों का निर्णय करना तथा उनसे एक प्रकार का कर प्राप्त करना बैरनों और उनके अधीनस्थ भूमिधरों का काम था, राजा का नहीं। अपनी प्रजा के साथ राजा का सम्पर्क प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि इन बैरनों और भूमिधरों के द्वारा होता था। परन्तु यह चित्र का केवल एक पहलू है। प्रोफेसर मैकलवेन का विचार है कि विकेन्द्रीकरण तथा कानूनीकृत निजी युद्ध के इस समस्त युग में यह पुराना विचार पूर्णरूप से कभी लुप्त नहीं हुआ कि राज्य उन व्यक्तियों का एक समाज है जो कि कानून तथा सामान्य हित के सूत्र में बंधे हुए हैं। इसी विचार के कारण राष्ट्रीय भावना का उदय हो पाया जिसने सामन्तवादी भावना को नष्ट कर दिया। इंगलैंण्ड के राजा यह आग्रह करते थे कि स्वतन्त्र मनुष्य अपने तुरन्त वाले स्वामियों के साथ सामन्ती बन्धन में बँधते समय इस बात की व्यवस्था करें कि राजा के उनके ऊपर अपनी प्रजा के रूप में अधिकार सुरक्षित रहेंगे। सारांश यह कि सामन्तवादी युग में पुराने राजनीतिक विचार सर्वथा लुप्त नहीं हुए, बल्कि वे मानव चिंतन को प्रभावित करते रहे। प्रोफेसर सैबाइन की भी यह धारणा है कि राज्य को एक कामनवैल्थ समझने की परम्परा जोकि सिसरो तथा चर्च फ़ादर्स के लेखों में प्रसरित है और जो रोमन कानून का आधार है, सामन्तवादी युग में पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई। यह

* "Public official held his place not as an agent of the king but because he had a prescriptive right to be there. His authority was not delegated but owned; obviously the king's power depended largely on his ability to limit this tendency." Sabine, *op. ct.*, page 217.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामन्तवादी विचार कि राजा का अपने सरदारों के साथ एक संविदात्मक सम्बन्ध है और यह प्राचीन धारणा कि राजा कामनवैल्थ का प्रधान है, कभी कभी सामन्तकालीन न्यायविदों के लेखों में सम्मिश्रित हो जाते थे। इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि राजा राज्य का प्रधान और सार्वजनिक शक्ति का प्रमुख स्वामी था, किन्तु वह सदैव परिषद के द्वारा कार्य करता था, दरबार या अन्य किसी अभिकरण को यह अधिकार था कि राजा उससे परामर्श करे। इस सामन्तवादी सिद्धान्त और व्यवहार में आने वाली सांविधानिक सरकार के तत्व वर्तमान हैं।

सामन्तवाद ने, जिसकी कि इतनी निन्दा की जाती है, एक नाजुक समय में पश्चिमी यूरोप के लोगों की क्या सेवायें कीं, उनको अच्छी प्रकार से समझने तथा उनका मूल्यांकन करने में सामन्तवाद के मूल का एक संक्षिप्त विवरण सहायक होगा। सामन्तवाद के तत्व ५वीं शताब्दी में वर्तमान थे जबकि अपनी शक्ति का ह्रास होने के कारण रोमन सम्राट बर्बर आक्रान्ताओं तथा हत्यारों को अपने सीमांत प्रान्तों की जनता को लूटने से न रोक पाये और उसकी समुचित रक्षा न कर सके। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में प्रायः एक ऐसे शक्तिशाली मनुष्यों के वर्ग का उदय होता है जो न केवल अपनी बल्कि अपनी शरण में आये हुए और सहायता की याचना करने वाले व्यक्तियों की भी रक्षा करते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक ही है कि कानून की परवाह न करने वाले अत्याचारियों से पीड़ित एक दुर्बल व्यक्ति किसी सबल व्यक्ति की शरण में जाये और वह सबल व्यक्ति उसकी रक्षा करे और उसके प्रतिकारस्वरूप उसकी शक्ति के अनुसार उस से सेवा ले। यदि उस दुर्बल व्यक्ति के पास भूमि होती है तो वह उसे अपने रक्षक के सामने समर्पित कर देता है। वह रक्षक उस भूमि को बोने जोतने के लिए उसे ही लौटा देता है किन्तु वह जब चाहे उससे भूमि ले सकता है। दुर्बल व्यक्ति अपने भूमि के स्वामित्व को खो देता है किन्तु उसके बदले में उसे संरक्षण और शरण प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार एक बलवान् व्यक्ति के पास बहुत से व्यक्ति हो जाते हैं जिनसे उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है और उससे वह अधिक क्षमतापूर्वक अपने स्थान विशेष की रक्षा कर सकता है। इस प्रकार राज्य के अन्दर छोटे छोटे और अर्द्ध-स्वतन्त्र खण्डों का जन्म होता है और सामन्तवाद का बीजारोपण होता है। ऐसा ही कुछ पश्चिमी यूरोप में हुआ जबकि बर्बर आक्रमण के समय वहाँ अर्द्धअराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियों के पास अपनी अपनी काफ़ी सेनायें थीं जो कि आक्रांताओं को परास्त कर सकती थीं। ये स्थानीय सरदार अपने ऊपर निर्भर करने वालों की सरकारी कर्मचारियों के अत्याचारों से भी रक्षा कर सकते थे। राज्य इन सब बातों को गैरकानूनी समझता था किन्तु उन्हें रोकने की सामर्थ्य उसमें न थी। जब फ्रांक लोग गॉल में आये तो उन्हें वहाँ ऐसे रिवाज प्रचलित मिले। उनका दमन करने की जगह उन्होंने उन्हें अपना लिया और आगे चलकर उन्होंने सामन्तवाद का रूप धारण कर लिया। यह प्रक्रिया कुछ कुछ निम्नांकित रूप से चली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त व्यवहारों का साम्राज्य के अन्तर्गत कोई राजनीतिक अथवा सैनिक स्वरूप न था। सम्राट स्थानीय सरदारों से सैनिक या सार्वजनिक सेवा नहीं माँगता था यद्यपि सरदारगण कभी कभी अवश्य ही अपने अधीनस्थ व्यक्तियों से किसी संकट का सामना करने के लिये शस्त्र धारण करने के लिये कहते थे। कैरोलिंयगियन राजाओं के शासन काल में उन समस्त लोगों का सैनिक सेवा करने का एक अनिवार्य कर्तव्य माना गया जो राजा के भूमिधरों के रूप में भूमि रखते थे। इस प्रकार जागीर के ऊपर आधिपत्य तथा राजा के प्रति सेवा का कर्तव्य एकीकृत हो गये। इस परिवर्तन का अवसर गॉल पर अरब आक्रमण था। फ्राँक लोग पैदल लड़ते थे और उन्हें उन अरबों से टक्कर लेनी कठिन दिखाई दी जो कि घोड़ों पर चढ़ कर लड़ते थे। इसलिये अरबों से लड़ने के लिये उन्हें एक अश्व सेना का प्रबन्ध करना पड़ा परन्तु निर्धन नागरिकों के लिए एक अश्व सेना को रखने के व्यय को सहन करना कठिन था। राज्य के पास भी इस व्यय को उठाने के लिये कोई धन नहीं था। इस समस्या का उसने एक हल निकाला। उसने चर्च के विस्तृत भूखण्डों को ले लिया और उन्हें सामन्तों को इस स्पष्ट शर्त के ऊपर प्रदान कर दिया कि उन्हें एक अश्व सेना रखनी होगी। सामन्त लोगों ने अपनी जागीरों को इसी शर्त के ऊपर अपने सरदारों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार सामन्तवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्ष एक जगह मिल गये और सैनिक सेवा करना सामन्तवादी संविदा की एक आवश्यक शर्त वन गई। इसी दिशा में शार्लीमैग्ने ने कुछ अन्य क़दम उठाये जिनका परिणाम यह हुआ कि 'राज्य की रक्षा करने का नागरिक का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य एक सार्वजनिक कर्तव्य न रह कर एक निजी संविदा का विषय वन गया और यह भूमि अधिकरण की एक साधारण शर्त वन गई।' इसी प्रकार का परिवर्तन न्यायिक क्षेत्र में भी हुआ। न्याय प्रदान करने का अधिकार राज्य के हाथों से निकल कर उन व्यक्तियों के हाथ में जा पहुंचा जिनके पास भूमि थी। जब शार्लीमैग्ने की छत्रछाया जाती रही और साम्राज्य के खण्ड खण्ड हो गये तो सामन्तवाद ने अपना परिपक्व रूप धारण किया।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामन्तवाद का उदय एक वड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। यह आवश्यकता सुरक्षा की आवश्यकता थी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सामन्तवाद उस अस्त व्यस्त और अनिश्चित परिस्थिति का परिणाम है जोकि अराजकता की सीमा तक जा पहुँची थी। जब राज्य जनता की रक्षा न कर सका तो वह सामन्तों के मुंह की ओर ताकने लगी। फ्राँक लोग स्थानीय सरदारों की सहायता के विना, जिनका आविर्भाव पहिले ही हो चुका था, फिर से व्यवस्था कायम करने और शांति वनाये रखने में असमर्थ थे। इसलिये उन्होंने अपने से पहिले की संस्थाओं को स्वीकार कर लिया और सामन्तवाद को उत्पन्न करने के लिये उनको अपने विचारों के अनुसार विकसित किया। यह सत्य है कि आगे चलकर सामन्तवाद अत्याचार, विशेषाधिकार और पीड़क शासन का पर्यायवाची वन गया और विक्षुब्ध जनसमूहों ने उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामन्ती प्रासादों को धराशायी कर दिया जिन्होंने कि उनके पूर्वजों को कभी सुरक्षा प्रदान की दी। यह इस सर्वसिद्ध सत्य का ज्वलंत उदाहरण है कि समय के बीतने और परिस्थितियों के बदलने पर अच्छी संस्थाओं में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें संशोधन करना और उनको समाप्त करना भी आवश्यक हो जाता है। जब सरकार इतनी शक्तिशाली हो गई कि राज्य में शान्ति कायम रख सके और उसकी शक्ति सुदूर भागों में अनुभव की जाने लगी तो सामन्तवाद का ह्रास हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य (Nation State) का अभ्युदय हुआ। समुचित रूप से इसे समझ लेने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सामन्तवाद एक कबीला-राज्य और राष्ट्र-राज्य के बीच की संक्रामक स्थिति है।

पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire)— पोपशाही और सामन्तवाद के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण संस्थान पवित्र रोमन साम्राज्य था जिसने कि मध्य युग की राजनीति के स्वरूप को निर्धारित किया। इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

रोम पर बर्बरों की विजय होने पर भी रोमन संस्कृति नष्ट नहीं हुई; सांस्कृतिक रूप से तो रोम ने अपने विजेताओं को ही विजित कर लिया। सार्वभौतिक साम्राज्य और सार्वभौतिक चर्च का आदर्श प्रारम्भिक ट्यूटनों के राजनीतिक विचारों तथा संस्थानों से कितना भी असंगत क्यों न हो फिर भी जीवित रहा और फ्रॉंक लोगों ने उसे ग्रहण कर लिया। शार्लीमैग्ने की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया तथापि सम्राट् की उपाधि का आकर्षण लुप्त नहीं हुआ और यह विभिन्न दावेदारों में संघर्ष का कारण बना रहा। उन जर्मन शासकों ने उसे बनाये रक्खा जो कि शार्लीमैग्ने के साम्राज्य के एक भाग पर शासन करते थे और उन्हें शेष भाग को भी फिर से प्राप्त कर लेने की आशा थी। जर्मनी के ओटो प्रथम की, जिसे कि उसके कारनामों के कारण ओटो महान् कहते हैं, ऐसी महत्त्वाकांक्षा थी। पोप ने उसे इटली आकर वहाँ फैली हुई अराजकता को समाप्त करने के लिये निमंत्रित किया। इस सेवा के पुरस्कारस्वरूप उसे सम्राट् का मुकुट पेश किया गया। ओटो ने इस पेशकश को स्वीकार कर लिया; उसने इटली पर चढ़ाई की और ९६२ ई० में पोप से सम्राट् की उपाधि प्राप्त की। यहाँ से द्वितीय साम्राज्य का सूत्रपात होता है। यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से विख्यात है क्योंकि इसके प्रवर्त्तक की यह कामना थी कि इसकी व्यवस्था में सम्राटों तथा पवित्र चर्च में घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिये। ओटो तथा उनके उत्तराधिकारियों को प्रेरित करने वाला विचार यह था कि समस्त पश्चिमी संसार का एक ही राजनीतिक प्रधान होना चाहिये जैसे कि धार्मिक रूप से वह एक ही 'पवित्र चर्च' के अधीन था। परन्तु वस्तुस्थिति इस धारणा के अनुकूल नहीं थी। ओटो वंशियों (Ottos) का शासन अधिकार जर्मनी और इटली से आगे नहीं बढ़ने पाया और वहाँ भी उसे सामन्तवादी प्रवृत्तियों का सामना करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ा। सम्राट् का अधिकार वास्तविक राजसत्ता का रूप नहीं ले सका; देश की राजकीय शक्ति का पूर्णरूपेण सामन्तवादी चरित्र उसके मार्ग में एक सच्ची रुकावट थी। इसके अतिरिक्त पोप ग्रेगरी सप्तम तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जर्मनी तथा इटली को एकीकृत करने के साम्राज्य के प्रयत्नों का सदैव विरोध किया क्योंकि वे सम्राट् को अपने स्वामी के रूप में देखने को तैयार न थे। इटली वाले जर्मनों से घृणा करते थे और उनके शासन के विरुद्ध विद्रोह करते थे। ओटो तृतीय के मरने के बाद साम्राज्य को आल्प्स (Alps) के परे इटली तक प्रसारित करने के विचार का परित्याग कर दिया गया और जर्मन राजाओं ने अपने ही देश में राजशक्ति को सुदृढ़ बनाने का कार्य हाथ में लिया क्योंकि स्वयं जर्मनी में ही बहुत सी रियासतों के उदय ने, जिनमें से प्रत्येक जर्मन राजा से स्वाधीन होने का दावा करती थी, राज्य के अधिकार को बुरी तरह हिला दिया था। यह पवित्र रोमन साम्राज्य नाममात्र के लिये तब तक चलता रहा जब तक कि नैपोलियन ने इसका अन्तिम संस्कार न कर दिया। राजनीतिक विचार के इतिहास में इसके महत्त्व का मुख्य कारण यह है कि लौकिक क्षेत्र में सार्वभौमिकता को फिर से स्थापित करने तथा एक ही समाज (जिसकी सत्ता की कल्पना की जाती थी) के धार्मिक तथा राजनीतिक शासन में शान्ति तथा तालमेल स्थापित करने का यह एक प्रयास था। परन्तु दोनों में एक सजीव साहचर्य की जगह वहाँ था संघर्ष। मध्यम युग का उत्तरार्द्ध इसी संघर्ष से भरा पड़ा है; इसी संघर्ष को लेकर एक बृहद् साहित्य की रचना हुई। इस विवाद का विवरण हम अगले अध्याय में देंगे।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १२

मध्यकालीन राजनीतिक विचार
चर्च तथा राज्य के मध्य विवाद

परिचयात्मक— राजनीतिक चिंतन के दृष्टिकोण से समस्त मध्य काल को तीन अलग अलग युगों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम युग बर्बरों द्वारा रोमन साम्राज्य की विजय से लेकर ११वीं शताब्दी तक माना जा सकता है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस युग में कोई विशेष बौद्धिक कार्य कलाप नहीं हुआ; इसमें स्वतन्त्र चिंतन का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। द्वितीय युग ग्रेगरी के आन्दोलन से लेकर पोप बोनीफ़ेस अष्टम के काल तक, अर्थात् ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १३वीं शताब्दी के अन्त तक माना जा सकता है। बार्कर इस युग को 'सिंहासनारूढ़ पोपशाही तथा विजेता चर्च' का युग कहता है। इस युग में दर्शन शास्त्र, कानून तथा राजनीतिक दर्शन के क्षेत्रों में बौद्धिक कार्य कलाप का महान् पुनरुत्थान हुआ। सन्त टॉमस ऐक्वीनास इसी युग के हैं। यद्यपि इस काल में जिस राजनीतिक साहित्य की स्थापना हुई उसका आकार उस सब से बड़ा है जो कि अरस्तु की मृत्यु के पश्चात् ग्रेगरी सप्तम के पोप के रूप में पदासीन होने तक लिखा गया, किन्तु राजनीतिक दर्शन को एक स्वतन्त्र विद्या का पद प्राप्त नहीं हुआ; इसके ऊपर धर्मशास्त्र (Theology) तथा दर्शनशास्त्र आच्छादित रहे। राजनीतिक चिन्तन पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच होने वाले विवाद का एक परिणाम मात्र था; इसके ऊपर धर्म छाया हुआ था। हाँ, तृतीय युग में राजनीति दर्शन के ऊपर नियमित रूप से ग्रंथ लिखे गये; यह युग १४वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक माना जा सकता है। मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua) इस युग के हैं। बार्कर इसे एक रजत तथा विद्रोहपूर्ण (Silver and turbulent) युग कहकर पुकारता है "जिसमें कि पोपशाही को राजाओं, सम्प्रदायों तथा परिषदों से संकट उत्पन्न होता है; जिसमें कृषक ग्रामों में और शिल्पकार नगरों में विद्रोह करते हैं; जिसमें सिद्धांत एकदम नवीन, साधारण, जनप्रधान तथा क्रांतिकारी हो उठता है।"*

पोपशाही तथा साम्राज्य के ऐतिहासिक विवाद का वर्णन करने से पहिले सार्वभौमिक-

* "...... in which Papacy is menaced by kings, by sects and by councils; in which villiens revolt in the country and artisans are insurgent in towns; in which theory becomes radical, lay and revolutionary." Barker in Hearnshaw : *Social and Political Ideas of the Middle Ages*, page 12.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाद जो कि मध्यकालीन विचार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, के सम्बन्ध में विषय प्रवेश के रूप में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सार्वभौमिकवाद (Universalism)— समाज अथवा राज्य की सावयवी धारणा जिसके अनुसार राज्य तथा एक सावयव (Organism) में एक गहरा साम्य है, संविधानवाद जो कि शासक के अधिकार को सीमित करता है, शासन के अन्य रूपों की अपेक्षा राजतंत्र की श्रेष्ठता में एक सामान्य विश्वास, और एक अच्छे राजा के कर्त्तव्यों पर बल कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण विचार हैं जो कि मध्य काल में विकसित हुए। उस में नैसर्गिक क़ानून (Law of Nature) में भी व्यापक विश्वास था जिसने कि क़ानूनविषयक मध्यकालीन धारणाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया और ऐसे मापदण्ड प्रतिष्ठित किये जिनके अनुसार आचरण करने की शासकों से आशा की जाती थी। कई प्रतिनिधि संस्थाओं का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप प्रतिनिधित्व की धारणा की बहुत चर्चा हुई, विशेष रूप से कन्सीलियर युग में। इन धारणाओं के विषय में हम कुछ इस पुस्तक के प्रस्तुत भाग में कहेंगे। यहां हम पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच विवाद का विवरण देंगे और सार्वभौमिकवाद के विचार के विषय में कुछ कहेंगे जो कि मध्यकालीन विचार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

मध्यकालीन विचार की महत्त्वपूर्ण विशेषता— मध्यकालीन विचार की महत्त्वपूर्ण विशेषता का वर्णन प्रोफेसर बार्कर के निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है: 'समस्त मध्यकालीन विचार की तान है उसकी सार्वभौमिकता। यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मानकर चलता है, जो अपने लौकिक पक्ष में प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और उसकी नित्यावृत्ति है; और अपने धार्मिक पक्ष में एक दृष्टव्य चर्च में ईसा का साकार रूप है।'*

रोम ने एक सार्वभौमिक साम्राज्य की स्थापना की थी; जिसके अंक में उस समय ज्ञात समस्त सभ्य संसार लिपटा हुआ था। रोमनों का विश्वास था कि उनका साम्राज्य ईश्वर इच्छा की सृष्टि है और उसके भाग्य में शाश्वत तथा सार्वभौमिक होना लिखा है। जब ईसाई धर्म साम्राज्य का एकमात्र राजकीय धर्म बन गया तो ईसाइयों ने भी इस विश्वास को स्वीकार कर लिया। सन्त ऑगस्टाइन यह प्रचार करते थे कि परमात्मा ने मूर्तिपूजकों को सार्वभौमिक रोमन साम्राज्य की स्थापना इसलिए कर लेने दी क्योंकि एक सार्वभौमिक चर्च की सृष्टि की ओर यह एक कदम था। साम्राज्य के अन्तर्गत और साम्राज्य के द्वारा ही ईसाई चर्च एक सार्वभौमिक संघटन बना।

---

* "The note of all medieval thought is its universalism. It assumes the existence of a single universal society, which, on its lay side, is the inheritance and continuation of the ancient Roman Empire; and on its ecclesiastical side, the incarnation of Christ in a visible Church." Barker in Hearnshaw, *Ibid*, page 12.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमें यह याद रखना चाहिये कि साम्राज्य तथा चर्च विभिन्न सदस्यता रखने वाले दो अलग अलग समाज नहीं थे; वे एक ही और अविभाज्य समाज के दो विभिन्न रूप-मात्र थे। "यह एक ही रैस्पब्लीका क्रिश्चियाना था जिसमें चर्च का सदस्य होना और नागरिक होना एक ही बात थी।"† इस समाज के दो प्रधान थे: पोप तथा सम्राट। सम्राट इसके लौकिक विषयों का संरक्षक था और पोप आध्यात्मिक विषयों का। प्रत्येक शासन का अपना कार्य क्षेत्र और अधिकार क्षेत्र था, अपना कर्मचारियों का संघटन था; और अपना अधिकार सिद्धान्त था। लौकिक विषयों में नागरिक सम्राट के अधीन था और आध्यात्मिक विषयों में उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण एवं अनुशासन था। प्रत्येक शासन अपने क्षेत्र में स्वतंत्र था और प्रत्येक को दूसरे के अधिकारों का सम्मान करना था जो कि ईश्वर ने उसे दिये थे। साम्राज्य को आध्यात्मिक विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था और चर्च के लिये लौकिक विषयों में टाँग अड़ाना उचित नहीं था। परन्तु प्रत्येक का कार्य एक दूसरे की सहायता करना था; अधर्म का दमन करना साम्राज्य का कर्तव्य था और राजभक्ति का उपदेश करना चर्च का धर्म था। सारांश यह कि दोनों शक्तियों को परस्पर सहयोग करना था। दोनों के इस परस्पर सम्बन्ध को आमतौर से 'दो तलवारों का सिद्धान्त' कह कर पुकारा जाता है जिसकी विवेचना हम पहिले ही कर चुके हैं। इसके विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इस सार्वभौमिक-वाद को बर्बर आक्रमणों ने खंडित कर दिया। सार्वभौमिक साम्राज्य का स्थान बहुत से स्वतंत्र राज्यों ने ले लिया जो कि पश्चिमी यूरोप के विभिन्न भागों में उत्पन्न हो गये थे। जिन बर्बरों ने ईसाई धर्म वहन कर लिया था उन्होंने बहुत से अलग अलग स्थानीय चर्च स्थापित कर लिये, और इस प्रकार चर्च की एकता भी भंग हो गई। अपना साम्राज्य स्थापित करके शार्लीमैग्ने ने राजनीतिक क्षेत्र में सार्वभौमिकवाद पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। औटो प्रथम ने पवित्र रोमन साम्राज्य को स्थापित करके इस काम को जारी रक्खा। इन दो साम्राज्यों की सृष्टि में एक सार्वभौमिक समाज में विश्वव्यापक विचार का हाथ था। आध्यात्मिक जगत में सार्वभौमिकवाद को पुनर्प्रतिष्ठित हिल्डेब्रैण्ड ने किया जिसने प्रादेशिक चर्चों की जगह, जो कि गत शताब्दियों में कायम हो गये थे, पोप के एक सार्वभौमिक चर्च की स्थापना की। परन्तु यद्यपि दोनों क्षेत्रों में सार्वभौमिकवाद को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया गया, तथापि दोनों में समानान्तरवाद का सम्बन्ध स्थापित न किया जा सका। दो समानान्तर शक्तियों का होना उस युग की राजनीतिक परिस्थिति के अनुकूल नहीं था, उसके लिये एक अन्तिम शक्ति की आवश्यकता थी; पोप तथा सम्राट् दोनों ऐसी शक्ति का दावा करते थे; परन्तु उनमें से कोई भी उसे प्राप्त नहीं कर सका। "हिल्डेब्रैण्ड तथा उसके सहविचारक ऐसे सम्राट् को बिल्कुल पसन्द नहीं करते जिसके पोप के समान अधिकार हों;

---

† It was a single Respublica Christiana in which churchmanship was co-extensive with citizenship.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह पोपशाही को उस प्रणाली से अच्छा समझते थे जिसके अनुसार चर्च में द्वैध शासन हो। दूसरी ओर सम्राट् भी बहुत महत्त्वाकांक्षी थे और वे सर्वोच्च शक्तियों का दावा करते थे। इस प्रकार दोनों में विवाद उठ खड़ा हुआ। ८वीं शताब्दी में राजनीति ने चर्च तथा साम्राज्य में घनिष्ट मित्रता स्थापित की थी; और ११वीं शताब्दी में राजनीति ने ही उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया।

एक दूसरे अर्थ में भी मध्यकालीन विचार की तान सार्वभौमिकवाद थी। मध्य युग का एक और सार्वभौमिक समाज एक ही जीवन सिद्धान्त का पालन करता था जिसकी रचना अन्तिम रूप से एक ही शक्ति करती थी। इस सिद्धान्त का स्वरूप आध्यात्मिक था; यह प्रभु इच्छा की अभिव्यंजना थी। जीवन का लक्ष्य आत्मा का भौतिक बन्धन से मुक्त होना था। समस्त लौकिक कार्य व्यापार जीवन के इसी केन्द्रीय और प्रधान उद्देश्य के अधीन होना चाहिये। इस दैविक सिद्धान्त की व्याख्या करने वाली अन्तिम शक्ति चर्च था; 'उसने समस्त जीवन को, उसके समस्त रूप, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा बौद्धिक, में एक ईसाई सिद्धान्त की अधीनता में नियन्त्रित करने का' वीरतापूर्ण प्रयास किया। राजा के कुकृत्यों की भर्त्सना करके और उनसे सद्व्यवहार का आग्रह करके उसने राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं के ऊपर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया; विवाह तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी कानूनों द्वारा वह सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करना चाहता था; आर्थिक क्षेत्र में वह उचित मूल्य का और व्याज के निषेध का आग्रह करता था और लोगों को अपनी सम्पत्ति को एक धरोहर (Trust) समझने की प्रेरणा देता था। चर्च की शिक्षाओं के प्रतिकूल समस्त शिक्षाओं को अधर्म कहकर और उनको निषिद्ध घोषित करके तथा विधर्मियों का दमन करके उसने बौद्धिक जीवन को भी शिकंजे में जकड़ने का प्रयत्न किया। समस्त जीवन को एक ही सिद्धान्त के अनुसार एक ही नमूने में ढालने के इस विलक्षण प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि राजनीति, अर्थनीति तथा आचार नीति सब धर्मशास्त्र के अधीन हो गये।

चर्च तथा राज्य में संघर्ष का युग— इस सिद्धान्त को कि मानव जाति एक ही सार्वभौमिक समाज है जिसके दो प्रधान हैं, आध्यात्मिक विषयों के लिए पोप और लौकिक विषयों के लिये सम्राट्, केवल मध्य युग में ही नहीं बल्कि उसके आरम्भ से पहिले भी सभी लोग मानते थे। यह ईसाई रोम से प्राप्त हुई विरासत थी। यह माना जाता था कि इनमें से प्रत्येक न्यायपूर्वक तथा प्राकृतिक और दैविक कानून के अनुसार और मानवता के कल्याण के लिये कार्य करता है तथा मनमाने ढंग से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। इसलिये सैद्धान्तिक रूप से इन दोनों में कोई संघर्ष नहीं हो सकता था यद्यपि उनके अपने अपने क्षेत्र की निश्चित सीमायें निर्धारित नहीं थीं। उनमें परस्पर सहयोग की भावना होनी चाहिये थी। और पहिली कुछ शताब्दियों में सचमुच उनमें कोई संघर्ष नहीं हुआ। कॉन्स्टेएटाइन तथा उसके उत्तराधिकारी धर्म को राज्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विभाग मानते थे और बिशपगण को राज्य-कर्मचारी समझते थे जिनको सम्राट् नियुक्त एवं पदच्युत कर सकता था। पोपशाही की स्थापना से पहिले सम्राट् चर्च तथा राज्य दोनों का प्रधान था; धार्मिक विषयों में भी उसकी इच्छा वैसी ही सर्वोपरि थी जैसी कि सांसारिक विषयों में। शार्लीमैग्ने, औटो महान् तथा हैनरी तृतीय सरीखे शक्तिशाली सम्राटों ने इस परम्परा को मध्य युग में कायम रक्खा। शार्लीमैग्ने पादरियों तथा जनसाधारण को समान रूप से अपनी प्रजा समझता था और चर्च के शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व उसने अपने हाथों में ले रक्खा था। दसवीं शताब्दी में जबकि पोपों का व्यक्तिगत चरित्र बहुत नीचे गिर गया और पोपशाही बदनाम हो गई तो सम्राटों ने सुधार के लिये कुछ कदम उठाये और पोपों को उनके पद से उतारा। ११वीं शताब्दी तक पोपशाही के ऊपर सम्राटों का नियन्त्रण स्पष्ट और वास्तविक था। किन्तु इस व्यवहार के कुछ अपवाद भी थे। सन्त एम्ब्रोज़ सरीखे शक्तिशाली बिशप यदि सम्राट् की आज्ञाओं को अन्यायपूर्ण समझते थे तो उनका पालन करने से इन्कार कर देते थे; वे सम्राटों की ताड़ना करने तथा नैतिक अपराधों के लिये उनको आध्यात्मिक दण्ड देने से भी नहीं हिचकते थे। सन्त एम्ब्रोज़ ने एक बार एक धार्मिक उत्सव को सम्पन्न करने से इन्कार कर दिया जब तक कि सम्राट् थ्योडोसियस, जिसने कि अपनी प्रजा के साथ विश्वासघात किया था, वहाँ से न हट गया। आगे चलकर लोरेन के राजा लोथेयर (Lothaire of Lorraine) को अपनी परित्यक्ता पत्नी को फिर से ग्रहण करने तक अपनी नवीन प्रेयसी (Mistress) का परित्याग करने के लिए विवश कर दिया यद्यपि राजा को शक्तिशाली पादरियों तथा अपने भाई सम्राट् लुई की सहायता प्राप्त थी। शक्तिशाली पोप राजाओं और सम्राटों की भर्त्सना, उनका जाति-बहिष्कार एवं उन्हें पदच्युत कर सकते थे तथा राज्य के छोटे छोटे मामलों तक को विनियमित कर सकते थे और इतना सब कुछ होते हुए भी दूसरी ओर से कोई विरोध न होता था। परन्तु साधारणतया इस युग में सम्राट् के ऊपर पोप के नियन्त्रण की अपेक्षा सम्राट् का पोप के ऊपर नियन्त्रण अधिक वास्तविक था। वास्तव में दोनों के सम्बन्ध ऐसे थे कि यदि एक पक्ष अपनी बात पर अड़ जाता था तो दूसरा पक्ष उसके सामने झुक जाता था, उनमें संघर्ष होने की नौबत नहीं आती थी।

परन्तु यदि दैवयोग से कभी एक शक्तिशाली सम्राट् तथा एक शक्तिशाली पोप एक ही समय शासनारूढ़ होते और 'चर्च का यह सिद्धान्त कि आध्यात्मिक शक्ति मूलतः लौकिक शक्ति से श्रेष्ठतर है साम्राज्य के इस सिद्धान्त से टकराता था कि राजा सर्वशक्तिमान है' तो संकट उत्पन्न होना निश्चित ही था। ऐसा अवसर प्रथम बार तब आया जबकि पोप ग्रेगरी सप्तम तथा सम्राट् हैनरी चतुर्थ के बीच राज्य द्वारा बिशपगण को पद प्रदान करने (Lay Investiture) के ऊपर संघर्ष खड़ा हुआ। वह संघर्ष अकस्मात् ही खड़ा नहीं हो गया बल्कि इससे बहुत पहिले से ही पादरियों में स्वतन्त्रता की भावना का उदय हो रहा था और वे उन दोषों को दूर करना चाहते थे जो कि चर्च के सामन्तवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली की जटिलताओं में फंसने के कारण उसमें आ गये थे। इन बातों ने सम्राट् तथा पोप के संघर्ष के लिये भूमि पहिले ही तय्यार कर दी थी। चर्च के पास एक बहुत बड़ी भू-सम्पत्ति थी जिसे चार्लस मारटल ने अपने युद्धों के लिये धन प्राप्त करने के लिए लिया था और उसको अपने अफसरों में विभाजित कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पादरी गण लौकिक स्वामियों के सेवक बन गये और उनके कुछ लौकिक कर्त्तव्य हो गये। बहुत से मामलों में उनके तथा सामन्ती सरदारों के हित एक हो गये। उच्चतर पादरीगण लौकिक राजनीति में फंस गये और उन्हें एक महान् शक्ति और प्रभाव प्राप्त हो गया। इसलिये उनकी नियुक्ति सम्राट् के लिये एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। प्रारम्भ से ही स्थापित एक परम्परा के अनुसार चर्च के बिशपगण का चुनाव मण्डलों (Diocese) के पादरियों द्वारा और ऐबटगण का चुनाव मठों के सदस्यों द्वारा होता था। इसलिये चर्च के अधिकारीगण यह दावा करते थे कि एक जागीरदार पादरी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव पादरियों द्वारा ही होना चाहिये। इसके विपरीत राजकीय अधिकारियों का तर्क यह था कि क्योंकि जागीरदार हमारा एक सेवक है, इसलिये बिना सामन्त सरदार की स्वीकृति के वह जागीर का मालिक नहीं बन सकता। वे बिशपगण को नियुक्त करने का दावा इस आधार पर करते थे कि उनके पद का धार्मिक स्वरूप उसके सामन्ती अथवा लौकिक स्वरूप से कम महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त धन द्वारा धार्मिक पद को खरीदने अथवा राजनीतिक सेवाओं के बदले में उसे प्रदान करने की प्रथा भी चल पड़ी थी। अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करने के लिये और राज्य का वास्तविक रूप से निर्देशन करने के लिये चर्च को इन दोषों को दूर करना तथा राजकीय अधिकारियों से स्वतंत्र होना आवश्यक था।

धार्मिक पदों के क्रय विक्रय को रोकने तथा पादरियों की नियुक्ति में अपने लिए प्रधान अधिकार अपनाने के लिए (जो कि राज्य के अधिकारियों के हाथ में आ गया था) पोप ग्रेगरी सप्तम ने एक प्रत्यादेश जारी किया जिसके द्वारा बिशपगण का राज्याधिकारियों के हाथों से पद ग्रहण करना निषिद्ध ठहरा दिया गया। इसका उल्लंघन करने वाले दोनों पक्षों को धर्म बहिष्कार का दण्ड दिया जा सकता था। पोप के दृष्टिकोण से ऐसा कदम उठाना नितान्त आवश्यक-था। चर्च द्वारा अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि उसके कर्मचारी पूर्ण रूप से उसके नियन्त्रण में रहें और उनकी नियुक्ति अथवा पद ग्रहण करने से राज्य का कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु, सम्राट् के अधिकार को यह एक गम्भीर चुनौती थी; क्योंकि यह बिशप मण्डलों के ऊपर उसके उस परम्परागत अधिकार का अपहरण करता था जो कि उसके लिए भी उतना ही आवश्यक था। बिशपगण उसके सामन्त सरदार थे; उसके प्रति उनके कुछ कर्तव्य थे और लौकिक विषयों में वे महत्वपूर्ण भाग लेते थे। जहाँ तक कि उनके इस स्वरूप और कार्य का सम्बन्ध था, उसके लिए यह एक जीवन और मृत्यु का प्रश्न था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी नियुक्ति का अधिकार स्वयं उसके हाथ में रहे या अन्य किसी वाह्य शक्ति के हाथ में जिसके ऊपर उसका कोई नियन्त्रण न हो। इसलिये हैनरी चतुर्थ ने इस प्रत्यादेश को मानने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार पोप तथा सम्राट् में संघर्ष खड़ा हो गया। सम्राट् ने अपने अधीनस्थ जर्मन पादरियों की एक सभा बुलाई और सम्राट् की इच्छानुकूल उसने पोप को पदच्युत करने का निर्णय किया क्योंकि उसके विचार में पोप ने अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं का उल्लंघन किया था। इसके उत्तर में ग्रेगरी ने हैनरी का धर्म वहिष्कार कर दिया और उसके सामन्त सरदारों को राजा के प्रति अपने कर्तव्यों से विमुक्त कर दिया। उसने एक प्रतिद्वन्द्वी राजा को हैनरी के सिंहासन पर दावा करने के लिये भी उकसाया। इसका वांछित प्रभाव पड़ा। सिंहासन छिन जाने के भय से वह दौड़ा हुआ कैनौसा गया जहाँ कि पोप ठहरा हुआ था और उससे सन्धि करनी चाही। पोप ने उसका घोर अपमान किया। उसने हैनरी से मिलने से पूर्व उसे तीन दिन तक कड़ाके के वरफ़ में अपने दरवाज़े पर प्रतीक्षा करने और माथा रगड़ने के लिए विवश किया। कुछ समय बाद हैनरी की बारी आई। जब उसका सिक्का फिर से जम गया तो उसने रोम को विजय कर लिया और पोप को देशनिकाला दे दिया। इस प्रकार उसने पोप से बदला चुकाया। किन्तु राज्य द्वारा विशपों के पद ग्रहण करने के प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया। इसी बीच में उस विवाद को खड़ा करने वाले दोनों पक्षों का अर्थात् पोप ग्रेगरी तथा सम्राट् हैनरी का देहावसान हो गया। उनके उत्तराधिकारियों, पोप पैस्कल द्वितीय तथा हैनरी पंचम में ११२२ ई० में वर्म्स (Worms) में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि किसी पद के खाली होने पर चर्च उसके लिये किसी व्यक्ति को चुनेगा और उसे आध्यात्मिक पद के चिह्न अंगूठी तथा दण्ड प्रदान करेगा, और सम्राट् उसे राजनीतिक और सामन्ती पद के प्रतीक 'रीगेलिया' (Regalia) से विभूषित करेगा। सैवाइन का कहना है कि विशपगण के चुनाव में भी सम्राट् को कुछ अधिकार दिया गया।

ग्रेगरी का हैनरी के सामन्तों को राजभक्ति से विमुक्त करने का अर्थ व्यावहारिक रूप से सम्राट् को पदच्युत करना ही था। यह एक ऐसा कदम था जो अब तक कभी नहीं उठाया गया; इससे हैनरी के समर्थकों को धक्का लगा और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसने एक नया और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न कर दिया। क्या चर्च के अधिकारियों को साम्राज्य की स्वाधीनता पर आक्रमण करने तथा अपनी स्वाधीनता को कायम रखने के लिये उसके शासक को पदच्युत करने का अधिकार था? पादरियों को पदासीन करने के ऊपर विवाद ने चर्च तथा साम्राज्य के सम्बन्ध का एक आधारभूत प्रश्न उत्पन्न कर दिया। इनके सार्वभौमिक शक्तियों के अधिकार-क्षेत्र की समस्या का बड़ी तत्परता और उत्सुकता के साथ विश्लेषण और परीक्षण किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप एकाएक एक वृहदाकार साहित्य की रचना हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रेगरी का आरम्भ विन्दु गेलेशियस का वह विख्यात सिद्धान्त था जिसके अनुसार दोनों शक्तियाँ, चर्च तथा राज्य, एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, इसलिये साम्राज्य के ऊपर वह किसी अधिकार का दावा नहीं करता था। "उसकी मौलिकता इस बात में थी कि उसने पूर्वपरिचित और सर्वस्वीकृत सिद्धान्तों में से उग्रतम व्यावहारिक परिणाम निकाले। उसमें अपनी शक्ति की चेतना थी और एक आध्यात्मिक संघटन का प्रधान तथा ईसाई द्वारा पीटर को समस्त आध्यात्मिक शक्ति का उत्तराधिकारी होने के नाते समस्त मानव आत्माओं के संरक्षण तथा कल्याण के लिये अपने आपको उत्तरदायी समझता था। हैनरी को पदच्युत करने का उसका स्पष्ट आधार वह आध्यात्मिक शक्ति थी जिसके द्वारा वह मनुष्य को बन्धनग्रस्त एवं बन्धनमुक्त कर सकता था; अन्तःकरण के न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में एक कानून विरुद्ध शपथ की बाध्यता से वह मुक्ति प्रदान कर सकता था।"*

सारांश यह कि अपने पूर्ववर्त्ती सन्त एम्ब्रोज़ की भांति ग्रेगरी की भी यह धारणा थी कि एक ईसाई होने के नाते सम्राट् नैतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में पोप के नियंत्रण तथा अनुशासन के अधीन था। और इसलिये पोप किसी पर्याप्त कारण के लिये उसे पदच्युत कर सकता था। ईसाई यूरोप के विषयों का निर्देशन करने में पादरीगण क्या भाग ले सकते थे और उन्हें लेना चाहिये था उसका सुन्दर वर्णन ग्रेगरी के अपने ही इन निम्नांकित शब्दों में, जो कि उसने १०८० में रोम में परिषद् के सामने कहे थे, इस प्रकार हैं: "होली फ़ादर्स (Holy Fathers) तथा सामन्तवर्ग, मेरा आपसे निवेदन है कि आप इस प्रकार आचरण कीजिये कि समस्त संसार को यह विदित हो जाये कि यदि स्वर्ग में बाँधने तथा मुक्त करने की आप में शक्ति है तो इस पृथ्वी पर भी साम्राज्य, राज्य, रियासतें तथा समस्त मनुष्यों की समस्त प्रकार की सम्पदा उन्हें गुणानुसार प्रदान करने तथा उनसे वापिस लेने का आप में सामर्थ्य है। ...... संसार के समस्त राजाओं को जानना चाहिये कि आप कितने महान् हैं और आप में कितनी शक्ति है; आपके चर्च की अवज्ञा करने से इन क्षुद्र मनुष्यों को डरना चाहिये।" †

* "His originality consisted in the extreme practical conclusions that he drew from premises already familiar and generally unquestioned. He began with a consciousness of his own power and responsibility as head of the spiritual order and as heir of all the spiritual authority entrusted by Christ to Peter for the welfare of the human souls of which he was the shepherd. He based his deposition of Henry specially on the spiritual power to bind and lose; as judge in the court of conscience the pope could absolve men from the binding effect of a bad oath." Ewart Lewis: *Medieval Political Ideas*, page 510.

† "So act, I beg you, holy fathers and princes that all the world

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्यवादी यह तो मानते थे कि पाप तथा आचरण विषयक प्रश्न चर्च के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं; किन्तु वे इस बात से इन्कार करते थे कि चर्च को एक शासक को धर्म-वहिष्कृत तथा पदच्युत करने का भी अधिकार है। ग्रेगरी का ध्येय कितना भी आध्यात्मिक क्यों न रहा हो किन्तु उसको हैनरी को धर्म-बहिष्कृत करना तथा उसकी प्रजा को राजभक्ति के कर्त्तव्य से विमुक्त करना विशुद्ध लौकिक विषयों में उसका हस्तक्षेप था। यह गलेशियस के 'दो तलवारों' के सिद्धान्त की अवहेलना थी। स्वयं हैनरी ने ग्रेगरी को यह लिखा था कि पवित्र फ़ादर्स की परम्परा के अनुसार और ईश्वर द्वारा राजपद प्राप्त करने के नाते वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था और धर्म-विमुख होने के अतिरिक्त अन्य किसी अपराध के लिए उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। ग्रेगरी ने आध्यात्मिक शक्ति की सीमाओं का उल्लंघन चाहे किया हो, चाहे न किया हो और राज्य की स्वाधीनता में उसने अनुचित हस्तक्षेप चाहे किया हो या न किया हो, किन्तु उसने हैनरी को हार मानने के लिये अवश्य विवश कर दिया। अपने साहस और दृढ़ता से उसने चर्च को साम्राज्य के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया। उस विवाद के फलस्वरूप चर्च पूर्ण रूप से एक समान और प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के रूप में खड़ा हो गया। इस विवाद का दूसरा परिणाम यह हुआ कि पोप की शक्तियों के विषय में हैनरी सप्तम की धारा अधिक प्रचलित हो गई। जो स्थिति उसने अपनाई थी उसमें यह वात सन्निहित थी कि वह समस्त चर्च संघटन का सर्वप्रभुत्वपूर्ण प्रधान है। उसके पास एक अद्वितीय पद था और एक अद्वितीय उपाधि थी। चर्च का सर्वोच्च अधिकारी होने के नाते विशपगण को नियुक्त और पदच्युत करने, चर्च की साधारण परिषद को समवेत करने तथा उसके प्रत्यादेशों को क्रियान्वित करने का केवल उसे ही अधिकार था। उसकी स्वीकति के विना कोई भी परिषद अधिकारपूर्ण कोई बात नहीं कह सकती थी और कोई भी पुस्तक अधिकृत नहीं समझी जाती थी। एक बार जो मामला उसके न्यायालय में आ जाता था उसका निर्णय कोई भी दूसरी शक्ति नहीं कर सकती थी। वह चर्च के लिये कानून वना सकता था। उसके जारी किये हुए प्रत्यादेशों को कोई भी रद नहीं कर सकता था; उसके कामों की कोई भी आलोचना नहीं कर सकता था; किन्तु ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते वह समस्त लौकिक शक्तियों के प्रत्यादेशों को रद कर सकता था। याद रहे कि उपरोक्त वातों का अर्थ पोप के कानूनी अधिकारों का कोई नियमवद्ध सिद्धान्त नहीं है बल्कि यह

---

may know that, if you have the power to bind and loose in heaven, you have power on earth to take away or to grant empires, kingdoms, principalities, dukedoms, marches, counties and the possessions of all men according to their merits .... Let kings and all the princes of the world learn how great you are and what power you have and let these small men fear to disobey the command of your Church." Quoted by Sabine from Carlyle.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके चर्च के प्रधान होने के एक परिणाम की साधारण अभिव्यंजना है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि पोप जिन शक्तियों का दावा करता था उनमें से बहुत सी तो 'मिथ्या प्रत्यादेशों' (False Decretals) में पाई जाती थीं जिन्हें ११वीं शताब्दी में सच्चा समझा जाता था। ये प्रत्यादेश वे अभिलेख्य हैं जिन्हें ९वीं शताब्दी में राज्य द्वारा बिशपगण को पदच्युत होने तथा उनकी सम्पत्ति को जब्त होने से बचाने के लिये घड़ा गया था। ऐसा तभी हो सकता था जब कि पोप को राज्याधिकारियों के ऊपर भारी शक्तियाँ प्राप्त हों।

११२२ में जो समझौता पैस्कल द्वितीय तथा हैनरी पंचम में हुआ, जिसका उल्लेख पहिले भी हो चुका है, उससे यह मौलिक समस्या हल नहीं हो पाई कि साम्राज्य तथा पोप-शाही में क्या सम्बन्ध है। जिन अधिकारों का उल्लेख उस समझौते में नहीं था उन पर प्रत्येक पक्ष अपना दावा जताने लगा। चर्च अधिकारियों ने धार्मिक प्रभुता पर ही संतोष न करके लौकिक शक्ति प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया और ऐसे दावे करने शुरु किये जो निश्चित रूप से राजनीतिक थे और इसलिये सम्राट् के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इस लिये पोपशाही तथा जर्मनी के सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा (Frederick Barbarossa) तथा उसके उत्तराधिकारियों के बीच एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। जर्मन सम्राट् पोप की शक्ति के विस्तार को न रोक सके जोकि सारी १२वीं शताब्दी में बढ़ती रही और इन्नोसेण्ट तृतीय के काल में चरमसीमा को जा पहुँची जिसने कि यूरोप के सब से शक्तिशाली शासकों को अपनी आज्ञा मानने के लिये बाध्य कर दिया। निर्वाचन तथा राज्याभिषेक के मामलों में वह रोमन साम्राज्य में अपरिमित शक्तियों का प्रयोग करता था; वह लोगों के सम्राट् होने के दावे को उतनी ही सरलतापूर्वक रद कर देता था जैसे कि हैनरी तृतीय ने ग्रेगरी पोप को उपाधि पद से हटा दिया था। उसने कई राजकुमारों को राजा की उपाधि से विभूषित किया। उसने अपने उपदेश में यह घोषणा की कि आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के विषयों में चर्च ने उसे अपरिमित शक्तियाँ प्रदान की हैं। वह १२१६ ई० में मर गया; फ्रेडरिक द्वितीय का शासन उस समय आरंभ ही हुआ था जो इस बात का दावा करता था कि (१) साम्राज्य के प्रशासन में वह पोप से स्वतंत्र है, (२) ईश्वर ने उसे प्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रदान की है, पोप के माध्यम द्वारा नहीं। धार्मिक विषयों में वह पोप के अधिकार को स्वीकार करता था, किन्तु लौकिक विषयों में उससे इन्कार करता था। पोप इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने इसका यह उत्तर दिया कि दैविक आदेश द्वारा लौकिक विषयों के ऊपर भी पोप का अधिकार है, जो राजाओं को अपनी शक्ति सौंप सकता है; इस प्रकार राजा उसके अधीन हैं। सारांश यह कि इन्नोसेण्ट चतुर्थ ने औपचारिक रूप से यह घोषणा कर दी कि सम्राट् के अधिकार का स्रोत पोप है। इस सिद्धान्त को कैनोनिस्ट्स (Canonists) के प्रभाव के अन्तर्गत लागू किया गया जिनके ऊपर रोमन न्याय शास्त्र के अध्ययन के पुनरुत्थान का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था। १२५० ई० में फ्रेड्रिक द्वितीय की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु हो जाने से चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होता था कि उसको पूर्ण विजय प्राप्त हो गई है। फलतः उसके दावे और भी बढ़ गये। परन्तु फ्रांस के राजा फिलिप दि फेयर (Philip the Fair) के रूप में उसके सामने शीघ्र ही एक नया शत्रु आ खड़ा हुआ। उसके साथ राज्य तथा पोपशाही का संघर्ष एक नवीन स्थिति में प्रवेश करता है और पोपशाही का ह्रास आरम्भ होता है। १४वीं शताब्दी के प्रारंभ में फिलिप दि फेयर तथा बोनीफ़ेस अष्टम के मध्य संघर्ष का वर्णन करने से पूर्व हम उन तर्कों और युक्तियों पर दृष्टिपात करेंगे जो कि उभय पक्ष अपने अपने दावे के समर्थन में पेश करते थे।

राज्य तथा चर्च का संबन्ध (१) राज्य की प्रभुता— राज्य तथा चर्च के बीच के सम्बन्ध में तीन धारणायें सम्भव हो सकती हैं; और वास्तव में तीनों ही को मध्य युग में विभिन्न समयों पर अपनाया गया। प्रथम, कुछ लोग ऐसे थे जिनका विश्वास यह था कि राजा, चाहे उसकी शक्ति का स्रोत ईश्वर हो, चाहे जनता, अपने राज्य में लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों विषयों में सर्वोच्च है। इस विचार के अनुसार धर्म राज्य का एक विभाग है और चर्च उसके अधीन है। कांस्टेण्टाइन तथा उसके उत्तराधिकारी, शार्लमैग्ने तथा ऑटो प्रथम की यही धारणा थी। फ्रेडरिक द्वितीय ने भी इसका औपचारिक समर्थन किया। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, ११वीं शताब्दी तक, जबकि हैनरी चतुर्थ तथा ग्रेगरी सप्तम में झगड़ा खड़ा हुआ, सम्राटों का पोपशाही के ऊपर नियन्त्रण राजनीतिक जगत का एक वास्तविक तथ्य था। परन्तु इस युग में चर्च पर राज्य के नियन्त्रण का किसी क्रमबद्ध और सुस्पष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। कहीं १२वीं शताब्दी में जाकर, जबकि बोलोग्ना (Bologna) के विश्वविद्यालय में रोमन कानून का अध्ययन फिर से आरम्भ हुआ, इस सिद्धान्त का युक्तियों द्वारा समर्थन किया गया। दान्ते (१२६५ से १३२१) तथा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ वे दो प्रसिद्ध लेखक हैं जिन्होंने चर्च की राज्य के प्रति अधीनता का एक युक्तियुक्त सिद्धान्त पेश करने का प्रयत्न किया। परन्तु उनकी रचनाओं का उद्देश्य राज्य की स्तुति करना इतना नहीं जितना कि चर्च की निन्दा करना है। उनके सिद्धान्तों की विवेचना अगले अध्याय में की जायेगी।

(२) **चर्च की प्रभुता—** जैसे जैसे पोप ग्रेगरी के आन्दोलन के समय से चर्च की शक्ति बढ़ी और उसने एक शक्तिशाली संघटन को विकसित किया तो दूसरे सिद्धान्त का निर्माण किया जाने लगा। इसके अनुसार चर्च राज्य से श्रेष्ठतर है और राज्य चर्च के अधीन है। मध्य युग के मध्य भाग में, विशेषकर ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १३वीं शताब्दी के अन्त तक, इस सिद्धांत का बोलबाला रहा। पोपशाही तथा साम्राज्य के मध्य चलने वाले लम्बे संघर्ष के बीच में पहिले चर्च की साम्राज्य के ऊपर तथा फिर पोप की सम्राट् के ऊपर प्रभुता का एक सुनिश्चित सिद्धान्त विकसित किया गया। लायन्स के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिशप अगोवार्ड, रोम्स के आर्कबिशप हिंकमार, पोप निकोलस प्रथम, पोप ग्रेगरी सप्तम, मेलगोल्ड ऑफ लूटरबैक, सन्त बर्नार्ड, जॉन ऑफ सेलिस्बरी, सन्त टॉमस एक्वीनास तथा पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के नाम इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में अग्रगण्य हैं। इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप इन्नोसेण्ट तृतीय के लेखों में मिलता है जिसके काल में चर्च की शक्ति चरम सीमा को जा पहुँची थी।

इन सब के विचारों की अलग अलग विवेचना करना यहाँ संभव नहीं। हम उनकी मुख्य युक्तियों का सार ही यहाँ दे सकते हैं। इस विषय में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस विवाद में दो अलग अलग प्रश्न सम्मिलत थे : (१) चर्च की प्रभुता, तथा (२) धार्मिक तथा लौकिक, दोनों क्षेत्रों में पोप की प्रभुता। पहिली बात को पुष्ट करने के लिये ही ग्रेगरी सप्तम तथा इन्नोसेण्ट तृतीय सरीखे शक्तिशाली पोपों ने दूसरी बात पर बल दिया था। इस विवाद के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, चाहे वे चर्च की ओर से हों अथवा राज्य की ओर से, उन सब का आरम्भ-बिन्दु दो तलवारों अथवा शक्तियों का सिद्धान्त था जिसकी विवेचना पहिले ही की जा चुकी है। पोप गेलेशियस के निम्नलिखित शब्दों में उसका सार यह है : "इस संसार पर दो शक्तियों का शासन है, एक पादरियों का और दूसरा राजकीय। इनमें से पादरीगण की शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्तिम निर्णय के समय उन्हें स्वयं राजाओं के कार्यों के लिए उत्तर देना है।"* चर्च के समर्थक इस उद्धरण के अंतिम वाक्य को आधार मानते थे। हिंकमार जब जब भी इस विषय को छेड़ता था तभी इसका उल्लेख करता था और ग्रेगरी सप्तम ने भी हैनरी चतुर्थ के साथ अपने विवाद के समय इसका प्रयोग किया। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि धर्म अधिकारियों का अधिकार स्वभाव से ही लौकिक शक्ति की अपेक्षा अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण है। सन्त एम्ब्रोज़ ने एक बार कहा था कि बिशपगण के वैभव के सामने राजाओं का वैभव ऐसा है जैसा कि सोने की आभा के सामने रांगे की चमक। इसी प्रकार पोप सिलवेस्टर ने कहा था कि राजाओं को यह याद रखना चाहिये कि उनके मुकुट बिशपगण के दण्ड (Mitres) के सामने उतने ही हेच हैं जितना कि रांगा सोने के सामने। आत्मा तथा शरीर और सूर्य तथा चन्द्रमा के दृष्टान्त देकर भी इस उक्ति का समर्थन किया जाता था। जिस प्रकार कि आत्मा शरीर से श्रेष्ठतर है और जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक कांतिमान् है इसी प्रकार बिशपगण का अधिकार राजाओं की शक्ति से अधिक वैभवपूर्ण और गरीयसी है। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय ने इस विचार को कहीं अधिक ज़ोरदार शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया था : "जैसे सृष्टि

* "There are two systems under which this world is governed, the sacred authority of the priests and the royal power. Of these the greater weight is with the priests in so far as they will answer to the Lord even for kings in the last judgment."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रचयिता— परमात्मा ने आकाश में दो प्रकाश-स्तम्भ खड़े किये, बड़ा दिन में शासन करने के लिये और छोटा रात में, वैसे ही उसने भू-लोक में भी दो अधिकारी नियुक्त किये, बड़ा दिन पर, अर्थात् आत्मा पर, शासन करने के लिए और छोटा रात पर, अर्थात् शरीर पर। वे दो अधिकारी हैं— पोप की शक्ति तथा राजकीय शक्ति। और जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है और गुण, आकार, स्थिति तथा प्रभाव में उससे हीन होता है, उसी प्रकार राजकीय शक्ति भी अपनी वैभव-आत्मा पोप की शक्ति से प्राप्त करती है।'†

चर्च के अधिकारियों की श्रेष्ठता और महत्ता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क भी पेश किया गया कि कोई राजा या सम्राट् शैतान को नष्ट नहीं कर सकता था और पापी की आत्मा को मुक्ति नहीं दिला सकता था; इतना ही नहीं, राजाओं और सम्राटों को तो स्वयं धर्म-दीक्षा और मुक्ति प्राप्त करने के लिये नम्रतापूर्वक पादरियों की सेवा में उपस्थित होना चाहिये। सारांश यह कि क्योंकि आत्मा शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है इसलिये आत्मा का कल्याण करने वाला भी शरीर के कल्याण करने वाले से श्रेष्ठतर है।

जिस चीज़ ने पादरियों को राज्य के ऊपर शक्ति प्रदान की वह था नैतिक प्रश्नों का चर्च के अधिकार क्षेत्र में होना जिसे सभी स्वीकार करते थे। समस्त ईसाई जगत में यह एक सर्वव्यापक विश्वास था कि ईश्वर ने पादरियों को शासकों के उद्देश्यों तथा चरित्र का निरीक्षण एवं संशोधन करने का अधिकार प्रदान किया है। शासकगण सांसारिक व्यक्ति थे और समस्त सांसारिक व्यक्तियों में भी उनसे पापमय हो जाने की सब से अधिक सम्भावना थी। इसलिये पादरियों द्वारा परिशोधन की उन्हें सब से अधिक आवश्यकता थी। चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलान के बिशप सन्त एम्ब्रोज़ ने सम्राट् वैलेन्टीनियन को यह लिखा था कि धर्म के विषय में 'बिशपगण को सम्राटों की आलोचना करने का अधिकार है, सम्राटों को बिशपों की आलोचना का अधिकार नहीं है।' एक दूसरे अवसर पर उसने प्रार्थना का संचालन करने से इन्कार कर दिया जब तक कि सम्राट् थ्योडोसियस जिसने कि एक पाप किया था वहाँ से न हट गया। एक नैतिक प्रश्न होने के कारण ही पोप निकोलस प्रथम राजा लोथेयर को अपनी परित्यक्ता

† "As God, the creator of the universe, set two great lights in the firmament of heaven, the greater to rule the day, and the lesser to rule the night, so He set two great dignitaries in the firmament of the universal Church, the greater to rule the day— that is, souls— and the lesser to rule the night— that is, bodies. These dignitaries are the papal authority and the royal power. And just as the moon gets her light from the sun, and is inferior to the sun in quality, quantity, position and effect, so the royal power gets the splendour of its dignity from the papal authority."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मपत्नी को फिर से ग्रहण करने तथा अपनी एक प्रेयसी को त्यागने के लिये विवश कर सका था। यदि राजा किसी घोर पाप का अपराधी होता था तो उसे धर्म-बहिष्कृत किया जा सकता था। ग्रेगरी सप्तम ने धर्म-बहिष्करण की उपसिद्धि के रूप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि एक धर्म-बहिष्कृत राजा प्रजा की भक्ति का पात्र नहीं हो सकता था। इसलिये धर्म-बहिष्करण पोप के हाथ में एक सबसे अधिक भयावह शस्त्र था क्योंकि धर्म-बहिष्करण का अर्थ पदच्युति था। धर्म-बहिष्कृति के परिणामस्वरूप सिंहासन खो बैठने के भय के कारण ही तो हैनरी चतुर्थ को पोप के सामने झुकना तथा कैनोसा का अपमान सहन करना पड़ा। यह स्पष्ट रूप से दो तलवारों के सिद्धान्त का उल्लंघन था। यदि राज्याधिकार का औचित्य अन्तिम रूप से पोप के निर्णय के ऊपर निर्भर करता था तो फिर राज्य चर्च के समान कहाँ रहा; वह तो निश्चित रूप से उसके अधीन हो गया।

उपरोक्त तर्क का निष्कर्ष केवल यह है कि धर्माधिकारी की शक्ति लौकिक शासक की शक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ और अधिक दैविक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय शक्ति का स्रोत पोप है, अर्थात् लौकिक विषयों में पोप राजा या सम्राट् से ऊपर है, या उसे कोई लौकिक अधिकार प्राप्त है। यह पोप को राजा अथवा सम्राट् के कार्यों को नियन्त्रित और परिशोधित करने का अधिकार केवल उसी हद तक देता है जहाँ तक उसमें कोई नैतिक प्रश्न सम्मिलित हो; लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार यह उसे नहीं देता। परन्तु १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दी में पोपशाही के हिमायती यहाँ तक कहने लगे कि लौकिक शासक ईश्वर से अपनी शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि चर्च के माध्यम द्वारा प्राप्त करते हैं, इसलिये लौकिक विषयों में भी वे पोप के अधीन हैं। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के उद्धरण के, जिसका उल्लेख हमने पिछले पृष्ठों में किया है, अन्तिम वाक्य का तर्क यही है। उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि चन्द्रमा की ज्योति उसकी अपनी नहीं होती बल्कि सूर्य से प्राप्त की हुई होती है, इसी प्रकार राजकीय शक्ति भी राजपद में ही निहित नहीं होती बल्कि वह राजा को पोप द्वारा दी जाती है। लौकिक शासकों के ऊपर पोप की प्रभुता के तर्क में इस नवीन तत्त्व का समावेश १२वीं शताब्दी में ओनोरियस (Honorius) ने किया। उसका तर्क था कि धर्म का अधिकार राजकीय अधिकार से प्राचीन है। प्राचीन काल में कोई राजा नहीं था; समस्त शक्ति का प्रयोग पादरीगण ही करते थे। ओल्ड टेस्टामेण्ट (The Old Testament) के युग के इतिहास से प्रगट है कि मूसा से लेकर सैमुअल के ज़माने तक इज़राइल की सन्तान पर पादरियों का शासन था। उनका पहिला राजा सॉल था जिसे पादरी सैमुअल ने राज्याधिकार सौंपा था। यह इस बात का प्रमाण समझा जाता था कि राजकीय पद का जन्म पादरियों द्वारा हुआ। दूसरी युक्ति यह दी गई कि ईसा ने, जिसके पास धर्म तथा राज्य दोनों की शक्तियाँ थीं, कुंजियाँ पादरी पीटर को सौंपी, किसी राजा को नहीं। पीटर ने आध्यात्मिक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिक शक्तियों की प्रतीक ये कुंजियाँ अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दीं जो कि पोप होने के नाते धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि थे। पोपों ने आध्यात्मिक शक्ति को अपने पास रख लिया और लौकिक शक्ति को सांसारिक अधिकारियों को हस्तांतरित कर दिया। इस तर्क से परिणाम यह निकाला गया कि सम्राट अपनी शक्ति का प्रयोग पोप का एक अभिकर्त्ता होने के नाते और उसकी ओर से करता और इसलिये वह पोप के प्रति उत्तरदायी था। जब तक पादरी राजा को दीक्षित न करे तब तक राज्यशक्ति धर्मसंगत नहीं हो सकती थी। इसकी भी यही व्याख्या की गई कि राजकीय शक्ति निस्रेतात्मक है। लौकिक विषयों में पोप के प्रत्यक्ष अधिकार के दावे की सब से अधिक स्पष्ट और सब से अधिक निश्चित अभिव्यक्ति जॉन ऑफ सैलिस्बरी ने की है। उसके विचारों का उल्लेख आगे चल कर किया जायेगा। डनिंग का कहना है कि मध्यकालीन राजनीतिक सिद्धान्त के ऊपर इज़राइली राज्य की धारणा का बहुत प्रभाव पड़ा था जिसके अनुसार राज्य तथा उसके संस्थानों का स्वरूप धर्मतन्त्री है। "सरकार का प्रशासन उन कानूनों के अधीन तथा उन अंगों के द्वारा चलता है जिनका जन्म प्रभु-इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यंजना का फल है। पादरी, न्यायाधीश तथा देवदूत ईश्वर के प्रत्यक्ष आदेशों के अधीन राज्य में गम्भीरतम कार्य करते हैं। और इज़राइल में जब राजकीय शासन स्थापित होता है तो राजाओं को प्राचीन धर्मतन्त्री परम्पराओं से जकड़ा हुआ दिखाया जाता है और ऐसा जाहिर होता है कि उनकी शक्ति का मूल तथा प्रयोग दोनों ही पादरियों तथा पैगम्बरों द्वारा निर्धारित होता है जिनके द्वारा ईश्वर की इच्छा अभिव्यक्त होती है।"* पोपशाही के हिमायतियों ने साम्राज्यवादियों के साथ अपने विवाद में ओल्ड टेस्टामेण्ट से बहुत लाभ उठाया।

पोपशाही का समर्थन करने के लिये कुछ लेखकों ने 'कॉन्स्टेन्टाइन के दान' (Donation of Constantine) की घटना का प्रयोग किया। कहा जाता है कि जब कॉन्स्टेन्टाइन महान् अपनी राजधानी रोम से कुस्तुनतुनिया में ले गया तो उसने साम्राज्य के पश्चिमी भागों का राज्याधिकार पोप सिल्वैस्टर को प्रदान कर दिया। पोप ने चर्च की रक्षा के लिये राजमुकुट तथा लौकिक शक्ति को तो स्वयं कॉन्स्टेन्टाइन को ही सौंप दिया

* "Government is administered under laws and through organs whose existence is derived from the direct manifestation of God's will. The Levitical priesthood, the judges and the prophets perform the gravest functions in the state under immediate divine mandates. And when royalty is established in Israel, the kings are represented as hedged about by the ancient theocratic traditions, and as commonly determined, in both the origin and exercise of their power, by priests and prophets, through whom the will of God is manifest."

—Dunning: *op. ct.*, page 164.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धार्मिक विषयों का अधिकार स्वयं अपने ही हाथों में रख लिया। इसका अर्थ यह लगाया गया कि उस समय से पश्चिम के समस्त सम्राट् अपनी शक्ति पोप से प्राप्त करते हैं। और उसके अभिकर्ताओं तथा उसी की ओर से काम करते हैं। चतुर लेखकों ने इस युक्ति का अधिक प्रयोग नहीं किया क्योंकि इसमें यह बात निहित थी कि पोप की शक्तियों का स्रोत सम्राट् था, न कि ईश्वर।

ईसाई युग की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया जिनमें यह बात निहित थी कि सम्राट् की शक्ति का स्रोत पोप है। यह कहा गया कि मेरोविन्गियन्स के अन्तिम राजा शिलपरिक को अपनी अक्षमता के कारण पोप जकरिया ने पदच्युत किया और पोप लियो तृतीय ने शार्लीमैग्ने को मुकुट प्रदान किया। पोप द्वारा इस राज्याभिषेक का अर्थ यह लगाया गया कि पोप ने राजा को राज्यशक्ति प्रदान की और जो व्यक्ति शक्ति प्रदान करता है वह उसे वापिस भी ले सकता है।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि पोपशाही के समर्थकों ने बाइबिल के कतिपय कथनों की इस ढंग से व्याख्या की कि उनसे उनकी धारणा को सम्बल मिलता था। ईसा ने पीटर को यह आदेश दिया: 'मेरी भेड़ों को चराओ' (Feed my sheep)। इसका अर्थ यह लगाया गया कि पोप को मनुष्य के ऊपर अभिवेक्षण का वैसा ही अधिकार है जैसा कि एक चरवाहे को अपनी भेड़ बकरियों के ऊपर होता है; इस अधिकार से राजागण भी अभिमुक्त नहीं थे। ईसा के भेड़ समूह के चरवाहे अर्थात् मनुष्य समाज के संरक्षक के नाते पोप का यह कर्त्तव्य था कि वह एक भी भेड़ अर्थात् एक भी मनुष्य को कोई आघात न पहुँचने दे। अपने इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए वह जो आवश्यक समझे सो कर सकता था, उदाहरण के लिये वह एक पापी तथा अत्याचारी राजा को हटा कर उसके स्थान में दूसरे के निर्वाचन को स्वीकार कर सकता था।

चर्च तथा उसके अधिकारियों की ओर से इतने बड़े बड़े दावे और उनके समर्थन में पेश की हुई युक्तियाँ आज हमें हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। हमारी समझ में यह आना बड़ा कठिन है कि हैनरी चतुर्थ जैसे सम्राट् को पोप ग्रेगरी ने किस प्रकार अपने द्वार पर तीन दिन तक कड़ाके के बरफ में पड़ा रहने और नाक रगड़ने के लिये विवश कर दिया और न ही सरलतापूर्वक इस बात को समझ सकते हैं कि शक्तिशाली सम्राटों तथा पोपशाही के संघर्ष में किस प्रकार पोप की शक्ति बढ़ी और अन्त में उसकी विजय हुई। इस आश्चर्यजनक घटना का कारण यह है कि पहल पोपवादियों के हाथ में होने के कारण उन्हें प्रारम्भिक सफलता प्राप्त हो सकी। उनके विरोधी इस बात से तो इन्कार नहीं कर सकते थे कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से श्रेष्ठतर है; इसलिये उन्हें सदैव अपना बचाव ही करना पड़ता था, पोपवादियों के ऊपर प्रत्यक्ष आक्रमण वे नहीं कर सकते थे; वे धर्म-बहिष्कार जैसे दमनकारी क़दम भी नहीं उठा सकते थे जो कि पोप के हाथ में बहुत बड़ा हथियार थे। जब तक कि १४वीं शताब्दी में मार्सीलियो की भाँति राज्य के समर्थकों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादरियों की प्रत्येक दमनकारी शक्ति को नहीं ठुकराया तब तक उन्हें पोपशाही के विरुद्ध अपना सदैव बचाव ही करना पड़ा और जो व्यक्ति सदा बचाव में ही रहता है वह कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता। उन्होंने दो तलवारों के सिद्धान्त की जड़ पर आघात नहीं किया; इसलिये पोपशाही के सामने झुकने के अतिरिक्त उनके सामने और कोई मार्ग ही न था। पोपशाही की विजय के कारणों को प्रोफ़ेसर डनिंग ने निम्नलिखित शब्दों में सबसे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है: "कानूनी विवादों के बहुत से विषयों में परम्परा तथा जनता की भावना के समर्थन के कारण चर्च को अधिकार प्राप्त था; प्रत्येक आध्यात्मिक विषय के ऊपर उसका नियन्त्रण था; पाप से सम्बन्धित प्रत्येक विषय उसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था; और अपने निर्णयों को मनवाने के लिये उसे राजाओं को पदच्युत करने तक का अधिकार था। ऐसी विस्तृत शक्तियों के होते हुए मध्यकालीन चर्च निश्चित रूप से ही एक सर्वशक्तिशाली राजनीतिक संस्था थी; यदि सैद्धान्तिक रूप से ऐसा न था तो एक वास्तविक तथ्य तो यह अवश्य था।"*

(३) राज्य की स्वाधीनता— राज्य तथा चर्च के परस्पर सम्बन्धों के दो उपरोक्त उग्रवादी अथवा अतिवादी सिद्धान्तों के अतिरिक्त एक तीसरा सिद्धान्त भी है जिसे हम मध्यवर्ती सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पोप तथा सम्राट् एक दूसरे के समकक्ष हैं; उनकी शक्तियाँ समान हैं और उनमें से प्रत्येक का अलग कार्यक्षेत्र है और उनके अलग अलग कर्तव्य हैं। चर्च को आध्यात्मिक विषयों तक और राज्य को लौकिक विषयों तक सीमित रहना चाहिये और एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'दो तलवारों के सिद्धान्त' के नाम से आदिकालीन पोपों ने किया था जिन्हें कि अग्रसारी प्रवृत्ति वाले सम्राटों के विरुद्ध चर्च की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करना पड़ा था। ११वीं शताब्दी में पद-विभूषण (Investiture) के ऊपर विवाद खड़ा हो जाने के उपरान्त इस सिद्धान्त का विकास हैनरी चतुर्थ, और फ्रेड्रिक प्रथम, फ्रेड्रिक द्वितीय तथा अन्य सम्राटों के समर्थकों ने किया था। उन्हें हम साम्राज्यवादी कह सकते हैं। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं उनका रवैया केवल बचाव करने का था। परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें गेलेशियस के दो तलवारों के सिद्धान्त को

* "With a wide basis in custom and public sentiment for the exercise of jurisdiction over many cases of legal controversies; with an extensive control of such as could be shown to be spiritual in character; with the facility for extending this control that inhered in the doctrine that it embraced whatever actions were in any way tainted with sin; and with the power to enforce its interpretation of its authority by the deposition of secular rulers from power— the medieval church was in fact, if not in theory, a most political potent institution."

—Dunning: *op. ct.*, page 176.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी युक्तियों का आधार बनाना पड़ा था। उनमें से अधिकतर सिद्धान्त की अपेक्षा इतिहास का आश्रय अधिक लेते थे। पोप की शक्ति के आधार के विरुद्ध उन्हें कोई आपत्ति न थी; वे तो केवल पोप के उन दावों का विरोध करते थे जो उनके मतानुसार अनुचित थे और इतिहास में जिनका कोई जोड़ न था। फलतः उनकी युक्तियों में वह ज़ोर न था जोकि पोपवादियों की युक्तियों में आम तौर से पाया जाता था। उनकी युक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

उनकी स्थिति की आधारशिला यह है कि राज्य को शक्ति ईश्वर की ओर से प्रत्यक्ष रूप से मिली है, चर्च के माध्यम द्वारा नहीं। इसलिये राज्य भी ऐसी ही देवस्थापित संस्था है जैसी कि चर्च। अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिये सम्राट् ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, पोप के प्रति नहीं। ईश्वर के अतिरिक्त और कोई उसके कार्यों का निर्णय और उसे दण्डित नहीं कर सकता। हेनरी चतुर्थ ने ग्रेगरी सप्तम को लिखे गये अपने पत्र में जो स्थिति अपनाई थी उसका यही सार था। आगे चलकर ११५२ ई० में सम्राट फ्रेड्रिक प्रथम ने पोप यूजीनियस को इसी आशय के निम्नलिखित शब्द लिखे, "ईश्वर ने दो शक्तियाँ पोपशाही तथा साम्राज्य स्थापित की हैं जिनके द्वारा इस संसार का शासन चलना चाहिये।" एक दूसरे प्रसंग में उसने यह घोषणा की: "इस राज्य तथा साम्राज्य के ऊपर हमारा अधिकार केवल ईश्वर द्वारा दिया हुआ है जिसने अपने पुत्र की दया भावना के कारण इस संसार को दो शक्तियों के शासन में रक्खा। इसके अतिरिक्त ईसा के शिष्य ने कहा है कि 'ईश्वर से डरो और राजा का सम्मान करो।' इसलिये जो यह दावा करता है कि हमारा मुकुट हमें पोप से मिली हुई एक जागीर के रूप में है वह दैविक संस्था का विरोध करता है, पीटर की शिक्षाओं का विरोध करता है और वह झूठा है।"† इस धारणा का समर्थन सन्त पाल के इस कथन से भी होता था कि "जो भी शक्ति है, ईश्वर की है। जो कोई भी शक्ति का विरोध करता है वह ईश्वर के आदेश का विरोध करता है।" पीटर ने ईश्वर के लिए मनुष्य के प्रत्येक आदेश का पालन करने, और राजा तथा उसके कर्मचारियों का आज्ञापालन करने का भी आदेश दिया था। पोपशाही के समर्थक इसका उत्तर यह देते थे कि पीटर का उक्त आदेश जनसाधारण के लिये है, पादरियों के लिये नहीं। एक न्यायी राजा जिस सम्मान और भक्ति का पात्र हो सकता है, एक अन्यायी राजा कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त वे धर्म-ग्रन्थों में से भी कई उद्धरण ऐसे दे सकते

† "We hold this kingdom and empire through the election of the princes from God alcne, who by the Passion of his son placed this world under the rule of two swords. Moreover, the Apostle says: 'Fear God and Honour the King'. Therefore, whoever asserts that we hold the imperial crown as a benefice from the Pope, resisteth the divine institution, contradicts the teachings of Peter, and is a liar."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे जो स्पष्ट रूप से राजविरोधी थे। इस युक्ति ने विकसित होकर राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त का रूप धारण किया।

सम्राट के लौकिक विषयों के ऊपर पोप के नियन्त्रण के दावे के विरुद्ध साम्राज्यवादियों की युक्ति यह थी कि यह दावा ईश्वरीय व्यवस्था के विरुद्ध है क्योंकि इसका अर्थ है आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों का एक ही हाथ में केन्द्रित हो जाना। हेनरी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पोप ग्रेगरी इन दोनों शक्तियों को अपने हाथ में लेना चाहता था। आशा यह की जाती थी कि पोप के इस आक्रमण का अधिक नम्र पादरियों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

सम्राट् के पक्ष में उपरोक्त युक्ति का स्वरूप धार्मिक था; इसमें तार्किक विकास की गुंजायश इतनी नहीं थी जितनी कि एक दूसरी युक्ति में जिसे न्यायविदों ने पेश किया जोकि इस विवाद में उल्लेखनीय भाग लेने लगे थे। जैसा कि सैबाइन का कथन है, अन्ततोगत्वा न्यायविद ही राज्य के सबसे अधिक प्रभावक समर्थक सिद्ध हुए। परन्तु यह विकास १४वीं शताब्दी में राजा फिलिप दी फेयर और पोप बोनीफेस अष्टम के संघर्ष के बीच में हुआ। १२वीं शताब्दी में तो इसका पीटर क्रेसस ने केवल श्रीगणेश किया था जोकि रेवेना में रोमन कानून पढ़ाता था। राज्य के पक्ष में उसने एक ऐसी युक्ति का प्रयोग किया जो अन्यत्र नहीं पाई जाती थी। उसने कहा कि हैनरी को अपना सिंहासन उत्तराधिकार के सिद्धान्त के द्वारा मिला है; उसने उसे न तो पोप से प्राप्त किया है और न जनता से। इसलिये उसे पदच्युत करना एक व्यक्ति की निजी सम्पत्ति का अपहरण करना है जिसकी कानून कभी स्वीकृति नहीं देता। इस युक्ति का आंतरिक महत्त्व इतना नहीं है जितना कि इस बात के कारण कि यह 'राज्यशक्ति के समर्थन के लिये कानूनी धारणाओं को प्रयोग करने की नवीन प्रवृत्ति की ओर इंगित करता है।'

क्रेसस की युक्ति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है वह युक्ति जो कि यॉर्क ट्रेक्ट्स (York Tracts) में अपनाई गई है, जो 'इङ्गलैण्ड के राजा हैनरी प्रथम के समर्थन में आर्कबिशप एन्सूलीम के विरुद्ध' लिखे गये थे। उनका लेखक पोपवादियों की दो सब से अधिक महत्त्वपूर्ण धारणाओं, अर्थात् राजा की अपेक्षा पादरी का अधिक श्रेष्ट होना और अन्य विशपगण की अपेक्षा पोप का श्रेष्ठ होना— का खंडन करता है। पहिली धारणा के विषय में उसका विचार है कि राजा की शक्ति पादरी की शक्ति से उच्चतर है क्योंकि राजपद का स्वरूप दैविक है। यह बात कि बिशप राजा को पद-प्रतिष्ठित करता है किसी भी दृष्टिकोण से इस बात का प्रमाण नहीं कि वह राजा से श्रेष्ठ है। अन्यथा वे समस्त कार्डीनल जोकि पोप को पदप्रतिष्ठित करते हैं पोप से श्रेष्ठ होते। पदप्रतिष्ठान में कोई श्रेष्ठता निहित नहीं है; यह तो केवल एक संस्कार का सम्पन्न करना है। अन्य विशपगण के ऊपर पोप की प्रभुता से उसका इन्कार और भी अधिक चकित करने वाला है। वह कहता है कि समस्त विशप समान हैं; उन सब को ईश्वर की ओर से एक ही प्रकार की शक्ति प्राप्त है; इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये पोप की उनके ऊपर कोई प्रभुता नहीं है। ग्रेगरी जिन शक्तियों का दावा करता था वह तो केवल शक्ति का अपहरण था। यॉर्क ट्रेक्ट्स का लेखक किस आधार पर इस परिणाम पर पहुंचा उसका विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी युक्तियों को यदि अपने तार्किक अन्त तक ले जाया जाये तो हम प्रोटेस्टेण्टवाद के केन्द्रीय विन्दु पर जा पहुँचेंगे। यह मनुष्य का निर्णय उसके पद से नहीं बल्कि उसके कर्म और चरित्र से करना चाहता है।

क्रेसस की इस युक्ति के कि क्योंकि वंशानुगत उत्तराधिकार अटल है इसलिये पोप को किसी सम्राट् को पदच्युत करने का कोई अधिकार नहीं हैं, पोपवादियों ने दो उत्तर दिये: (१) यह कि राजा का अधिकार पद के कारण है, वह उसका व्यक्तिगत अधिकार नहीं है; (२) यह कि प्रजाजन का राजाज्ञापालन का कर्त्तव्य निरपेक्ष नहीं है बल्कि वह इस शर्त के ऊपर निर्भर करता है कि राजा अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करे। एक अन्यायी और अत्याचारी राजा को पोप पदच्युत कर सकता है। इस उत्तर का अर्थ यह है कि एक सच्चे राजा तथा आततायी में भेद है और जनता को एक आततायी की न केवल अवज्ञा करने का बल्कि उसे पदच्युत करने का भी अधिकार है। जॉन ऑफ़ सेलिस्वरी तो यहाँ तक कहता है कि आततायी की हत्या कर देना भी उचित है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिये इस उत्तर का एक महत्त्व यह भी है कि इसमें राजनीतिक कर्त्तव्य का संविदात्मक स्वरूप निहित है। यदि शासक अन्यायी है और उसी व्यवस्था को नष्ट करता है जिसे सुरक्षित रखना उसका कर्त्तव्य है तो जनता को उसकी अवहेलना करने का अधिकार है; ऐसे शासक की आज्ञा-पालन करने का उनका कोई कर्त्तव्य नहीं। इस सम्बन्ध में मेनगोल्ड के शब्द उद्धरणीय हैं। वह लिखता है: "यदि राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार वह चुना गया था; यदि वह उन्हीं चीज़ों को अस्त व्यस्त करता है जिन्हें व्यवस्थित करना उसका कर्तव्य था तो बुद्धि की माँग यह है कि जनता उसके प्रति आज्ञा-पालन के कर्तव्य से मुक्त हो जाती है, विशेषकर जबकि उसने ही सबसे पहिले उस विश्वास को भंग किया है जोकि दोनों को एक साथ जोड़ता था।"* ऐसी परिस्थिति में पोप द्वारा शासक का पदच्युत करना एक ग़ैर-कानूनी संविदा को रद करना है और एक पूर्व-स्थापित तथ्य को केवल कानूनी रूप देना है। राजा को पदच्युत करने के पोप के अधिकार का यह समर्थन एक दुधारी तलवार है; यह दोनों ओर काटती है। जहाँ एक ओर यह कुछ परिस्थिति विशेष में पोप को राजा के पदच्युत करने का अधिकार देता है, वहाँ

* "If then he (the king) violates the agreement according to which he was chosen, disturbing and confounding the very things which he was meant to put in order, reason dictates that he absolves the people from their obedience, especially when he has himself first broken the faith which bound him and the people together."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर इस से साम्राज्य के चर्च से स्वतंत्र होने में भी सहायता मिलती है। यदि सम्राट् के शासन करने के अधिकार का आधार उसका जनता के साथ समझौता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह अपनी शक्ति चर्च से प्राप्त करता है ?

इन युक्तियों प्रत्युक्तियों से स्पष्ट है कि ११वीं और १२वीं शताब्दी में काफी राजनीतिक चिंतन हुआ। पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच विवाद ने एक नये प्रकार के राजनीतिक साहित्य की रचना को अनुप्रेरित किया और लोगों को न केवल आध्यात्मिक शक्ति बल्कि राजकीय शक्ति के आधारों का परीक्षण करने के लिये प्रोत्साहित किया। इसलिये यह विवाद राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने नवीन प्रवृत्तियों तथा विभिन्न विचारों का अनावरण किया जिनका अधिक पूर्णरूप से विकास १४वीं शताब्दी में फ्रांस के राजा फिलिप दी फ़ेयर तथा पोप बोनीफ़ेस अष्टम के संघर्ष और कुछ आगे चलकर लीविज़ दी बेवेरियन तथा पोप जॉन २२वें के विवाद के बीच जाकर हुआ। इस विवाद में भाग लेने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण विचारकों का अध्ययन करने से पहिले १४वीं शताब्दी में इसके विकास का इतिहास देना अच्छा होगा।

१४वीं शताब्दी के विवाद— जब १४वीं शताब्दी में चर्च तथा राज्य में फिर से विवाद छिड़ा तो स्थिति बहुत बदल चुकी थी। धर्म-युद्धों तथा वाणिज्य की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक नवीन राजनीतिक तथा बौद्धिक संसार का निर्माण हो रहा था। विभिन्न राज्यों की अधिकांश जनता में आत्म-निर्भरता तथा देशभक्ति की एक नवीन और सच्ची भावना लहरें मार रही थी और ये राज्य अपनी शक्ति को संघटित तथा एक सच्चे राष्ट्रीय जीवन का विकास कर रहे थे। इस नवीन संसार में पोपशाही के प्रति दृष्टिकोण में एक भारी परिवर्तन हुआ; शासकगण नम्रतापूर्वक सार्वभौमिक राजनीतिक अभिवेक्षण को मानने को तय्यार न थे जिसका ग्रेगरी सप्तम दावा करता था और इन्नोसेण्ट तृतीय सचमुच व्यवहार करता था जब कि चर्च अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुँचा हुआ था; और इन्नोसेण्ट चतुर्थ जिसकी और भी अधिक उग्र भाषा में मांग करता था। उसने खुल्लमखुल्ला इस बात की घोषणा कर दी थी कि दैविक आदेश द्वारा पोप को समस्त लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार प्राप्त है। हाँ, वह लौकिक शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता, इसलिये उसे वह अपने अधीनस्थ के रूप में राजाओं को दे देता है। राजाओं को इस प्रकार से दी हुई शक्तियों का प्रयोग पोप की इच्छा के अनुसार, और यदि आवश्यक हो तो, उसके निर्देशन में करना चाहिये। परन्तु जिस क्षण पोप की शक्ति की विजय हुई, उसका ह्रास भी आरंभ हो गया जोकि स्पष्ट रूप से पोप बोनीफ़ेस अष्टम तथा फिलिप दी फेयर के बीच संघर्ष में प्रगट हुआ।

फिलिप दी फेयर, जोकि एक पराक्रमी, दृढ़निश्चयी और नीतिविहीन शासक था, अपने राज्य के स्वतंत्र जागीरदारों की भूमि छीनने में संलग्न था। युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए उसे धन की नितान्त आवश्यकता थी, और इसलिये वह अपने राज्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्दर रहने वाले पादरियों से कर पहिले की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से मांगता था। अपने धार्मिक कार्य के कारण पादरी लोग अपने सामन्ती सदस्यों की सैनिक सेवा करने से मुक्त थे, और इसलिये वे कर से मुक्त होने का भी आग्रह करते थे। पोप वोनीफ़ेस ने एक आदेश जारी किया जोकि राज्य को पादरियों से कर लेने का निषेध करता था जब तक कि वह उसकी स्वीकृति न दे। अनधिकृत करों के संग्रह के विरुद्ध लड़ने का भी उसने पादरियों को आदेश दिया। क्योंकि भूमि का एक वहुत बड़ा भाग पादरियों के आधिपत्य में था, इसलिये पोप के इस आदेश ने फिलिप के (और अन्य राजाओं के) लिये एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी और पोपशाही से उसका संघर्ष छिड़ गया।

फिलिप ने पोप के आदेश का उत्तर इस प्रकार दिया कि उसने देश के तीन मुख्य वर्गों— सामन्तगण, पादरीगण, और जन साधारण— के प्रतिनिधियों को समवेत किया और पोप की मांगों को उनके सम्मुख रख दिया। इनमें से प्रत्येक ने राजा का समर्थन किया और राज्य के ऊपर पोप की प्रभुता से इन्कार किया। महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि पादरीगण ने भी सामूहिक रूप से पोप के विरुद्ध राजा की हिमायत की, भले ही उनमें से कुछ व्यक्तियों ने सच्चे हृदय से ऐसा न किया हो। इस प्रकार पोप के ऊपर विजय प्राप्त कर राजा फिलिप ने चर्च की साधारण परिषद से धर्मत्याग तथा अनैतिकता के अपराध में वोनीफ़ेस को पदच्युत करने की भी मांग की। इस मांग को स्वीकार तो नहीं किया गया; किन्तु उसने एक ऐसे विचार का सुझाव अवश्य रक्खा जो आगे चल कर कन्सीलियर (Conciliar) आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ।

उसके ऊपर किये गये एक आघात के फलस्वरूप वोनीफ़ेस का १३०३ ई० में देहावसान हो गया। उसकी मृत्यु के कुछ समय पश्चात् फिलिप ने प्रयत्न करके एक फ्रांसीसी पादरी को पोप निर्वाचित करा लिया ताकि पोपशाही पर उसका प्रभाव रहे और चर्च के साथ संघर्ष की पुनरावृत्ति न हो। १३०६ ई० में फ्रांसीसी पोप ने अपना निवासस्थान रोम से हटा कर एविग्नोन (Avignon) को बना लिया और वेवीलोनिश कैप्टीविटी (Babylonish Captivity) का युग आरंभ हुआ। लगभग ७० वर्ष लम्बे इस युग में पोप पद की प्रतिष्ठा बहुत नीचे गिर गई। इस पर फ्रांस के राजाओं का प्रभाव जम गया और इसी कारण यह जर्मनी तथा इटली के राजाओं की श्रद्धा और आज्ञाकारिता का पात्र नहीं रह गया जोकि इसके ऊपर फ्रांसीसी नियन्त्रण से बहुत विक्षुब्ध थे और एविग्नोन के चर्च के अधीन होना जिन्हें विल्कुल भी पसन्द न था।

जिस प्रकार कि वोनीफ़ेस की माँगों को सफलतापूर्वक ठुकराने में फ्रांस में उठती राष्ट्रवादी भावना ने फिलिप की सहायता की थी, ठीक उसी प्रकार २५ वर्ष बाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना के कारण ही एक निर्बल तथा विभक्त जर्मनी राजसिंहासन के लिये उत्तराधिकार को निर्धारित करने के पोप जॉन २२वें तथा पोप वेनीडिक्ट १२वें के दावों को ठुकराने में समर्थ हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एविग्नोन में वेबीलोनिश कैप्टीविटी के अन्य परिणाम भी निकले। पोप की धार्मिक प्रभुता को भी चुनौती दी गई; चर्च का सारा संघटन-ढाँचा ही खतरे में पड़ा हुआ दिखाई देने लगा। एविग्नोन में पोपशाही अपव्ययपूर्ण विलासिता और कुनबापरवरी की दलदल में फंस गई। इस शोचनीय स्थिति को देखकर पोप ग्रेगरी ११वां १३७७ ई० में एविग्नोन छोड़कर फिर रोम में चला गया। तदुपरान्त फ्रांस तथा इटली के पादरियों में एक दराड़ उत्पन्न हो गई, फ्रांसीसियों ने एक नये पोप का चुनाव कर लिया और इस प्रकार दो पोप हो गये, एक रोम में और दूसरा एविग्नोन में। इन समस्त घटनाओं के इतिहास में जाना हमारे लिये आवश्यक नहीं। हमारा अधिक सम्बन्ध तो उन युक्तियों से है जोकि राज्य तथा पोप के इस संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से पेश की गईं। पहिले संघर्ष की अपेक्षा उनकी बाद की युक्तियाँ अधिक सुनिश्चित थीं। राज्य के समर्थकों में जॉन ऑफ पेरिस, पियरी डुबोय (Pierre Dubois) तथा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ के नाम अग्रगण्य हैं और पोपशाही के हिमायतियों में पोप बोनीफ़ेस, एजीडियस रोमेनस तथा पोप जॉन अधिक उल्लेखनीय हैं।

१४वीं शताब्दी में चर्च तथा राज्य में चलने वाले इस संघर्ष का पश्चिम के राजनीतिक विचार के इतिहास में क्या स्थान है, इसे ठीक प्रकार समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि इसकी मुख्य विशेषतायें क्या थीं। सब से पहिले तो हमें स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि इस विवाद में कौन कौन से प्रश्न सन्निहित थे और उसके कौन कौन पक्षकार थे। यद्यपि संघर्ष का सूत्रपात चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण करने के प्रश्न पर हुआ; किन्तु प्रश्न केवल यही न था कि पादरियों के आधिपत्य में सम्पत्ति पर उनके सामन्त स्वामी होने के नाते फ्रांस के राजा को कर लगाने का अधिकार था या नहीं वल्कि प्रश्न वास्तव में यह था कि राष्ट्र का प्रधान होने के नाते राजा को पादरीगण तथा जन-साधारण पर राज्य की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए समान रूप से करारोपण करने का अधिकार था या नहीं। फिलिप का तर्क यह था कि क्योंकि राज्य की रक्षा के लिये पादरीगण स्वयं नहीं लड़ते, दूसरों को उनके लिये लड़ना पड़ता है जिनके पालन पोषण के लिये पादरियों को कुछ धन देना चाहिये। पादरियों का राष्ट्रीय सरकार की सहायता में कोई योग न देना ग़लत है। पादरियों की सम्पत्ति पर करारोपण किये बिना युद्ध तथा प्रशासन के व्यय की पूर्ति करना असम्भव था। इसलिये राज्य के लिये यह एक जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। फ्रांस की जनता तथा पादरीगण इस बात को अच्छी तरह समझते थे और इसीलिये फ्रांस के पादरियों ने इस राष्ट्रीय प्रश्न पर पोप के विरुद्ध राजा का समर्थन किया था। इसी राष्ट्रीय भावना की जाग्रति के फलस्वरूप पोप-पद की पराजय हुई, और इसने संघर्ष के स्वरूप को ही बदल दिया। पोप आन्तरिक फूट डालने तथा सामन्त सरदारों को सम्राट् के विरुद्ध भड़काने के परम्परागत हथकण्डे प्रयोग नहीं कर सका और इन्हीं हथकण्डों के ऊपर भूतकाल में उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति निर्भर करती थी। राष्ट्रीय राजा के रूप में उत्पन्न हुआ यह नया शत्रु सम्राट् की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था; उसके ऊपर साम्राज्य की परम्पराओं का भार नहीं था और न ही उसके सामने उन क्षेत्रों के ऊपर अधिकार रखने की कठिनाई थी जिनमें कोई राजनीतिक एकता नहीं थी। चर्च की अवस्था दयनीय हो चुकी थी और अब उसका नेतृत्व करने के लिये कोई ग्रेगरी सप्तम (Gregory VII) न था। सारांश यह कि जबकि पिछली शताब्दी में संघर्ष दो सार्वभौमिक अधिकार-क्षेत्रों, पोपशाही और साम्राज्य, में था, १४वीं शताब्दी में यह था पोपशाही तथा फ्रांस अथवा जर्मनी के राष्ट्रीय राजा के बीच में। यह संघर्ष "जीवन में एक अतिक्रमणात्मक उद्देश्य की मान्यता के ऊपर आधारित धार्मिक प्रभुता तथा सांसारिक और स्थानीय आवश्यकताओं की मान्यता के ऊपर आधारित राजकीय प्रभुता के बीच में था।" *

इस विवाद में दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है, वह है सम्बन्धित पक्षों की युद्ध-क्षेत्र की स्थिति में परिवर्तन। जबकि पिछली तीन शताब्दियों में साम्राज्यवादियों ने केवल अपना बचाव किया और पोपवादी अग्रसर रहे, १४वीं शताब्दी में पाँसा पलट गया और पोपवादियों को अपना बचाव करना पड़ा। इस बार पोपशाही को राजाओं द्वारा चुनौती दी गई। फिलिप के समर्थकों ने एक अधिक विश्वासपूर्ण तथा अग्रसारी भावना का प्रदर्शन किया। उनकी कृतियों से इस बात की चेतना झलकती है कि काल-गति राजाओं के पक्ष में थी, पोप के नहीं। यदि ऐसा न होता तो फ़िलिप को यह सुझाव रखने का कभी साहस न होता कि सामान्य परिषद् को पोप बोनीफ़ेस के धर्म-त्याग तथा अनैतिक आचरण के प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

इस संघर्ष की तीसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि पोपवादियों ने पोप की शक्ति के विस्तार के विषय में अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक उग्र दृष्टिकोण अपनाया। न तो पोप ग्रेगरी सप्तम ने और न पोप इन्नोसेण्ट तृतीय ने पोपशाही की ओर से इतने लम्बे चौड़े दावे किये थे जितने कि एजिडियस रोमेनस (जिसे एजिडियस कोलोना भी कहते हैं) ने अपनी पुस्तक डी एक्लेज़ियास्टिका पोटेस्टेट में किये हैं। क्योंकि प्रश्न का सम्बन्ध पादरियों के सम्पत्ति अधिकार से था और पोप की मांग यह थी कि उसकी स्वीकृति के बिना पादरियों की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगना चाहिये, पोप के विरोधियों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पादरियों का निजी सम्पत्ति रखना उनके अस्तेय धर्म के विरुद्ध है, इसलिये उनको अपनी सम्पत्ति से वंचित कर देना चाहिये। इसके विपरीत पोप के समर्थकों का कथन यह था कि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किसी न किसी रूप में सम्पत्ति

* 'This struggle was between 'theocratic sovereignty based on recognition of transcendental purpose in life and secular sovereignty based on recognition of earthly and local needs.' Hearnshaw: *Social and Political Ideas of the Medieval Thinkers*, page 160.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नितान्त आवश्यक है, इसलिये उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण होना चाहिये और सम्पत्ति सम्बन्धी समस्त प्रश्नों पर, जिसमें लौकिक सम्पत्ति भी सम्मिलित है, पोप का निर्णय अन्तिम होना चाहिये। इसका आवश्यक परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक तथा धार्मिक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण किया गया और चर्च में पोप की शक्तियों, चर्च सम्पत्ति के ऊपर उसके नियन्त्रण तथा सैद्धान्तिक विषयों में उसके अधिकार का एक आलोचनात्मक परीक्षण किया गया। १४वीं शताब्दी में ही आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप को मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ तथा विलियम ऑफ़ ओकम ने आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय बनाया और इससे चर्च को बड़ी हानि पहुँची। आगे चल कर कन्सीलियर आन्दोलन के नेताओं ने चर्च के आन्तरिक शासन के स्वरूप का विश्लेषण करने तथा पोप की शक्तियों पर रोक लगाने का प्रयत्न किया।

चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि १४वीं शताब्दी की प्रयुक्त युक्तियों का रूप तथा ढंग पिछली शताब्दियों से अधिक भिन्न नहीं था तथापि कुछ नई स्थितियों के कारण नवीन साहित्य की प्रवृत्ति तथा लहजा पुराने साहित्य से स्पष्ट रूप से भिन्न था। ये नई स्थितियाँ थीं: रोमन कानून का व्यापक पुनरुत्थान जिसके अध्ययन ने ज़बर्दस्त प्रगति की और अरस्तु के सिद्धान्तों का प्रचार; इन दोनों की ही प्रवृत्ति चर्च-विरोधी थी। रोमन कानून में दीक्षित और राज दरबारों अथवा अन्य किसी प्रकार से राजा के अधीन नौकरी करने वाले व्यक्तियों के रूप में लेखकों के एक नवीन वर्ग का आविर्भाव हुआ। इसने रोमन कानून के समस्त साधनों को फ्रांस के राजा की सहायता के लिए प्रयोग किया और चर्च तथा सरदारों के न्यायालयों की शक्ति कम करके राजकीय न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र बढ़ाया। राजकीय शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने तथा राष्ट्रीय राजतंत्र को सुदृढ़ बनाने में न्यायविदों ने एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया; उनकी विचार पद्धति तथा लौकिक रुचि ने उस साहित्य को बहुत प्रभावित किया जोकि विवाद में राजा के पक्ष में रचा गया। सैबाइन के शब्दों में "मध्य काल में उससे पहिले रचा हुआ कोई भी राजनीतिक साहित्य उतना आलोचनात्मक तथा शक्ति के शिकंजे से उतना स्वतन्त्र नहीं था।" इस साहित्य के रचयिताओं को सैबाइन ने पब्लिसिस्ट्स (Publicists) कह कर पुकारा है।

पब्लिसिस्ट्स की निश्चित रूप से लौकिक रुचि फ्रांस के राष्ट्रीय राजतंत्र को सुदृढ़ बनाने में थी। उनके प्रभाव का उदाहरण हमें पियरी डुबोय के विचारों से मिलता है। वह फ्रांस को यूरोप की महानतम शक्ति के रूप में देखना चाहता था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने विवाद, विजय तथा संधि की एक योजना बनाई। उसकी योजना यह थी कि समस्त राज्यों को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोने का जो कार्य कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यकालीन साम्राज्य का था उसे अब फ्रांस को करना चाहिये जिसे वह अपनी दुर्बलता के कारण नहीं कर सकता था। उसने धार्मिक अधिकार-क्षेत्र को राजकीय न्यायालयों को हस्तांतरित करने का भी प्रस्ताव किया। पाठ्य-क्रम में ग्रीक, हिब्रू तथा अरबी भाषा का अध्ययन सम्मिलित करके वह शिक्षा को अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाना और उसे पुनर्संगठित करना चाहता था।

बोनीफ़ेस तथा फिलिप के मध्य संघर्ष के २० वर्ष बाद पोप जॉन २२वें तथा लिविस ऑफ़ बैवेरिया के बीच में एक विवाद उठा; उसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। एक विवादित उत्तराधिकार का लाभ उठाकर जर्मनी के विषयों पर अपना अधिकार जमाने की पोप की कामना ने इस संघर्ष का अवसर प्रदान किया। जर्मनों को ऐसा लगा कि पोप के इस क़दम के पीछे फ्रांस का हाथ है और वह जर्मनी को क्षति पहुँचा कर अपना शासन क्षेत्र बढ़ाना चाहता है। इसलिये उन्होंने पोप के दावे को ठुकरा दिया। फ्रैंकफर्ट में हुई एक सभा ने, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने भाग लिया, निर्वाचकों की इस घोषणा को स्वीकार किया कि जर्मन राजा ने अपना शासनाधिकार स्वयं ईश्वर से प्राप्त किया है, पोप से नहीं और उसका नियमित निर्वाचन उसे राजा के समस्त विशेषाधिकार प्रदान करता है; भले ही पोप को मुकुट-विभूषण तथा पदप्रतिष्ठान के संस्कार सम्पन्न करने का अधिकार हो।

यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रांसिस के भक्त पादरियों के अस्तेय सिद्धान्त का पोप के एक प्रत्यादेश द्वारा खण्डन किये जाने के फलस्वरूप स्वयं चर्च के भीतर ही एक विवाद खड़ा हो गया। बहुत से योग्य पादरी लेखक पोपशाही के आलोचक हो उठे और उन्हें अपनी रक्षा के लिये राजकीय न्यायालयों की शरण में जाना पड़ा। वे यह तर्क करने लगे कि धार्मिक विषयों में अन्तिम अधिकार चर्च परिषद को है, पोप को नहीं। इस तर्क से शासकों की स्थिति को बहुत सम्बल मिला। इस प्रकार हम देखते हैं कि १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में पोपशाही पर चारों ओर से संकट के बादल छा गये और चिन्तनधारा धर्मनिरपेक्ष तथा क्रान्तिकारी हो गई।

१४वीं शताब्दी के विवाद की मुख्य विशेषताओं तथा उसके राजनीतिक महत्त्व का सुन्दर वर्णन सैबाइन के निम्नलिखित शब्दों में मिलता है :—

"राजनीतिक सिद्धान्त के विकास में बोनीफ़ेस तथा फिलिप के मध्य विवाद का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसने एक अद्वितीय तथा प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के लिये दावे को जन्म दिया। यह शक्ति पोप में निहित थी जिसका प्रयोग चर्च में प्रत्यक्ष रूप से तथा चर्च और शासकों के बीच में परोक्ष रूप से होता था। यह इस दावे का समर्थन दैविक अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर करती थी। इस दावे का आविर्भाव, जोकि कानूनवाद की एक धार्मिक उत्पत्ति थी, इसके ऊपर एक सुसंगठित आक्रमण का सूचक था। फ्रांसीसी विवाद में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस आक्रमण ने दो मुख्य रूप धारण किये। पोप की प्रभुता पर आपत्ति इस आधार पर की गई कि यह धर्माधिकारियों का एक विलक्षण मिथ्या दावा था, इसलिये इसके प्रयोग के ऊपर समुचित नैतिक और धार्मिक बन्धन होने चाहियें। दूसरी आपत्ति इसके विरुद्ध यह की गई कि सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति, चाहे कहीं भी हो, स्वभाव से ही अत्याचारपूर्ण होती है, इसलिये उसे प्रतिनिधित्व तथा जन-इच्छा से संतुलित तथा सीमित करना आवश्यक है।"*

---

* "The controversy between Boniface and Phillip was of great importance in the development of political theory. It produced a clear cut claim to unique, sovereign power, vested in the Pope and exercised directly in the church and indirectly as between the Pope and secular rulers, and it defended his claim upon the principle of divine right. The appearance of this claim, a theological offshoot of legalism, was the signal for a concerted attack upon it. Even in the French controversy this attack began to develop on two main lines. Objection was made to papal sovereignty on the presumpion that it was a case of clerical pretension, peculiar to ecclesiastical power, and hence to be met by hedging it into a proper moral and religious exercise. On the other hand, objection was made to sovereign power as such, on the ground that it was intrinsically tyrannous wherever it existed and needed to be tempered and limited by representation and consent."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १३

कुछ मध्यकालीन विचारक

परिचयात्मक— ११वें अध्याय में मध्यकालीन राजनीतिक विचार की सामान्य पृष्ठभूमि का वर्णन करने तथा पिछले अध्याय में पोपवादियों तथा राज्यवादियों के दावों तथा उनके समर्थन में युक्तियों का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब हम उन मुख्य मुख्य व्यक्तियों के विचारों के अध्ययन पर आते हैं जिन्होंने कि उस विवाद में भाग लिया। पहिले हम पोपवादियों को लेते हैं जिनमें से केवल पोप ग्रेगरी सप्तम, जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी, सन्त टॉमस एक्वीनास, तथा एजिडियस कोलोना का उल्लेख करेंगे। तदुपरान्त हम राज्य के समर्थकों को लेंगे, जिनमें से केवल दान्ते, जॉन ऑफ़ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ तथा विलियम ऑफ़ ओकम के सिद्धान्तों की विवेचना की जायेगी। अगले अध्याय में हम Conciliar movement का वर्णन करेंगे जिसके साथ मध्य युग का अन्त होता है।

ग्रेगरी सप्तम— चर्च की प्रभुता के समर्थकों में सब से पहिला तथा एक सब से अधिक महत्त्वपूर्ण नाम हिल्डेब्रैण्ड का है जो पोप ग्रेगरी सप्तम के नाम से अधिक विख्यात है (१०७३—१०८० ई०)। उसके समस्त कार्यों, कार्यक्रमों तथा नीतियों का आधार उसका यह विश्वास था कि चर्च के ऊपर राज्य का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। उसका लक्ष्य राज्य के लक्ष्य से श्रेष्ठ होने के कारण चर्च को अपना विशेष विधान रखना चाहिये जिसमें राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से उसने जस्टीशिया (Justitia) के सिद्धान्त का निरूपण किया था। जस्टीशिया का अर्थ था: (१) चर्च के ऊपर पोप की प्रभुता; (२) 'विवाह के सामाजिक बन्धन, पद के क्रय विक्रय के आर्थिक बन्धन, राज्य द्वारा पदप्रतिष्ठान के सामन्ती बन्धन' से पादरियों को मुक्त करना; तथा (३) 'ईसा के सर्वोच्च कानून के सर्वोच्च अधिवक्ता के नाते राजाओं तक का न्याय तथा परिशोधन करने का (यदि वे उस कानून का उल्लंघन करें और उसके स्वतंत्र व्यवहार में बाधा डालें)' पोप का अधिकार। इस प्रकार ग्रेगरी राज्य को चर्च के अधीन रखता है। राज्य द्वारा उस आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जिसका कि चर्च अभिभावक है, इस प्रकार की अधीनता आवश्यक ही है। गत अध्याय में इस सम्बन्ध में काफी कहा जा चुका है, इसलिये और अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। किन्तु हाँ, एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। ग्रेगरी सप्तम् के कथन तथा नीति का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसने पोप की प्रभुता के किसी कानूनी सिद्धान्त का निरूपण किया और न ही उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह है कि राजकीय शक्ति का स्रोत पोप है और इसलिये राजकीय विषयों के ऊपर पोप का नियन्त्रण होना चाहिये। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो १४वीं शताब्दी में जाकर इन्नोसेण्ट चतुर्थ तथा एजिडियस कोलोना ने किया। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ग्रेगरी की धारणा यह रही हो कि लौकिक विषयों में पोप राजा के ऊपर है और पोप की कुछ भी लौकिक शक्तियाँ हैं। अपने आपको सम्राट् के ऊपर एक श्रेष्ठतर और उच्चतर शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का उसका कोई इरादा नहीं था। उसके ऊपर उद्धरित किये हुए इन शब्दों का कि पोप को साम्राज्य, राज्य, जागीर इत्यादि प्रदान करने का अधिकार है यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि पोप लौकिक विषयों में राजा के ऊपर है। उसके कहने का तात्पर्य केवल यह था कि राजाओं के ऊपर पोप को एक नैतिक अनुशासन रखने का अधिकार है। ग्रेगरी के अनुसार पोप संसार का, यहाँ तक कि ईसाई जगत का भी, लौकिक स्वामी नहीं है; उसे कोई लौकिक अधिकार प्राप्त नहीं है। वह केवल 'ईसा की भेड़ों का चरवाहा' अर्थात् मनुष्य का संरक्षक है और इस नाते यह देखना उसका धर्म है कि कोई व्यक्ति उन्हें आघात न पहुँचाये। ऐसे आघात को रोकने के लिये उसे एक दुष्ट राजा को पदच्युत करने और उसके स्थान में एक नये राजा के निर्वाचन को स्वीकार करने का अधिकार है। यह बात १४वीं शताब्दी में प्रतिपादित पोप की प्रभुता के सिद्धान्त से अधिक भिन्न नहीं दिखाई पड़ती। और एक दृष्टिकोण से यह ठीक ही है। जो शक्तियाँ एजीडियस कोलोना पोप को प्रदान करता है वे उनसे कुछ ऊंची नहीं हैं जिनका कि दावा ग्रेगरी करता था। परन्तु दोनों में आधारभूत भेद यह है कि ग्रेगरी ने पोप के अधिकारों के किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। वह तो केवल एक नैतिक अनुशासन के आध्यात्मिक अधिकार की मांग करता था। सारांश यह कि ग्रेगरी में हमें चर्च या राज्य अथवा चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध का कोई नवीन सिद्धान्त नहीं मिलता; बल्कि राज्य के प्रति पोपशाही की एक नई नीति और एक नई प्रवृत्ति मिलती है।

जॉन ऑफ सेलिस्बरी— पोप की प्रभुता के अधिवक्ताओं की हमारी सूचि में अगला नाम एक अंग्रेज़— जॉन ऑफ सेलिस्बरी (१११५-११८०) का है। वह एक सिद्धान्त-निर्माता था जैसा कि ग्रेगरी सप्तम कभी नहीं था। उसकी पुस्तक 'पोलिक्रेटीकस' (Policraticus) अथवा 'स्टेट्समैन्स बुक' को डा० डिकिन्सन ने 'मध्य काल में राजनीति के ऊपर सब से पहिला सांगोपांग ग्रन्थ' कहकर पुकारा है। एक दूसरे महान् विद्वान् डा० आर. एल. पूल का कहना है कि यह 'एक क्रमबद्ध धारा को उत्पन्न करने का प्रथम प्रयास है जो राजनीति का दर्शन कहलाने का पात्र हो सकता है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि पोलिक्रेटीकस मध्य काल में राजनीति का सब से पहिला विस्तृत और क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करता है। परन्तु जॉन के राजनीतिक दर्शन का तत्त्व कानूनी और सांविधानिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है; वह सरकार के संघटन, उसके कार्यों के वितरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध, अथवा सरकार के विभिन्न रूपों के विषय में कुछ नहीं कहता। वह केवल सरकार के एक रूप का वर्णन करता है और वह राजतंत्र है, और उसका प्रशासकीय ढाँचा साम्राज्यवादी नमूने का है। यह बात कितनी विलक्षण है कि वह समाज के सामन्तवादी संघटन का उल्लेख तक नहीं करता जोकि उस समय अपनी चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। उसके सिद्धान्त में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बातें चार हैं: (१) समाज की जैविक (Organic) धारणा; (२) राज्य का चर्च के प्रति अधीन होना; (३) राजा का क़ानून के साथ सम्बन्ध तथा एक अच्छे एवं आततायी राजा में विभेद; तथा (४) आततायी की हत्या का औचित्य। इन सब का हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

सामन्तवाद की विकेन्द्रीकारक प्रवृत्तियों के बावजूद जॉन ऑफ सेलिस्बरी सिसरो द्वारा प्रतिपादित इस विचार को अपनाता है कि राज्य 'क़ानून तथा अधिकारियों के विषय में एक सामान्य समझौते द्वारा एकता के सूत्र में बद्ध' एक कॉमनवैल्थ अथवा समाज है। वह राज्य को एक जैविक इकाई समझता है और मानव शरीर से उसकी उपमा देता है। उसकी परिभाषा के अनुसार राज्य 'एक ऐसा निकाय है जिसे दैविक अनुकम्पा से जीवन मिलता है, और उच्चतम न्याय जिसकी प्रेरक शक्ति है और एक संतुलित करने वाले विवेक द्वारा उस पर शासन होता है।' इस परिभाषा का अर्थ यह हुआ कि मानव शरीर के सदृश राज्य एक जीवित इकाई है जोकि विभिन्न भागों से मिलकर बना हुआ है; ईश्वर उसके जीवन का स्रोत है; उसके विभिन्न अङ्ग न्याय के सूत्र में एकताबद्ध हैं और अन्तिम बात यह है कि उसके ऊपर विवेक का शासन है। सेलिस्बरी का कहना है कि राजा राज्य में वही स्थान रखता है जोकि शरीर में सिर; वह राज्य में सब से ऊपर होता है और उसके ऊपर शासन करता है। धारा सभा हृदय के अनुरूप है; न्यायाधीश, प्रान्तों के गवर्नर इत्यादि शरीर में आँखों, कानों तथा जिह्वा के समान हैं; सिपाही उसकी बाहु हैं और किसान उसके पैर। परन्तु शरीर में एक आत्मा भी होती है और उसी के अनुरूप राज्य में 'वे चीज़ें हैं जोकि हमारे अन्दर धर्म के अधिकारों की स्थापना करती हैं और हमें ईश्वर उपासना का पाठ पढ़ाती हैं।' वह आगे चलकर कहता है कि 'जो मनुष्य धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते हैं उनका हमें वैसा ही सम्मान करना चाहिये जैसा कि शरीर में आत्मा का।' जिस प्रकार आत्मा सिर तथा शेष शरीर के ऊपर राज करती है उसी प्रकार राजा भी ईश्वर तथा पृथ्वी पर उसके प्रतिनिधियों के अधीन रहना चाहिये। इस प्रकार सेलिस्बरी राज्य के जैविक स्वरूप का प्रयोग राज्य को चर्च के अधीन करने के लिए करता है। इस अधीनता का एक और प्रमाण यह भी है कि राजा के निर्वाचन में दैविक तत्त्व अथवा पादरीगण तथा जनसाधारण का मत एक होता है। राजा को शासन का प्रधान ईश्वर बनाता है, और उसके लिये समस्त जनता की स्वीकृति पादरियों द्वारा पद-प्रतिष्ठान के संस्कार द्वारा पूर्ण हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जॉन ऑफ सेलिस्बरी राज्य की चर्च के प्रति अधीनता एक दूसरे ढंग से भी सिद्ध करता है। दो तलवारों के सिद्धान्त का एक नवीन प्रयोग करके वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि राजा चर्च का एक अभिकर्ता है और इसलिये वह उसके अधीन है। उसका कहना है कि प्रारम्भ में चर्च के पास लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों तलवारें थीं। ईसा ने, जिसके पास राजा और पादरी, दोनों की शक्तियाँ थीं, उन्हें पीटर को दे दिया; यदि पीटर को केवल आध्यात्मिक शक्ति ही दी जाती तो 'कुंजियाँ' (Keys) बहुवचन शब्द का प्रयोग न किया जाता। चर्च ने आध्यात्मिक शक्ति को अपने पास रख लिया और लौकिक शक्ति को राजा को सौंप दिया। शर्त यह थी कि राजा उस शक्ति का प्रयोग चर्च की ओर से और उसकी इच्छानुसार करेगा। इस विषय में सेलिस्बरी के शब्द उद्धरणीय हैं: 'इस शक्ति को राजा चर्च से प्राप्त करता है; यद्यपि चर्च के पास किसी भी प्रकार से रक्तमय तलवार नहीं है, तथापि उस तलवार के ऊपर उसका आधिपत्य है। किन्तु वह उसे राजा के हाथों द्वारा प्रयोग करता है जिसे कि वह शरीर के ऊपर दमनकारी शक्ति प्रदान कर देता है जबकि आध्यात्मिक विषयों का अधिकार पादरियों के लिये सुरक्षित रख लेता है। इसलिये राजा एक तरह से चर्च का ही एक कर्मचारी है जोकि पवित्र कार्य का वह भाग करता है जोकि पादरियों के लिये शोभनीय नहीं है।'* इस उद्धरण में इस बात का स्पष्ट और निश्चित दावा किया गया है कि लौकिक शक्ति का स्वरूप निस्रोतात्मक है और राज्य चर्च के अधीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में कि ईश्वरीय आदेश द्वारा लौकिक विषयों के ऊपर पोप का अधिकार है इन्नोसेण्ट चतुर्थ ने जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी के विचार को ही अधिक सुगठित रूप दिया।

यह सिद्धान्त कि राजा कानून के अधीन है और वह उसका सेवक, सेलिस्बरी के विचार का उतना ही आधारभूत तत्त्व है जितना कि राज्य का जैविक सिद्धान्त; यदि हम इस राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन मानें तो अनुचित न होगा। उसका विश्वास था कि 'राजा सार्वजनिक उपयोगिता को पूरा करने वाला कर्मचारी तथा न्याय का सेवक' था। उसमें समस्त प्रजाजन की शक्तियाँ संगृहीत थीं ताकि उसमें प्रत्येक की

* "This sword (coercive jurisdiction in the temporal matters), then, the prince receives from the hand of the church, although she herself in no sense holds the sword of blood. She nevertheless possesses this sword, but she uses it by the hand of the prince on whom she confers the coercive power over the body, reserving the authority over spiritual things for herself in the pontiffs. The prince, therefore, is in a sense the minister of the priestly office, and one who performs that part of the sacred functions which seems unworthy of the hands of the priesthood." Quoted by McIlwain: *The Growth of Political Thought in the West*, page 229.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता का पता लगाने और उसकी पूर्ति करने का बल आ सके। इसका तात्पर्य यह है कि राजपद कोई निजी विषय नहीं है बल्कि एक सार्वजनिक पद है और उसका प्रयोग केवल उन्हीं उद्देश्यों के लिये होना चाहिये जिनके लिये उसका अस्तित्व है। मध्य काल में राजा की शक्ति के ऊपर कोई सांविधानिक नियन्त्रण और सीमायें नहीं थीं; राजा की शक्ति को सीमित करने का मध्यकालीन विचारकों के पास एक ढंग था और वह है उसके ऊपर कानून के नैतिक बन्धन लगाना। सेलिस्बरी के अनुसार यह कानून स्वयं राजा का बनाया हुआ विधेयात्मक कानून नहीं है, बल्कि शाश्वत न्याय का दैविक कानून है। स्टोइक्स के प्राकृतिक कानून के सदृश यह नित्य, अपरिवर्तनीय तथा समस्त मानवीय कानूनों से स्वतन्त्र है। समस्त राजाओं को इसके सामने झुकना चाहिये। वह राजा जो इसे अपनी आँखों और हृदय में नहीं रखता, इसके अनुसार आचरण नहीं करता और जनहित की जगह स्वार्थपूर्ति में रहता है, अत्याचारी है। इस प्रकार एक सच्चे राजा तथा आततायी में भेद का आधार न्याय के शाश्वत कानून का पालन या अवहेलना करना है। इस कानून को समझने, इसकी व्याख्या करने तथा अपने कानूनों को इसके अनुसार बनाने के लिये राजा को पादरियों के ऊपर निर्भर करना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से भी राजा को चर्च के अधीन रखने का प्रयत्न किया गया है।

एक सच्चे राजा और एक आततायी में विभेद प्राचीन लेखकों ने भी किया था, यूनानी विचार में तो यह एक सामान्य बात थी। किन्तु जॉन के हाथों में पड़कर यह अधिक तीव्र हो उठा। परन्तु उसमें और उसके पूर्ववर्तियों में जो चीज़ मुख्य रूप से विभेद करती है वह है उसका आततायी को वध करने का सिद्धान्त। उसकी धारणा है कि एक अत्याचारी शासक का वध कर डालना जनता के लिये न केवल उचित और विहित है बल्कि श्रेयस्कर है। इस मन्तव्य का समर्थन करने के लिये उसकी घोर निन्दा की जाती है। एक धर्म पुरोहित के लिये ऐसा कहना बड़ा गर्हित और हेय समझा जाता है। उसकी विचार पद्धति में इस सिद्धान्त का कोई मुख्य स्थान नहीं है; यह तो इस कथन का एक तार्किक परिणाम समझा जाता है कि राजा तभी तक राजा है जब तक कि वह न्यायपूर्वक शासन करता है। इस बात में सेलिस्बरी के पहिले भी विश्वास किया जाता था और उसके बाद में भी इसे मान्य समझा जाता रहा है। उसने तो केवल स्थिति को अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और अधिक ज़ोरदार शब्दों में पेश किया है।

सन्त टॉमस एक्वीनास (१२२७–१२७४ ई०)— अब हम सन्त टॉमस एक्वीनास पर आते हैं। एक्वीनास न केवल १३वीं शताब्दी का महानतम व्यक्ति है बल्कि उसे मध्य काल के समस्त विचारकों में भी महानतम माना जाता है। फ़ॉस्टर उसे समस्त संसार के क्रमबद्ध दार्शनिकों में स्थान देता है। उसके अनुसार एक्वीनास की विशेषता यह थी कि उसने विचार की विभिन्न धाराओं को, जोकि पहिले अलग अलग प्रवाहित थीं, एक ही प्रणाली में संश्लिष्ट करके एक कर दिया। वह मध्य काल के सम्पूर्ण विचार का प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषित्व करता है; अन्य किसी भी मध्यकालीन विचारक को यह श्रेय नहीं दिया जा सकता।

टॉमस के कानून के सिद्धान्त से तथा इस बात से कि चर्च की शिक्षाओं तथा अरस्तु के दर्शन में ताल बैठाना उसका मुख्य कार्य था, यह बात सिद्ध है कि उसका कार्य समन्वय का कार्य है। याद रहे कि अरस्तु की 'ईथिक्स' तथा 'पॉलिटिक्स' इत्यादि कृतियां पश्चिमी संसार को १२वीं शताब्दी के मध्य में अरब तथा यहूदी वाहकों द्वारा प्राप्त हुई। प्रारंभ में चर्च ने उसके लेखों को सन्देह की दृष्टि से देखा और उनके ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई; और चर्च ने बुद्धिमत्तापूर्वक ईसाई सिद्धान्तों के अनुसार उनकी व्याख्या करने की सोची। यह उस युग का मुख्य बौद्धिक धन्धा बन गया। अल्बर्ट महान् ने, जोकि टॉमस का गुरु था, अपने समकालीनों के लाभ के लिये अरस्तु के दर्शन का प्रचार करना अपना जीवन ध्येय बना लिया। अपने महान् गुरु के चरण-चिह्नों पर चलते हुए टॉमस एक्वीनास भी ईसाईकृत अरस्तु (Christianised version of Aristotle) को संसार के सामने रखने के कार्य में लग गया। ऐसा करने का प्रयत्न उसने एक ऐसी दर्शन धारा की रचना करके किया जिसमें विज्ञान, दर्शन तथा धर्मशास्त्र एक ही सम्पूर्ण के अभिन्न अंग बन जायें और जो अपने उचित सम्बन्धों में दिखाई पडे तथा समस्त विश्व ईश्वर के साथ सम्बन्ध में देखा जाये। उसके इस लक्ष्य की बहुत बड़ी हद तक पूर्ति उसकी महान् कृति, 'सम्मा थ्योलौजिका' (Summa Theologica) में हुई जोकि एक बहुत ही बृहद् ग्रन्थ है जिसमें तीन भाग और लगभग दस लाख शब्द हैं। यह विचार का भव्य और विशाल प्रासाद है जिसमें अफलातून की परम्पराओं तथा अरस्तु के दर्शन का रोमन कानून, बाइबिल की शिक्षाओं, चर्च फ़ादर्स तथा अन्य महान् धर्मशास्त्रियों के कथनों के साथ समावेश हुआ है। इस ग्रन्थ में टॉमस ने पाप, अवतार, मृत प्राणियों का पुनर्जागरण, तपस्या, श्रद्धा, ऐक्य, अनैक्य, ईश्वर, पूर्णता तथा सृष्टि के सदृश विषयों के अतिरिक्त कानून, न्याय तथा सरकार की विवेचना की है। इस विषय सूचि से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्मा थ्योलौजिका मुख्य रूप से एक राजनीति ग्रन्थ ही नहीं है बल्कि उसमें टॉमस की समस्त विचार धारा समाविष्ट है। उसके राजनीतिक विचार सम्मा थ्योलौजिका में, कानून तथा न्याय की विवेचना में उसके 'कमेण्ट्रीज़ ऑन अरिस्टोटल' (Commentaries on (Aristotle) में तथा उसके अपूर्ण ग्रन्थ 'डी रेजीमीन प्रिंसिपम' (De Ragimine Principum) में पाये जाते हैं। उसके राजनीतिक विचारों का वर्णन करने से पहिले उसकी दार्शनिक धारा तथा किस प्रकार उसने बाइबिल की शिक्षाओं और अरस्तु की आधारभूत शिक्षाओं का सम्मिश्रण किया इस सम्बन्ध में दो शब्द कह देना उपयुक्त होगा।

टॉमस के अनुसार समस्त मानव ज्ञान एक इकाई है; इसकी तुलना एक पिरामिड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Pyramid) से की जा सकती है जिसका आधार बहुत से विशिष्ट विज्ञानों से मिलकर बना है जिसमें से प्रत्येक का अपना एक अध्ययन विषय है। उनके ऊपर दर्शन है जो उन सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण करता है जोकि विभिन्न विज्ञानों के आधार हैं। यह किसी विषय विशेष, जैसे कि पदार्थ तथा उसकी गति, वनस्पति जीवन अथवा मनुष्य अथवा सौर मण्डल (Solar System) इत्यादि का अध्ययन नहीं करता; बल्कि यह सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन करता है और उसके विषय में एक संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण निर्धारित करता है। विशिष्ट विवेक विशिष्ट विज्ञानों के जानने का साधन है; दर्शन का साधन सामान्य विवेक है। किन्तु जबकि यूनानी दार्शनिक दर्शन को ज्ञान का शिखर और विशुद्ध विवेक को उसका सर्वोत्कृष्ट साधन समझता था, टॉमस उससे एक कदम आगे बढ़ता है और कहता है कि दर्शन के ऊपर भी धर्मशास्त्र है जिसका साधन श्रद्धा और अन्तर्ज्ञान है, विवेक नहीं। जहाँ तक अरस्तु जाता है, उसका कहना सही है; इसमें कोई संदेह नहीं कि विवेक द्वारा ही हमें प्रकृति जगत के विषय में सत्य और ज्ञान प्राप्त होते हैं। परन्तु यह सम्पूर्ण सत्य और सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है; उनके परे भी एक चीज़ है जिसका अन्तर्ज्ञान हमें केवल श्रद्धा द्वारा प्राप्त हो सकता है; यह हमें धर्मशास्त्र में मिलता है। दर्शन तथा धर्मशास्त्र, विवेक तथा श्रद्धा में कोई विरोध नहीं है। "विज्ञान तथा दर्शन जिस प्रणाली को आरम्भ करते हैं, धर्मशास्त्र उसे पूर्ण करता है; परन्तु उसकी तारतम्यता को वह कभी नष्ट नहीं करता। श्रद्धा विवेक की सिद्धि है। वे दोनों साथ मिलकर ज्ञान मन्दिर का निर्माण करते हैं परन्तु कहीं भी वे एक दूसरे से नहीं टकराते, एक दूसरे के विरुद्ध कार्य नहीं करते।"*

अरस्तु के अन्तिम कारण अथवा लक्ष्य के सिद्धांत को टॉमस स्वीकार करता है। प्रकृति की प्रत्येक चीज़ एक आंतरिक प्रेरणा के कारण अपने स्वरूप को पहिचानने तथा पूर्णता प्राप्त करने के लिये कार्य करती है। प्रकृति का एक भाग होने के नाते मनुष्य का एक ध्येय अथवा उद्देश्य है उसे प्राप्त करना। अरस्तु के अनुसार यह उद्देश्य बौद्धिक चिन्तन है क्योंकि बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोच्च अवयव है। मनुष्य की सच्ची प्रकृति के बारे में ईसाई धर्म द्वारा दिये हुये अधिक पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में टॉमस अरस्तु से आगे बढ़ता है। वह कहता है कि मनुष्य का सर्वोच्च भाग बुद्धि नहीं बल्कि आत्मा है; इसलिये मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य आत्मा की मुक्ति होना चाहिये, संसार के विषय में बौद्धिक चिन्तन नहीं। यदि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमूर्ति ही बनाया है तो मानव जीवन का तत्त्व आत्मा में खोजना चाहिये, बुद्धि में नहीं, और

---

* "Theology completes the system of which science and philosophy form the beginning, but never destroy its continuity. Faith is the fulfilment of reason. Together they build the temple of knowledge but nowhere do they conflict or work at cross purposes."

—Sabine : *op. ct.*, page 248.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का लक्ष्य भगवद्ज्ञान होना चाहिये, प्रकृति का ज्ञान नहीं। ईश्वर ज्ञान अथवा आत्मा की मुक्ति बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती— 'प्रभु की कांति इतनी तीव्र है कि मानव मस्तिष्क उसे देखकर चौंधिया जाता है'— तथा अनुकम्पा उसके पूरक होने चाहियें। अरस्तु मुक्ति, श्रद्धा तथा अनुकम्पा इत्यादि को अपने दर्शन में कोई स्थान नहीं दे सकता था क्योंकि बुद्धिपाक मस्तिष्क से अलग तथा ऊपर आत्मा जैसी चीज़ का उसे कोई विचार नहीं था। सारांश यह कि टॉमस एक्वीनास के अनुसार अरस्तु ने प्रकृति तथा मनुष्य के विषय में जो कुछ कहा है वह तो गलत नहीं है किन्तु उसका दोष यह है कि उसकी दृष्टि अनुकम्पा के उस जगत तक न जा सकी जोकि प्रकृति जगत से परे है।

यही बात टॉमस के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के विषय में कही जा सकती है। इस क्षेत्र में भी अरस्तु ने जो कुछ कहा है उसे तो वह सही मानता है; परन्तु उसे वह अन्तिम सत्य नहीं मानता; ईसाई धर्म द्वारा उद्घाटित सत्य उसका पूरक है। टॉमस मानव समाज को 'लक्ष्य और उद्देश्य की एक ऐसी व्यवस्था समझता है जिसमें निकृष्ट उत्कृष्ट की सेवा करता है और उत्कृष्ट निकृष्ट का निर्देशन करता है।' वह ईसाई धर्म के इस परम्परागत विश्वास को स्वीकार नहीं करता कि राज्य का जन्म पाप तथा मनुष्य के पतन के कारण हुआ है; अरस्तु का अनुकरण करते हुए वह उसे एक स्वाभाविक विकास समझता है, जो मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है। वह राज्य को 'शुभ जीवन के लिये सेवाओं का पारस्परिक आदान प्रदान समझता है जिसमें कतिपय उद्यम अपना अपना योग देते हैं।' अरस्तु से वह इस बात में भी सहमत है कि राज्य सामाजिक कल्याण का एक विधेयात्मक अंग है और उसका उद्देश्य नागरिकों के लिये शुभ जीवन की व्यवस्था करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस ईसाई धारणा का खण्डन करता है कि सरकार का अस्तित्व केवल मनुष्य की पापमय प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिये है। राज्य के जन्म तथा कार्यों के सम्बन्ध में यह विचार एक आधारभूत महत्त्व रखता है; इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की पापमय प्रकृति की धारणा से टॉमस कितना दूर चलकर इस विचार पर आया कि मनुष्य में अन्तर्निहित महान् शक्तियाँ हैं जिनका विकास समाज में रहकर और दूसरों के साथ सहयोग करके किया जा सकता है। परन्तु टॉमस का आग्रह यह है कि राज्य को जिस शुभ जीवन की उन्नति करनी है उसकी व्याख्या ईसाई धर्म के मुक्ति सिद्धान्त के प्रकाश में करनी चाहिये। वह इस बात से इन्कार नहीं करता कि राज्य अथवा एक व्यक्ति का सांसारिक सुख की कामना करना उचित है; वह तो केवल इस बात का आग्रह करता है कि सांसारिक सुख पर एक श्रेष्ठतर तथा उच्चतर भविष्य जीवन तथा आत्म-मोक्ष को सदा तरजीह दी जानी चाहिये। समाज तथा राज्य का संघटन इसी पारलौकिक लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिये। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के उस लक्ष्य की प्राप्ति में योग देने के लिये एक उच्चतर सामाजिक संघटन अर्थात् चर्च होना चाहिये जोकि उसकी प्राप्ति के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक शर्तें निर्धारित कर सके। एक पूर्ण मानव समाज में दो संघटन होने चाहियें, एक लौकिक और दूसरा धार्मिक और पहिला दूसरे के अधीन होना चाहिये। अरस्तु के मस्तिष्क में केवल लौकिक आनन्द (इसका एक महत्त्वपूर्ण नैतिक स्वरूप) था; इस लिये वह लौकिक राज्य का सिद्धान्त ही दे सकता था; उसके सामाजिक संघटन की योजना में चर्च का कोई स्थान नहीं था। चर्च को सामाजिक संघटन के शिखर पर रख कर एक्वीनास अरस्तु का परिशोधन करता है। उसके लिये चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, बल्कि उसका पूरक है। अरस्तु का खण्डन करना आवश्यक नहीं है। राज्य के जन्म, स्वभाव, आवश्यकता तथा कार्यों के विषय में उसने जो कुछ कहा है ठीक है। हाँ, उसे एक अधिक व्यापक दर्शन में संश्लिष्ट करना आवश्यक है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि टॉमस ईसाई धर्म के इस परम्परागत विचार का खण्डन करता है कि राज्य एक पाप है और अरस्तु की इस धारणा को अपनाता है कि वह एक विधेयात्मक शुभ है। इसके फलस्वरूप वह अरस्तु की भांति राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाना और उसे एक शिक्षात्मक लक्ष्य सौंपना चाहता है। वह अनुभव करता है कि क्योंकि एक सुखी लौकिक जीवन का एक आधार आर्थिक है इसलिये राज्य को विवश होकर आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करना, व्यापार को नियन्त्रित करना, उचित मज़दूरी और मूल्य निर्धारित करना तथा अत्यधिक लाभ को रोकना पड़ता है। निर्धनों की उचित देखभाल करना भी राज्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार टॉमस एक्वीनास सामाजिक विधेयन को राज्य का एक मुख्य कार्य समझता है। वह एक क़दम और आगे बढ़ता है और कहता है कि यदि राज्य का कार्य ऐसी स्थिति जुटाना है जिसमें चर्च आत्म-मुक्ति के अपने कार्य को समुचित रूप से सम्पादित कर सके तो उसे नागरिकों को एक ऐसे अनुशासन में रखना चाहिये जिससे वे नैतिक रूप से श्रेष्ठतर मनुष्य बन सकें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन के प्रत्येक विभाग में एक्वीनास 'यूनानी आधार पर एक ईसाई भवन खड़ा करता है। उदाहरण के लिये, वह अरस्तु के प्रकृति दर्शन को स्वीकार करता है; प्रकृति के विषय में अरस्तु जो कुछ कहता है वह ग़लत नहीं है; परन्तु उसका दोष यह है कि वह यह नहीं देख पाता कि प्रकृति जगत ही समस्त विश्व नहीं है, बल्कि उसके ऊपर भी एक अनुकम्पा का जगत है। इसी प्रकार आचार शास्त्र में भी अरस्तु ने मनुष्य के अपने प्राकृतिक लक्ष्य, अर्थात् आनन्द प्राप्त करने के मार्ग का विवरण ठीक ही दिया है। उसका दोष यह है कि वह ईसाई धर्म के द्वारा प्रतिपादित इस सत्य को नहीं देख पाया कि मनुष्य का एक अतिप्राकृतिक लक्ष्य भी है जो कि मोक्ष और भविष्य में आनन्द प्राप्त करना है और इहलौकिक आनन्द का उद्देश्य इस लक्ष्य के अधीन होना चाहिये।'*

टॉमस के कानून सम्बन्धी विचारों का वर्णन करने से पहिले यह देखना आवश्यक है कि उसके युग की मुख्य समस्या, अर्थात् चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध के विषय में उसके

* Foster: *Masters of Political Thought*, Vol. I, pages 241-42.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या विचार थे। इस विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि टॉमस धर्म की प्रभुता का समर्थक था। परन्तु उसके द्वारा अरस्तु की इस बात को कि राज्य एक स्वाभाविक विकास है, स्वीकार करने का परिणाम यह निकलता है कि वह १३वीं शताब्दी में प्रचलित इस धारणा का समर्थन कदापि नहीं करता कि सम्राट् अपना अधिकार पोप से प्राप्त करता है। यद्यपि वह पोप के प्लेनीट्यूडो पोटस्टेटिस के सिद्धान्त का समर्थन करता है और यह मानता है कि कुछ स्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं जिनमें पोप को सम्राट् को पदच्युत करने का अधिकार है तथापि उसके समस्त विचार दर्शन से यह परिणाम निकलता है कि वह पोप को राज्य के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं देता। एक स्थान पर वह कहता है कि आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों शक्तियों का एक सामान्य दैविक मूल है और निरे लौकिक विषयों में आध्यात्मिक की अपेक्षा लौकिक शक्ति की आज्ञा का पालन ही करना चाहिये। हमें कार्लायल की इस धारणा को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि सन्त टॉमस एक्वीनास के साधारण और परिपक्व निर्णय के अनुसार लौकिक विषयों में पोप का प्रत्यक्ष नहीं, अप्रत्यक्ष अधिकार है। वह चर्च के सर्वमान्य आध्यात्मिक अधिकार को कानूनी प्रभुता का रूप नहीं देना चाहता था। यह उसकी दर्शन धारा के मूलभूत तत्त्व सामंजस्य और तालमेल के ठीक अनुरूप ही था। हम कह सकते हैं कि टॉमस एक नम्र पोपवादी था।

कानून के विषय में टॉमस के विचार— यदि राज्य को अपने नागरिकों को नैतिक रूप से श्रेष्ठतर बनने के कर्त्तव्य का पालन करना तथा जीवन के सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति में उनकी सहायता करना है तो राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिये। यदि शासक कानून के नैतिक उद्‌देश्य की अवहेलना करता है और उसके नियन्त्रण से स्वच्छन्द हो जाता है तो वह अत्याचारी बन जाता है। टॉमस को भी आततायीतंत्र से उतनी ही घृणा थी जितनी कि जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी को, यद्यपि वह आततायी की हत्या का उपदेश नहीं करता। आततायी की अवज्ञा करना उचित है यदि उसमें नैतिक संयम से काम लिया जाये और उससे सामाजिक अव्यवस्था न फैले।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है; वह कानून क्या है जिसकी अवहेलना करने से कोई शासन अत्याचारी हो जाता है और जिसका पालन करना उसे नैतिक औचित्य प्रदान करता है। यह प्रश्न हमें एक्वीनास के राजनीतिक सिद्धान्त के मर्म तक ले जाता है; क्योंकि अपने समय की विचार प्रवृत्ति के अनुसार उसने भी राज्य की व्याख्या कानून के आधार पर की, और कानून की व्याख्या राज्य के आधार पर नहीं की जैसा कि अधिकतर आधुनिक लेखक करते हैं। अपने ग्रन्थ सम्मा थ्योलौजिका में वह कानून के स्वरूप तथा स्रोत की विवेचना अन्य किसी विषय की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ करता है।

जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी के प्रसंग में यह बताया गया था कि वह कानून को, जिसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि राजा एक सेवक है, एक शाश्वत न्याय का दैविक नियम तथा प्राकृतिक विवेक द्वारा उद्‌भासित सार्वभौमिक सिद्धान्त समझता था। मानवकृत कानून को भी हम उसी की एक व्युत्पत्ति मान सकते हैं। ऐसा ही विचार अफ़लातून और अरस्तु का भी था जोकि कानून को विशुद्ध, तृष्णारहित विवेक समझते थे और उसमें एक व्यक्ति रहित गुण का आरोप करते थे। यह प्रचलित आधुनिक धारणा के एकदम विपरीत है जिसके अनुसार कानून सर्वप्रभुत्व-पूर्ण शासक की आज्ञा का नाम है। दूसरे शब्दों में, सेलिस्वरी के लिए कानून की मान्यता उसके विवेकशील अथवा नैतिक होने के कारण है; किन्तु आधुनिक परिभाषा के अनुसार नैतिक औचित्य कानून का कोई अङ्ग नहीं है। आज का कानून शासक का आदेश है; उसके आदेश के नैतिक अथवा अनैतिक होने का उसके औचित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। टॉमस ने इन दो छोरों के बीच का मार्ग अपनाया है। उसके अनुसार 'कानून सामान्य हित के लिये विवेक का आदेश है जो उसके द्वारा लागू किया जाता है जिसके हाथ में समाज का संरक्षण होता है।' जहाँ तक कि वह कानून को 'विवेक का आदेश' समझता है वहाँ तक तो परम्परागत प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को ही अपनाता है; और जहाँ तक वह यह कहता है कि 'उसे समाज के संरक्षक द्वारा लागू किया जाता है' वहाँ तक वह इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि कोई चीज़ तव तक कानून नहीं वन सकती जब तक कि एक उचित शक्ति द्वारा उसे लागू न किया जाये। टॉमस के सिद्धान्त का यह एक आवश्यक तत्त्व है कि एक विधेयात्मक कानून न केवल राजा द्वारा लागू किया जाना चाहिये बल्कि उसे विवेकसम्मत भी होना चाहिये। एक राजा द्वारा जारी किया हुआ प्रत्यादेश यदि विवेकसम्मत नहीं है और उसका उद्‌देश्य सामान्य हित नहीं है, तो वह सच्चा कानून नहीं हो सकता; दूसरी ओर विवेक का आदेश तब तक कानून नहीं बन सकता जब तक कि राजा द्वारा लागू करके उसे समुचित रूप न दिया जाये। इस प्रकार कानून न केवल बुद्धि का आदेश है और न केवल राजा का; इसमें दोनों सम्मिश्रित हैं। यह देखना दिलचस्प होगा कि एक्वीनास विधेयात्मक कानून के इस स्वरूप पर किस प्रकार पहुँचा जो कि उसकी दर्शन धारा के समन्वयात्मक चरित्र का एक सुन्दर उदाहरण है। अपने कानून के सिद्धान्त में वह यूनानी, स्टोइक, रोमन तथा ईसाई दृष्टिकोण का सम्मिश्रण कर देता है।

याद रहे कि टॉमस के लिए विश्व एक शिखरोन्मुखी संघटन है जिसके शिखर पर ईश्वर विराजमान है। इसमें प्रत्येक चीज़, चाहे वह कितनी ही हीन क्यों न हो, एक उद्‌देश्य की पूर्ति करने के लिए है और वह उद्‌देश्य है सम्पूर्ण की पूर्णता। कोई भी वस्तु शेष से अलग नहीं है; प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से सम्बन्धित है। इसलिये मानवीय कानून को शासन की समस्त प्रणाली का एक अंग होना चाहिये जिसके द्वारा परमात्मा विश्व के ऊपर शासन करता है। इस व्यवस्था का स्वरूप बौद्धिक है; यह दैविक विवेक की अभिव्यंजना मात्र है। विश्वव्यापी सत्य का एक अंग होने के नाते मानवीय कानून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विवेकसम्मत है; जो विवेक व्यापक विश्व में वर्तता है वही इसमें अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार मानवीय कानून दैविक विवेक के साथ सम्बन्धित है जिसे कि विश्व की योजना के रूप में हम शाश्वत कानून कहकर पुकार सकते हैं। इसलिये यह राजसत्ताधिकारी की इच्छा की अभिव्यंजना से बढ़कर है; यह बुद्धि की अभिव्यंजना है। जैसा कि सैवाइन का कहना है, टॉमस किसी ऐसी मानवीय या दैविक इच्छा में विश्वास नहीं करता था जोकि मानव समाज अथवा प्रकृति के लिये अपने आदेश द्वारा कानून बनाती है। प्रत्येक स्तर पर कानून बुद्धि की अभिव्यक्ति है। टॉमस कानून के चार भेद करता है:— १. शाश्वत, २. प्राकृतिक, ३. मानवीय तथा ४. दैविक। ये विवेक के चार विभिन्न प्रकार हैं; एक ही विवेक विश्वव्यापी सत्य के विभिन्न स्तरों पर चार विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। कानून के इन चार विभिन्न प्रकारों के एक संक्षिप्त विवरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

शाश्वत कानून (Eternal Law)— शाश्वत कानून वह दैविक विवेक है जोकि विश्वव्यापी स्तर के ऊपर वर्तता है; यह वह योजना है जिसके अनुसार ईश्वर ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है और जिसके द्वारा वह उसे कायम रखता है। अपने पूर्णतम रूप में यह केवल ईश्वर के मस्तिष्क में पाया जाता है, परन्तु यह विश्व में निरन्तर अभिव्यक्त हो रहा है जो कि धीरे धीरे विकसित होकर पूर्णता की ओर जा रहा है: समस्त सृष्टि,— देव, मानव, पशु, वनस्पति तथा जड़ पदार्थ,— इस कानून के अधीन हैं। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि सीमित है, इसलिये वह शाश्वत कानून को उसके पूर्णतम रूप में कभी वहन नहीं कर सकती। तथापि ईश्वर मनुष्य को इसका कुछ आभास प्राकृतिक कानून के रूप में देता है ताकि मनुष्य उसका अनुसरण कर सके और सृष्टि के साथ अपने को सन्निद्ध कर सके।

प्राकृतिक कानून* **(Natural Law)**— नैसर्गिक कानून विश्व में अभिव्यक्त दैविक विवेक है; यह रचित विश्व में शाश्वत कानून का प्रतिबिम्ब है। वह मानव हृदय में उसी प्रकार से अङ्कित है जिस प्रकार कि पशु, वनस्पति तथा जड़ पदार्थ के अमानवी जगत में। परन्तु विश्व के दो विभागों में इसकी अभिव्यंजना में बहुत बड़ा अन्तर है; मानव में यह अधिक सुन्दर रूप में पाया जाता है। पशु, पौदे इत्यादि एक अचेतन तथा यान्त्रिक ढंग से ईश्वरीय विवेक के अनुसार कार्य करते हैं; वे एक विवेकहीन भाव तथा एक आंतरिक प्रकृति द्वारा अपने आपको सुरक्षित रखने, लाभ प्राप्त करने तथा हानि से बचने की चेष्टा करते हैं। अपने चरित्र का निर्देशन करने के लिए उन्हें आत्म-सुरक्षा अथवा शुभाशुभ का कोई ज्ञान नहीं होता। आधुनिक परिभाषा में हम प्राकृतिक कानून उन विभिन्न पद्धतियों को कह सकते हैं, जिनमें कि ईश्वर अमानवी जगत के व्यापार

* Natural Law का अधिकतर अनुवाद प्राकृतिक नियम किया जाता है पर यह उचित नहीं जान पड़ता। हमने इसका अनुवाद नैसर्गिक कानून किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विनियमित तथा निर्दिष्ट करता है। वे दैविक विवेक की अभिव्यंजना हैं; वे आवश्यक और अपरिवर्त्तनीय हैं, और उनका कोई अपवाद नहीं है। इसके विपरीत, मनुष्य दैविक विवेक में अधिक प्रत्यक्ष तथा सचेत रूप से भाग लेता है। जैसाकि पहिले ही कहा जा चुका है, ईश्वर ने शाश्वत कानून का कुछ आभास मनुष्य को दिया है जिस से वह उसे पहचान सके और इच्छापूर्वक उसके अनुसार आचरण कर सके। अपना स्वयं का तथा दूसरों का जीवन सुरक्षित रखने की उसमें सचेत इच्छा है; शुभाशुभ, पुण्य तथा पाप में विभेद करने तथा शुभ और पुण्य को अपनाने और अशुभ तथा पाप से बचने की ईश्वर ने उसे शक्ति प्रदान की है। मनुष्य में दैविक विवेक की इस अभिव्यंजना को हम नैसर्गिक कानून (Natural Law) कह सकते हैं जो कि प्राकृतिक कानून (Laws of Nature) से भिन्न है जिनका कार्य प्रकृति के विवेकविहीन भाग के व्यापार का नियमन करना है। याद रहे कि मानव हृदय में अंकित नैसर्गिक कानून निश्चित नियमों की अपेक्षा आदर्शों की व्यवस्था अधिक है। यह कहना गलत न होगा कि यह मानव जीवन के लक्ष्य तथा मानव संस्थाओं के मापदण्ड को निर्धारित करता है; साध्य पर पहुँचने के लिये साधनों का निर्धारण यह नहीं करता। यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा मनुष्य दैविक योजना की सिद्धि में भाग ले सकता है।

दैविक कानून (Divine Law)— शाश्वत तथा नैसर्गिक कानून (उन दोनों रूपों में जिनमें कि यह मनुष्य तथा प्रकृति के विवेकविहीन भाग में अभिव्यक्त होता है) इस दृष्टिकोण से दोनों ही शाश्वत हैं कि वे ईश्वरीय बुद्धि तथा रचित संसार के साथ साथ चलने वाले हैं। ऐसा कोई समय नहीं था जब कि वे न हों और इसलिए उन्हें किसी ने बनाया हो; वे अनादि हैं। सारांश यह कि उनमें से कोई भी विधेयात्मक नहीं है। एक विधेयात्मक कानून वह होता है जिसे किसी समय विशेष पर बनाया जाये; वह कुछ ऐसे कामों को करना अनिवार्य बना देता है जो कि पहिले अनिवार्य नहीं थे। इस बात में ये दैविक कानून तथा मानव कानून से, जो कि दोनों विधेयात्मक कानून हैं, भिन्न हैं। मानव कानून तो स्पष्टतः एक विधेयात्मक क़ानून है ही, इसके लिये तो किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं। किन्तु दैविक कानून किस प्रकार विधेयात्मक है, यह बात उतनी स्पष्ट नहीं है; इसलिये इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा; नैसर्गिक कानून में जिसके द्वारा मनुष्य अपने आचरण को नियमित करता है, जो व्यापक और आधारभूत सिद्धान्त होते हैं, मानव जीवन की समस्त स्थितियाँ और छोटी छोटी बात उनके अन्तर्गत नहीं आ सकतीं। प्रत्येक काल और परिस्थिति के लिये वे एक पूर्ण विधान का काम नहीं दे सकतीं। इसका कारण यह है कि अपनी सीमित बुद्धि से मनुष्य उन नियमों के केवल एक छोटे से अंश को ही जान सकता है जिनके द्वारा विश्व का नियमन तथा शासन होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, वे मनुष्य के सामने केवल जीवन लक्ष्य रखते हैं, उस तक पहुँचने के साधन निर्धारित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते। इसलिये उसे प्राकृतिक कानून की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक नियम संहिता की आवश्यकता है। एक्वीनास के अनुसार इस आवश्यकता की पूर्ति दैविक कानून तथा मानव कानून करते हैं। दैविक कानून के अन्तर्गत ईश्वर के वे आदेश आते हैं जो कि अन्तर्बुद्धि द्वारा मनुष्य को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह ईश्वर-प्रदत्त एक उपहार है, मानव बुद्धि की खोज नहीं जैसा कि प्राकृतिक कानून है। ईश्वर ने अपने कानून का ज्ञान यहूदियों को सिनाई पर्वत पर, ईसाइयों को ईसा द्वारा, मुसलमानों को मुहम्मद द्वारा तथा हिन्दुओं को वेदों द्वारा कराया। यह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को निर्धारित करता है, लौकिक पक्ष को इतना नहीं। विभिन्न जातियों और कालों में दैविक कानून का रूप तथा तत्व भिन्न भिन्न होता है। इसके विपरीत नैसर्गिक कानून मानव मात्र के लिये एक है; वह हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के लिये एक से ही कर्तव्य निर्धारित करता है। किन्तु नैसर्गिक कानून और दैविक कानून में कोई विरोध नहीं हो सकता; ईश्वर अपनी इच्छा द्वारा ऐसा काम करने का आदेश नहीं दे सकता जो कि विवेकसम्मत न हो। परमात्मा द्वारा मिला हुआ ज्ञान (Revelation) विवेक को नष्ट नहीं करता; वह उसका पूरक है। सैबाइन के शब्दों में 'टॉमस की प्रणाली विवेक तथा श्रद्धा के ऊपर आधारित है; किन्तु उसे इस बात में कभी सन्देह नहीं हुआ कि दोनों मिलकर एक ही भवन निर्माण करते हैं।'

मानवीय कानून (Human Law)— टॉमस अन्य प्रकार के कानूनों की अपेक्षा मानवीय कानून का अधिक व्यापक विवरण देता है और तत्परता के साथ नैसर्गिक कानून के साथ उसका सम्बन्ध बतलाने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार दैविक कानून नैसर्गिक कानून की कमी की पूर्ति करता है, इसी प्रकार नैसर्गिक कानून से अछूते बचे हुये क्षेत्र के लिये मानवीय कानून आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिये नैसर्गिक कानून यह घोषणा कर सकता है कि हत्या और चोरी करना अपराध है; किन्तु वह उनकी निश्चित परिभाषा नहीं दे सकता और उनके लिये दण्ड निर्धारित नहीं कर सकता। इसके लिये मानवीय कानून आवश्यक है। दूसरी बात यह कि नैसर्गिक कानून तथा दैविक कानून का तत्त्व विशिष्ट रूप से मानव स्वभाव पर निर्भर नहीं करता, इसलिये हमें ऐसे विशिष्ट नियमों की आवश्यकता है जो कि विशिष्ट स्थितियों और परिस्थितियों में प्रयोग किये जा सकें। मानवीय कानून ऐसे नियम प्रदान करता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, मानवीय कानून विधेयात्मक है; यह एक निश्चित समय पर बनाया जाता है और यह कुछ ऐसी बातों को न्यायपूर्ण और कुछ को अन्यायपूर्ण घोषित करता है जो कि इसके बनने से पहिले न तो न्यायपूर्ण थीं और न अन्यायपूर्ण, जैसे कि शस्त्र रखना अथवा समाचार-पत्रों में सामग्री विशेष को प्रकाशित कराना।

मानवीय कानून समाज के संरक्षक अर्थात् राजा द्वारा लागू किया जाता है। परन्तु कानून बनाने में राजा मनमानी नहीं कर सकता; उसे कुछ सीमाओं के अन्दर रह कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करना पड़ता है। पहिली बात तो यह कि मानवीय कानूनों में कोई बात बुद्धि अथवा विवेक विरोधी नहीं होनी चाहिये क्योंकि वे मनुष्य के लिये बनते हैं जो कि अपनी बुद्धि के कारण ही पशु से भिन्न है। टॉमस स्पष्ट रूप से कहता है कि मानवीय कानून बुद्धि के अध्यादेश हैं। क्योंकि नैसर्गिक कानून मानव स्तर पर दैविक विवेक की अभिव्यंजना है; इसलिये मानवीय कानून को नैसर्गिक कानून से भी असंगत नहीं होना चाहिये। इस प्रकार टॉमस मानवीय कानून को नैसर्गिक कानून के अधीन रखता है। एक नागरिक एक ऐसे कानून को मानने के लिये बाध्य नहीं है जोकि बुद्धि के विरुद्ध है। इस प्रकार राजकीय कानून को मानने का कर्तव्य असीम और अशर्त नहीं है। "मनुष्य शासकों की आज्ञा का पालन करने के लिए उसी हद तक बाध्य हैं जहाँ तक कि वह न्याय की मांग हो। इसलिये यदि उनका शासनाधिकार न्यायोचित नहीं है, बल्कि अनुचित रूप से छीना हुआ है, अथवा यदि उनका आदेश न्यायोचित नहीं है तो उनकी प्रजा उनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। हाँ, यदि संयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के लिये ऐसा करना पड़े तो दूसरी बात है।" दूसरी बात यह कि कानून सामान्य हित के लिये बनाये जाने चाहियें, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित के लिए नहीं। ऐसा होने की सबसे अधिक सम्भावना तभी है जबकि कानून सम्पूर्ण समाज द्वारा बनाया जाये। सामान्य सम्मति प्राप्त करने के विभिन्न ढंग हैं जिनका विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। महत्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि इस आवश्यकता पर ज़ोर देकर टॉमस ने अपनी दार्शनिक प्रणाली तथा कानून के सामान्य सिद्धान्त में उस ट्यूटोनिक परम्परा का सम्मिश्रण किया है जिसके अनुसार कानून का औचित्य जनता द्वारा मान्यता के ऊपर निर्भर करता है।

राजा की कानून बनाने की शक्ति पर एक अन्य सीमा भी है जो उल्लेखनीय है। यह केवल लौकिक विषयों तक ही सीमित है; आध्यात्मिक विषय इसकी परिधि से बाहर हैं। मानवीय कानून उस क्षेत्र से अलग रक्खा गया है जोकि दैविक कानून की परिधि के अन्तर्गत है।

एक्वीनास के कानून के सिद्धान्त की आधारभूत बातों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं:— वह कहता है कि केवल न्यायपूर्ण और धर्म विहित मानवीय कानून ही नागरिकों के लिए मान्य है। मानवीय कानूनों को धर्म विहित होने के लिये उन्हें नैसर्गिक कानून के अनुसार होना चाहिये। यदि कोई कानून नैसर्गिक कानून के अनुसार नहीं है तो नागरिक उसकी अवज्ञा कर सकता है और ऐसा करने के लिए उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिये। कानूनों का उद्देश्य भी सामान्य हित होना चाहिये और उन्हें समाज का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। वे व्यक्ति के अन्तःकरण को मान्य होने चाहियें जोकि नैसर्गिक कानून के अनुसार उनके औचित्य का अन्तिम निर्णायक है। इस प्रकार राजनीतिक आज्ञा पालन को एक कठोर नैतिक बन्धन से आबद्ध कर दिया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों प्रकार के कानूनों की विशेषताओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का सुन्दर सारांश हमें डनिंग के निम्नलिखित शब्दों में मिलता है: "शाश्वत कानून विश्व को नियंत्रित करके वाली योजना है जोकि ईश्वर के मस्तिष्क में वर्तमान है। नैसर्गिक कानून मनुष्य का, एक बुद्धिपरक प्राणी के रूप में, शाश्वत कानून में भाग लेना है जिसके द्वारा वह अच्छे बुरे की पहिचान करता है तथा अपना सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, नैसर्गिक कानून के सिद्धान्तों का विशिष्ट लौकिक स्थितियों में प्रयोग करना है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव विवेक की सीमाओं और अपूर्णताओं की पूर्ति की जाती है और मनुष्य को पारलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है; यह दैविक ज्ञान का कानून है।"*

सन्त टॉमस एक्वीनास की दर्शन धारा के दो मुख्य विषयों, अर्थात् अरस्तु की विचार धारा रूपी धड़ पर चर्च के धर्मशास्त्रीय विचार तथा पोप की श्रेष्ठता रूपी सिर को रखना तथा कानून, की विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त दो अन्य विषय हैं जो अधिक महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी उल्लेखनीय हैं। ये हैं सरकार के रूप तथा दास प्रथा। सन्त ऑगस्टाइन तथा प्रारंभिक चर्च फादर्स के सदृश टॉमस भी दासता को पाप का दैविक दण्ड समझता है और उसे उचित मानता है। अरस्तु की भांति वह दासता को कुछ प्रकार के कामों के लिये ठीक और लाभदायक समझता है और इसलिए उसे स्वाभाविक मानता है। उसके पक्ष में वह एक दूसरी युक्ति भी पेश करता है। उसका विचार है कि वह सैनिकों में वीरता का संचार करती है। युद्ध में विजेता द्वारा दास बना लिये जाने का भय सैनिकों को साहसपूर्वक लड़ने के लिये सब से बड़ी प्रेरणा देता है।

हम पहिले ही देख चुके हैं कि टॉमस ने अरस्तु के इस सिद्धान्त को अपनाया है कि राज्य एक स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का फल है। परन्तु वह अरस्तु के सदृश नगर-राज्य को एक स्वपर्याप्त इकाई नहीं समझता; यह गुण वह एक

* "The lex aeterna is the controlling plan of the universe, existing in the mind of God. Natural law (lex naturalis) is that participation of man, as a rational creature, in the eternal law (or the divine reason), through which he distinguishes between good and evil and seeks his true end. Human law is the application, by human reason, of the precepts of natural law to particular earthly conditions. The divine law in the special sense is that through which the limitations and imperfections of human reason are supplemented, and man is infallibly directed to his supramundane end— eternal blessedness; it is the law of Revelation."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य (Kingdom) में ही देखता है। अरस्तु द्वारा किये हुए राज्यों के वर्गीकरण अर्थात् राजतंत्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र और उनके भ्रष्ट रूप को वह अपनाता है। परन्तु जबकि अरस्तु पोलिटी (लोकतन्त्र) अथवा मध्यवर्गतन्त्र को राज्य का सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक रूप मानता था, टॉमस राजतंत्र का पक्षपाती था, क्योंकि उसमें अन्य प्रकार के राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक उद्देश्य की एकता प्रकट होती है और यह समाज की एकता को कायम रखता है। अरस्तु की इस आपत्ति का औचित्य वह स्वीकार करता है कि एक व्यक्ति के हाथों में शक्ति केन्द्रीभूत हो जाने से आततायीतन्त्र का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; परन्तु जनतन्त्र में सन्निहित नागरिक कलह तथा अव्यवस्था की अपेक्षा वह आततायीतन्त्र का खतरा उठाना अधिक पसन्द करता है। इसके अतिरिक्त उसका विचार यह है कि क्योंकि शक्ति एक ट्रस्ट है और राजा ट्रस्ट की शर्तों का पालन करता है या नहीं इस बात का अन्तिम निर्णायक जनता है, इसलिये राजतन्त्र भ्रष्ट होकर आततायीतन्त्र में परिवर्तित नहीं होगा।

सन्त टॉमस एक्वीनास की राजनीतिक विचारधारा का मूल्यांकन करते समय अन्त में यह बताना भी अति आवश्यक है कि आधुनिक योरोप को यूनानी विचारों से परिचित कराने में उसका कितना हाथ था। सन्त टॉमस एक्वीनास ने अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' (Politics) और सन्त ऑगस्टाइन के उपदेशों में एक महान समन्वय स्थापित किया, ऐसे समन्वय इतिहास में गिने चुने ही हैं। इसी समन्वय के कारण उत्तरमध्ययुग (Later Middle Ages) की विचारधारा 'पालिटिक्स' के प्रमुख सिद्धान्तों से प्रभावित हुई। उदाहरणतः कानून ही सर्वोच्च है, सरकारें कानून के अधीन हैं, वैधानिक सम्राट (Lawful Monarch) तथा निरंकुश शासक जो केवल अपनी ही इच्छा से शासन चलाता है, इन दोनों प्रकार के शासकों में बुनियादी अन्तर है, जनता में सामूहिक निर्णय करने की क्षमता होने के कारण उसे अपने शासकों को निर्वाचित करने तथा उन पर नियंत्रण रखने का जन्म-सिद्ध अधिकार होना चाहिये। हम यह भी कह सकते हैं कि सन्त एक्वीनास द्वारा ही आधुनिक योरोप में अरस्तु के विधानवाद (Constitutionalism) का प्रसार हुआ। लार्ड एक्टन ने एक बार सन्त एक्वीनास को सब से पहला ह्विग (Whig) बतलाया। प्रो॰ बार्कर इस कथन में संशोधन करते हुए कहते हैं कि पहला ह्विग एक्वीनास नहीं था बल्कि अरस्तु था, क्योंकि इस महान मध्यकालीन विचारक ने अपने विधानवाद की प्रेरणा अरस्तु से ही ली थी। अरस्तु ने सन्त टॉमस को शिक्षित किया और सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हुकर (Richard Hooker) को भी शिक्षित किया ······ सुयोग्य हुकर लॉक (Locke) के आचार्यों में से एक था और सिविल गवर्नमैंट (Civil Government) नामक दो ग्रन्थों का एक महान स्रोत भी था।

एजिडियस रोमेनस (Egidius Romanus)— सन्त टॉमस एक्वीनास के उपरान्त एजिडियस रोमेनस या एजिडियस कोलोना, जैसा कि कभी कभी उसे पुकारा जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, आता है। उसकी पुस्तक 'डी पोटस्टेट एक्लेज़ियास्टिका' (De Potestate Ecclesiastica) में, जो कि १३०१ ई० में प्रकाशित हुई थी, धर्मशास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार के ऊपर पोप की प्रभुता का सब से अधिक पूर्ण पक्ष-समर्थन पाया जाता है। एजिडियस के अतिरिक्त पोप के अन्य किसी समर्थक ने इतनी वीरता और स्पष्टतापूर्वक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया कि पोप समस्त विश्व का, आध्यात्मिक तथा लौकिक समस्त विषयों में, सर्वोच्च स्वामी है और समस्त राजा उसके अधीन हैं। इसलिये राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पोप की प्रभुता के पक्ष में एजिडियस की युक्तियों का विवरण देने से पहिले उसकी स्वामित्व (Dominium) सम्बन्धी धारणा का विश्लेषण करना अधिक सुविधाजनक होगा क्योंकि उसके चिंतन में उसका केन्द्रीय स्थान है। स्वामित्व शब्द का प्रयोग मध्यकालीन विचारक किसी व्यक्ति या वस्तु के ऊपर अधिकारपूर्ण शक्ति का बोध कराने के लिये करते थे। इसमें राजनीतिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी दोनों प्रकार के अधिकार सम्मिलित थे। यह कहा जाता था कि राजा का, और इसी प्रकार सामन्त सरदार का, अपनी प्रजा तथा सम्पत्ति के ऊपर स्वामित्व है। एजिडियस का आग्रह यह था कि लौकिक कानूनों द्वारा प्रदान किया हुआ स्वामित्व का अधिकार तभी मान्य है जबकि उसका उपभोक्ता ईश्वर के अधीन हो और उसे प्रभु-कृपा प्राप्त हो। एक धर्म-वहिष्कृत राजा अथवा सामन्त सरदार का अपनी प्रजा की भक्ति तथा सेवाओं पर कोई उचित अधिकार नहीं हो सकता; इसी प्रकार एक विधर्मी का सम्पत्ति के ऊपर कोई उचित अधिकार नहीं हो सकता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर वास्तविक शक्ति का प्रयोग कर सकता है, उसके आधिपत्य में कुछ सम्पत्ति है; किन्तु उसके ऊपर उसका स्वामित्व जब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसका अधिकार उसे प्राप्त न हो। इसलिये प्रश्न उठता है: स्वामित्व का अधिकार एक व्यक्ति किस प्रकार प्राप्त करता है? एजिडियस का उत्तर यह है कि जड़ अथवा चैतन्य सम्पूर्ण सृष्टि के ऊपर एकमात्र सच्चा स्वामित्व केवल ईश्वर का है और मनुष्यों तथा सम्पत्ति के ऊपर केवल उन्हीं का उचित अधिकार हो सकता है जिन्होंने कि ईश्वर से उसकी अनुकम्पा द्वारा उसे प्राप्त किया हो। क्योंकि ईश्वर की अनुकम्पा केवल चर्च द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है इसलिये सच्चा स्वामित्व केवल वही है जो चर्च के अधीन हो या जिसे चर्च ने प्रदान किया हो। इस प्रसंग में एजिडियस के शब्द उद्धरणीय हैं। वह लिखता है: "इसलिये तुम्हें अपनी विरासत, अपने समस्त स्वामित्व, अपनी प्रत्येक वस्तु के लिये अपना अधिकार तुम्हें चर्च से, चर्च के द्वारा तथा चर्च का एक पुत्र होने के नाते प्राप्त करना चाहिये, न कि अपने लौकिक पिता से, अथवा उसके द्वारा, अथवा इसलिये कि तुम उसके पुत्र हो। ...... परन्तु ध्यान रहे कि जब हम यह कहते हैं कि चर्च माता है और समस्त वस्तुओं के ऊपर उसका प्रभुत्व है तो ऐसा कह कर हम मनुष्यों से उनका अधिकार नहीं छीनते; क्योंकि चर्च का स्वामित्व सार्वभौमिक और श्रेष्ठतर है, जबकि उसके सदस्यों का स्वामित्व केवल विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हीनतर है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि चर्च का स्वामित्व सार्वभौमिक और श्रेष्ठतर है और उसके घटकों को हम विशिष्ट और हीनतर स्वामित्व प्रदान करते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि हम लौकिक विषयों में राजा का और पारलौकिक क्षेत्र में ईश्वर का स्वामित्व स्वीकार करते हैं।"*

इस अत्यन्त मेधावी तथा सारगर्भित युक्ति का दार्शनिक आधार अरस्तु के इस सिद्धान्त में पाया जाता है कि साधन का मूल्य तथा औचित्य साध्य के ऊपर निर्भर करता है। एजिडियस का तर्क यह है कि एक व्यक्ति का वस्तुओं के ऊपर स्वामित्व तथा राजनीतिक शक्ति के ऊपर अधिकार तभी उचित और श्रेयस्कर हो सकता है जबकि उसका प्रयोग आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करने में किया जाए। ऐसा तभी हो सकता है जबकि चर्च उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। सारांश यह कि क्योंकि प्रत्येक सांसारिक वस्तु का मूल्य उसकी उच्चतर आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये उपयोगिता के ऊपर निर्भर करता है इसलिये उसके ऊपर स्वामित्व तभी उचित और धर्मविहित हो सकता है जब कि वह चर्च से और चर्च द्वारा प्राप्त किया जाये। इस सिद्धान्त के बड़े गम्भीर परिणाम निकलते हैं; इसके अनुसार समस्त सांसारिक वस्तुओं के ऊपर सामान्य स्वामित्व चर्च में निहित है, इस प्रकार यह लौकिक विषयों में चर्च के हस्तक्षेप करने के लिये आधार प्रदान करता है। पीटर फ्रेसस ने फ्रांस के राजा के अपने वंशानुगत राज्य अधिकार के समर्थन में जो युक्ति दी थी उसका यह सिद्धान्त ज़ोरदार खण्डन करता है। यह राजा के अपनी सम्पत्ति, भूमि तथा प्रासादों को प्रयोग करने तथा नियंत्रित करने के अधिकार को तो स्वीकार करता है और इस प्रकार उसके स्वामित्व को सुरक्षित रखता है; किन्तु राजा से उच्चतर स्वामित्व चर्च में निहित कर देता है। चर्च को समस्त वस्तुओं और मनुष्यों के ऊपर स्वामित्व का अधिकार दिया गया है; और उसकी निर्देशक शक्ति राजा की

---

* "You must therefore derive your title to your inheritance, to your whole dominium, to everything you possess from the church, through the church, and from being a son of the church, rather than from your earthly father, or through him; or because you are his son...... But it should be noted that when we say that the church is the mother and has the lordship over all possession and all temporal things, by so saying we are not taking from men their dominion or possession, for the church has such dominion as the universal and superior dominion, its members have it only as the particular and inferior. We then do render unto Caesar that which is Caesar's and unto God that which is God's, when we concede to the church the universal and superior dominium over temporal things, and bestow on the faithful the particular and inferior dominium." Quoted by McIlwain from De Ecclesiastica Potestate.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति से श्रेष्ठतर है। चर्च एक राजा के व्यक्तित्व का निर्णय कर सकता है, उसकी निन्दा कर सकता है; यहाँ तक कि उसकी सम्पत्ति को किसी दूसरे के स्वामित्व में दे सकता है। एजिडियस बड़ी तत्परता के साथ यह सिद्ध करना चाहता है कि उसका सिद्धांत लौकिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के विभेद को नष्ट करना नहीं है और न ही वह पूर्वोक्त को अपनी शक्तियों तथा अधिकारों से वंचित करना चाहता है; उसका अभिप्राय केवल लौकिक शक्ति को चर्च के नियंत्रण में रखना है ताकि वह न्यायोचित बन सके। चर्च लौकिक शक्ति का अपहरण नहीं करता; वह उसमें हस्तक्षेप केवल तभी करता है जबकि पाप का प्रश्न उठता है; ऐसे हस्तक्षेप का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक हितों और मूल्यों को सुरक्षित रखना है। इस शक्ति की ऐसी व्यापक व्याख्या की जा सकती है जिससे कि प्रायः समस्त विषय इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। इससे भी बढ़कर चर्च का एक विशेष अधिकार क्षेत्र भी है; इसमें विभिन्न राज्यों में शान्ति स्थापित रखना तथा संधियों का पालन करना सम्मिलित हैं। एजिडियस ऐसी स्थिति में भी चर्च को हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है जबकि शासक असावधानी से काम करे या नागरिक कानून अस्पष्ट अथवा अपर्याप्त हो।

एजिडियस के तर्क का अगला सोपान यह सिद्ध करना है कि चर्च की समस्त शक्तियाँ आवश्यक रूप से पोप की हैं, और किसी की नहीं। अपनी यह बात सिद्ध करने के लिए एजिडियस धर्मग्रन्थों तथा इतिहास का आश्रय लेता है और दृष्टान्तों का भी प्रयोग करता है। उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं; हम केवल एक बात का उल्लेख करेंगे। एजिडियस चर्च को अधिकारियों की एक शिखरोन्मुखी व्यवस्था (Hierarchy) समझता है जिसमें निम्नाधिकारी अपनी शक्तियाँ उच्चाधिकारियों से प्राप्त करते हैं और उनके नियन्त्रण के अधीन रहते हैं। पोप चर्च का उच्चतम अधिकारी है, इसलिये उसे सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। चर्च का जो कुछ भी अधिकार है, उसका प्रयोग पोप करता है, क्योंकि वह चर्च का निर्विवाद प्रधान है। उसकी एक युक्ति यह है कि पोप की सर्वोच्च तथा अनुपम शक्तियाँ उसके पद के कारण हैं; वे उसके व्यक्तिगत चरित्र के ऊपर निर्भर नहीं करतीं; उनका स्रोत आध्यात्मिक शक्ति की स्वाभाविक श्रेष्ठता तथा अरस्तु का यह सिद्धांत है कि उच्चतर निम्नतर पर शासन तथा नियन्त्रण करता है। इसलिये यद्यपि वह 'कॉन्स्टेन्टाइन के दान' तथा अन्य ऐतिहासिक पूर्व-उदाहरणों का उल्लेख करता है, तथापि वह उनको बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता; उसका मुख्य आधार आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप तथा पोप का सर्वोच्च पद है।

यह प्रश्न उठाया गया है कि आया कि एजिडियस के अनुसार पोप चर्च का निरंकुश प्रधान है या कि एक ऐसा वैधानिक शासक है जो कि व्यवस्थापन तथा प्रशासन के मामलों में चर्च के सामान्य कानून से बाध्य है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि एजिडियस निरंकुश-वाद की दिशा में काफी बढ़ गया है, तथापि वह उसे एक पूर्णरूपेण निरंकुश शासन नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाता है। वह बताता है कि पोप को व्यवस्थापन तथा प्रशासन का कार्य साधारणतया सामान्य कानून के अनुसार चलाना चाहिये ; किन्तु अपवादस्वरूप कुछ मामलों में उसे कानून का उल्लंघन करने का अधिकार भी वह देता है।

एजिडियस रोमेनस के विचारों के इस संक्षिप्त विवरण के उपसंहार-स्वरूप हम मैकल्वेन का एक उद्धरण देंगे जिसने इस महान् मध्यकालीन विचारक की गहनतम विवेचना की है और उपरोक्त पृष्ठों पर जिसका एक बहुत बड़ा ऋण है। वह लिखता है : "सब कुछ कहने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मध्य काल के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक विचार के इतिहास में एजिडियस कोलोना महानतम नामों में है। अपने ग्रंथ 'De Regimine Principum' में उसने अरस्तु के राजनीतिक विचारों को मध्य काल में एक अत्यन्त गहन और व्यापक रूप से अपनाया है, चाहे इस क्षेत्र में आदि लेखक वह भले ही न हो। २५ वर्ष उपरान्त उसने इन्हीं विचारों को पोप की प्रभुता के विषय में केनोनिस्ट्स के उग्रतम विचारों के साथ सम्मिश्रित कर दिया है और यह सम्मिश्रण पोप की प्रभुता का दार्शनिक आधार पर प्रथम व्यापक समर्थन दिखाई पड़ता है; और अपने ग्रन्थ 'डी पोटस्टेट एक्लेज़ियास्टिका' में प्रतिपादित स्वामित्व के सिद्धांत में उसने इन दो विचारधाराओं को स्वामित्व अधिकारों को स्वामियों तथा सेवकों में विभाजित करने की एक तीसरी सामन्तवादी धारा से मिला दिया है।"* एजिडियस ने 'De Regimine Principum' की रचना फिलिप दी फेयर के लाभार्थ की थी जिसका कि वह शिक्षक था। जब फिलिप और पोप में संघर्ष हुआ तो पोपशाही का पक्ष समर्थन करने के लिये उसने फिलिप का परित्याग कर दिया। एजिडियस बोर्गस (Bourgus) का आर्कबिशप और ऑगस्टीनियन सम्प्रदाय (Augustinian Order) का प्रधान था।

दान्ते (Dante Alighieri)— पोपवादियों को छोड़कर अब हम साम्राज्य की स्वाधीनता के हामियों पर आते हैं। उन्हें यदि हम धर्मनिरपेक्ष राज्यवादी कहें तो अधिक

* "When all is said, it must appear that Egidius Colona is one of the greatest names in the history of political thought in the later middle ages. He was the author of one of the closest and most comprehensive if not the earliest medieval adaptation of Aristotle's political ideas, in his De Regimine Principum; a quarter century later he combined these same ideas with the extreme canonist views of papal omnicompetence in what appears to be the first comprehensive defence of the plenitudo potestatis of the Pope on a philosophic basis; and in the theory of dominium set forth in his De Potestate Ecclesiastica at that time he made a further combination of these two sets of ideas with a third, the feudal conception of tenure and its parcelling of proprietary rights among lords and vassals."

—McIlwain: *Growth of Political Thought in the West*, page 259.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुचित होगा, क्योंकि दान्ते के अतिरिक्त उनमें से किसी ने भी साम्राज्य का समर्थन नहीं किया। शेष सभी ने लौकिक क्षेत्र पर पोप के नियन्त्रण के दावे के विरुद्ध उदीयमान राष्ट्र-राज्यों का पक्ष ग्रहण किया। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, १४वीं और १५वीं शताब्दियों में चर्च का शत्रु राष्ट्र-राज्य था, होली रोमन साम्राज्य नहीं जो कि १२५० ई० में फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् एक छाया मात्र रह गया था। सब से पहिले हम दान्ते को लेंगे जिसका जन्म १२६५ ई० में फ्लोरेंस में हुआ और १३२१ ई० में एवरीना में एक देश-निर्वासित के रूप में जिसकी मृत्यु हो गई। वह एक प्रतिभाशाली साहित्यकार, एक महान् कवि (मध्य काल का शायद महानतम कवि) था। पोपशाही के विरुद्ध संघर्ष में वह इसलिये कूद पड़ा क्योंकि वह यह महसूस करता था कि उसके नगर के गृह-कलह और उस युग में बार बार होने वाले युद्ध लौकिक विषयों में पोप के हस्तक्षेप के परिणाम थे। जब पोप रोम से एविग्नोन चला गया और पोप पद फ्रांस की नीति का एक यन्त्र बन गया तो पोपशाही के विरुद्ध उसकी कटुता और भी अधिक बढ़ गई। अपने समय की स्थिति के अवलोकन से वह इस परिणाम पर पहुँचा कि इटली तथा संसार का वास्तविक संकट तब तक दूर नहीं हो सकता और विभिन्न गुटों में प्रतिद्वन्द्विता के कारण फैली हुई अराजकता तब तक समाप्त नहीं हो सकती जब तक कि एक सर्वशक्तिमान् सम्राट् की अधीनता में एक सर्वव्यापक साम्राज्य की स्थापना नहीं की जायेगी और पोपशाही को उसमें किसी भी प्रकार के लौकिक अधिकार से वंचित न कर दिया जायेगा। महाकवि वर्जिल ने ऐसे साम्राज्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। उसकी महान् कृति 'डी मॉनार्किया' (De Monarchia) में बड़े ज़ोरदार शब्दों में दो बातों की वकालत की गई है: (१) एक धर्मनिरपेक्ष विश्व साम्राज्य की पुनर्स्थापना जो कि चिर शान्ति की एक पहिली शर्त है, तथा (२) पोप को समस्त लौकिक शक्ति से वंचित कर देना। डनिंग के कथनानुसार इस ग्रन्थ में "राज्यवादी दर्शन की सबसे अधिक पूर्ण प्रणाली पाई जाती है।"

यद्यपि साम्राज्य तथा पोपशाही के मध्य संघर्ष में दान्ते जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी तथा सन्त टॉमस एक्वीनास के विरुद्ध खड़ा हुआ, तथापि आधारभूत बातों में वह उनसे सहमत है। प्रथम, वह एक ऐसे सार्वलौकिक समाज में विश्वास करता था जिसके अन्तर्गत समस्त मानव प्राणी आते हैं और जिसके ऊपर ईश्वर द्वारा नियुक्त दो शक्तियों का शासन है, आध्यात्मिक विषयों के ऊपर पोप का और लौकिक विषयों के ऊपर सम्राट् का। उस समय के प्रसंग का सार्वभौमिक साम्राज्य के विचार से कोई सम्बन्ध नहीं था; उसका स्थान तो बहुत से स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया था जिनका उदय यूरोप के विभिन्न भागों में बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। इस प्रकार दान्ते भूत की ओर देखता था; वह यह महसूस कर सका कि उसके समय की वस्तुस्थिति उसके विश्व साम्राज्य के आदर्श की प्राप्ति के अनुकूल नहीं थी। यह उक्ति कि मध्य युग के ऊपर साम्राज्य का प्रेत लटका हुआ था दान्ते के विचार पर पूर्ण रूप से लागू होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे यह कि दान्ते उनकी इस बात से सहमत था कि मनुष्य स्वभावतः द्वैतमूलक है ; वह शरीर और आत्मा है। इसीलिये एक ही सार्वभौमिक समाज में दोहरे शासन की मध्यकालीन परम्परा को वह स्वीकार करता था। वह यह भी मानता था कि दोनों शक्तियों के अधिकार-क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं और एक को दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस प्रकार वह प्राचीन गेलेशियन सिद्धान्त को पुनर्जीवित करना चाहता था जिसे कि पोप इन्नोसेन्ट चतुर्थ, पोप बोनीफेस अष्टम तथा एजिडियस कोलोना सरीखे व्यक्तियों ने अपनी व्याख्याओं द्वारा निरर्थक कर दिया था। जहाँ तक कि उसके विचार की सामान्य पृष्ठभूमि का सम्बन्ध है दान्ते जॉन ऑफ़ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ तथा विलियम ऑफ़ ओकम सरीखे राज्य के समर्थकों से बहुत अधिक भिन्न है; वह १४वीं शताब्दी की अपेक्षा १३वीं शताब्दी का अधिक है। टॉमस एक्वीनास की भांति दान्ते पर भी अरस्तु के दर्शन का भारी प्रभाव पड़ा था। वह कुछ स्वयंसिद्ध अथवा सर्वस्वीकृत सिद्धान्तों को लेकर चलता है, जैसे कि अरस्तु की यह उक्ति कि प्रकृति किसी वस्तु को भी व्यर्थ उत्पन्न नहीं करती, और उनमें से परिणाम निकालता है। इस प्रकार वह यह सिद्ध करने की चेष्टा करता था कि शान्ति समस्त विश्व के लिए वांछनीय है और एक चक्रवर्ती सम्राट् के अधीन एक विश्वव्यापी साम्राज्य के अन्तर्गत ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

उसके महान ग्रन्थ 'डी मॉनार्किया' का मूल विषय है विश्वव्यापी साम्राज्य जिसमें समस्त छोटे छोटे राज्य अर्द्धस्वतन्त्र सदस्यों के रूप में संगठित हों। यह साम्राज्य का एक आदर्श रूप था जिसकी छत्रछाया में समस्त यूरोप को संगठित करना था। उसने इसकी आवश्यकता को यह दिखा कर सिद्ध किया कि शान्ति स्थापित करने का केवल एक यही मार्ग था और शांति के अभाव में कोई व्यक्ति और कोई समाज जीवन के अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् एक विवेकशील जीवन की प्राप्ति नहीं कर सकता। उसकी युक्ति का सारांश यह है : समस्त मनुष्यों का एक ही लक्ष्य है और वह है मानव बुद्धि की सम्भावनाओं की अनुभूति तथा प्राप्ति। इस उद्देश्य की प्राप्ति सामाजिक सहयोग द्वारा ही हो सकती है; कोई भी व्यक्ति या छोटा सा व्यक्तिसमूह इसे स्वयं केवल अपने ही प्रयत्नों द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। "मानव बुद्धि की समस्त सम्भावनाओं की पूर्ण अनुभूति के लिए समस्त मानव जाति को एक निरंतर और सामंजस्यपूर्ण सहयोग के साथ प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। यदि थोड़े लोग भी इस सहयोगपूर्ण साधना से अलग रहेंगे तो भी आदर्श की प्राप्ति रुद्ध हो जायेगी।"* दूसरे शब्दों में दान्ते के अनुसार विश्वशांति कायम रखने तथा सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समस्त

* "The whole of mankind must move forward in a harmonious effort of sustained co-operation towards the complete realization of the whole potentiality of the human intellect. Defection of however few of the members prevented the fulfilment of the ideal."

—Doyle : *A History of Political Thought*, page 92.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवता को एक शक्ति की छत्रछाया में एक ही राजनीतिक संघटन में संगठित होना चाहिये। केवल एक चक्रवर्ती सम्राट् ही उन विभेदक और विध्वंसक शक्तियों का दमन कर सकता है जिनसे कि उस समय का यूरोप पीड़ित था और जो कतिपय स्वतंत्र राज्यों में सिर उठाये बिना नहीं रह सकतीं, यदि उनके ऊपर एक सर्वोच्च शक्ति न हो। संसार की विभिन्न जातियों को एकता के सूत्र में बाँधने वाले तथा शांति कायम रखने वाले सार्वभौमिक कानून के मूल्य को दान्ते ने अच्छी तरह परख लिया था और इसी लिये वह चाहता था कि एक चक्रवर्ती सम्राट् की छत्रछाया में एक सार्वभौमिक साम्राज्य स्थापित होना चाहिये जोकि उस कानून को लागू कर सके। उसके मस्तिष्क पर सदैव अखिल रोमन साम्राज्य (Pax Romana) छाया रहता था और वह चाह भरी दृष्टि से उस भूत की ओर देखता था जबकि रोमन साम्राज्य ने भूमध्य सागर के चारों ओर के संसार में शताब्दियों तक शांति बनाये रक्खी थी। इसके अतिरिक्त एक सार्वभौमिक साम्राज्य के कई अन्य लाभ और छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों के बहुत से दोष उसने गिनाये हैं। उनके शासक स्वार्थ, लोभ तथा प्रजा के प्रति उदासीनता के अधिक शिकार हो सकते हैं जब कि एक चक्रवर्ती सम्राट् से उदार, ईमानदार, प्रजावत्सल होने की अधिक आशा की जा सकती है। ऐसे शासक की कोई व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षायें और कामनायें नहीं हो सकतीं, इसलिये वह अपनी समस्त शक्तियाँ जन-हित के लिए अर्पित कर सकता है। उसके शासन में अधिकतम न्याय और व्यक्ति की धर्मपालन करने की वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी। "शांति का साम्राज्य होगा; और सभ्यता का विकास होते होते मानव बुद्धि की पूर्ण सम्भावनायें प्रस्फुटित हो जायेंगी।"

मानव जाति की शान्ति तथा कल्याण के लिये सार्वभौमिक साम्राज्य की अपरिहार्य आवश्यकता का अनुभव करने के उपरान्त दान्ते का मस्तिष्क अपने समय के सब से प्रधान इस प्रश्न की ओर गया कि चक्रवर्ती सम्राट् तथा पोप में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। इस प्रश्न का भी उसके पास उतना ही दृढ़ और सरल उत्तर था और वह यह कि पोप को धर्म-निरपेक्ष विषयों में हस्तक्षेप करने का और सम्राट् को उसके कामों में निर्देशन देने का कोई अधिकार नहीं है। उसने पोप की आध्यात्मिक शक्ति से तो इन्कार नहीं किया परन्तु धर्म-निरपेक्ष राजनीति में उसका कोई स्थान वह स्वीकार नहीं करता। इस धारणा का आधार मनुष्य का दोहरा लक्ष्य है जो इस बात की माँग करता है कि उसके जीवन के दोनों क्षेत्र, लौकिक तथा धार्मिक, पूर्णरूपेण अलग अलग रहने चाहियें। ईश्वर ने मनुष्य के सामने दो लक्ष्य रक्खे हैं: एक है अपनी बुद्धि का पूर्ण विकास तथा सांसारिक सुख का उपभोग करना और दूसरा है नित्य जीवन का आनन्द प्राप्त करना जोकि ईश्वर दर्शन से ही हो सकता है। ये दोनों लक्ष्य विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं; दर्शन शिक्षा और चक्रवर्ती साम्राज्य द्वारा स्थापित शांति, सुरक्षा तथा न्याय से पहिले लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती है: और चर्च की आध्यात्मिक शिक्षा, ईश्वर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदत्त ज्ञान तथा पोप का नेतृत्व दूसरे लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। ये दोनों लक्ष्य पूर्ण-रूपेण भिन्न हैं और चर्च तथा साम्राज्य के कार्य एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं; इसलिये आध्यात्मिक शक्ति का लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करना एकदम अनावश्यक और अनुचित है। इस परिणाम पर पहुँचने में दान्ते को अपने इस विश्वास से और भी सहायता मिली कि नैतिकता धर्म से स्वतन्त्र रहकर भी टिक सकती है और वह धर्मशास्त्र का प्रतिफल नहीं है। इसके विपरीत धर्मशास्त्रियों का विश्वास यह था कि नैतिकता को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिये नैतिक प्रश्नों में चर्च को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इस प्रकार दान्ते ने पोपवादियों की जड़ पर ही आघात किया। "सांसारिक शांति सभ्यता की प्रगति के लिये अनिवार्य होते हुए भी अस्थायी है। आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध स्थायी विषयों से है; अस्थायी स्थिति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका उचित स्थान दैविक स्वर्ग है। इस वसुन्धरा पर उसके लिये कोई स्थान नहीं है। इस पर एकमात्र अधिकार चक्रवर्ती सम्राट् का है; उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होना चाहिये जिसका कि ध्वंसात्मक प्रभाव हो। स्कॉलिस्टीसिज़्म की इस आधारभूत मान्यता से इन्कार करके कि जीवन का केवल एक ही लक्ष्य है, दान्ते ने धर्मशास्त्र में एक गहरी दराड़ खोल दी।"*

उपरोक्त तर्क से केवल यह बात सिद्ध होती है कि राजशक्ति तथा धर्मशक्ति के अपने अलग अलग क्षेत्र हैं और एक को दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इससे पोपवादियों के तर्क का वह मुख्य बिन्दु नष्ट नहीं होता कि सम्राट् अपनी शक्ति और अधिकार चर्च से प्राप्त करता है और इसलिये वह उसके अधीन है। सम्राट् की पूर्ण स्वाधीनता प्रतिष्ठित करने के लिये इस युक्ति का खण्डन करना और यह सिद्ध करना आवश्यक था कि सम्राट् अपनी शक्ति ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करता है, चर्च से या उसके द्वारा नहीं। इस स्थिति का आधार सन्त पॉल के इस कथन में मिला कि समस्त शक्तियाँ ईश्वर-प्रदत्त हैं। इसका अर्थ यह निकाला गया कि राजशक्ति तथा धर्मशक्ति दोनों का सम्मिश्रण केवल एक ईश्वर में है, किसी दूसरे में नहीं। इसलिये किसी व्यक्ति को प्रदान करने के लिये चर्च के पास कोई लौकिक शक्ति है ही नहीं। दान्ते ने एक अन्य युक्ति भी पेश की। उसने कहा कि विश्व साम्राज्य स्थापित करने के

* "Earthly peace was a transitory condition though essential to the progress of civilization. The spiritual power dealt with eternal matters. It had nothing to do with a transitory condition. Let it be relegated to the Celestial Paradise. The Earthly Paradise was no place for it. Only the universal monarch must preside there with no rival claimant to supremacy exercising a subversive influence. Dante had made an effective breach in the theology of the schoolmen by denying their basic assumption that man had but one end in life."

—Doyle: *Ibid*, page 96.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितने भी प्रयत्न किये गये उन सब में केवल रोमनों का प्रयास सफल हुआ। इससे सिद्ध होता है कि देव इच्छा भी रोमनों के साथ थी; इसलिये उनके साम्राज्य को उचित रूप से देवनिर्मित कहा जा सकता है। मध्यकालीन साम्राज्य रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी था। इसलिये 'पवित्र रोमन सम्राटों' (Holy Roman Emperors) ने अपना राज्याधिकार चर्च द्वारा प्राप्त नहीं किया बल्कि वह उन्हें ईश्वर से रोमन सम्राटों द्वारा प्राप्त हुआ। 'कॉन्स्टेण्टाइन के दान' के ऊपर आधारित युक्ति का उसने यह उत्तर दिया कि सम्राट् को साम्राज्य का अधिकार हस्तान्तरित करने का कोई अधिकार नहीं है। उस समय पश्चिम में पोप सिलवेस्टर (Pope Sylvester) को साम्राज्य का अधिकार हस्तान्तरित करने वाले अभिलेख्य को सच्चा समझा जाता था। उसके जाली होने का भंडाफोड़ तब नहीं हो सका। इसी प्रकार उसने शार्लीमैग्ने को राज्याधिकार के हस्तान्तरण के ऊपर आधारित युक्ति का यह उत्तर दिया कि जो शक्ति पोप के पास थी ही नहीं उसे वह दूसरे व्यक्ति को प्रदान नहीं कर सकता था।

इस प्रकार दान्ते ने साम्राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया और राज्य के ऊपर चर्च के नियन्त्रण करने के दावे का खण्डन किया। उसने पहिले तो यह सिद्ध किया कि संसार की शांति और कल्याण के लिये एक चक्रवर्ती साम्राज्य आवश्यक है और फिर यह दिखाया कि सम्राट् अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है, चर्च से नहीं। इसलिये चर्च का धर्मनिरपेक्ष राज्य में कोई स्थान और उसके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता; उसका क्षेत्र स्वर्गीय जीवन है। दान्ते ने चर्च को केवल दैविक स्वर्ग तक परिमित कर दिया।

जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris)— धर्मनिरपेक्षवाद के समर्थक मध्यकालीन विचारकों की हमारी सूचि में अगला नाम जॉन ऑफ पेरिस (१२६९—१३०६) का है जिसका कार्य न केवल अपने युग के लिये बल्कि भविष्य के लिये भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अपने समकालीन दान्ते की अपेक्षा वह अपने युग का अधिक सच्चा प्रतिनिधि था और आगे आने वाले विचार पर उसका अधिक प्रभाव पड़ा। दान्ते ने जो सार्वभौमिक साम्राज्य का आदर्शीकरण किया उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध न था और न ही भविष्य के ऊपर उसका कोई प्रभाव पड़ा। यद्यपि इटली का वह एक महान् देशभक्त था और पोपशाही के प्रति उसकी घृणा में उसके स्वदेश-प्रेम का काफी बड़ा हाथ था, तथापि दान्ते के राजनीतिक विचार में राष्ट्रवाद का कोई विशेष स्थान नहीं था। इसके विपरीत जॉन का साम्राज्य को मानव आवश्यकताओं के प्रतिकूल बता कर उसका खण्डन करना और कानूनी तथा ऐतिहासिक दोनों आधारों पर फ्रांस के राजतन्त्र का घोर समर्थन करना युग की विचारधारा के एकदम अनुकूल था और उसने भविष्य के विचार के लिये मार्ग प्रशस्त किया। जॉन के राजनीतिक विचार की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहिले यह बताना वांछनीय प्रतीत होता है कि उसने किस कारण चक्रवर्ती साम्राज्य का खण्डन किया और छोटे राज्यों को तरजीह दी।

जॉन कहता है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है विश्वास जो हर कहीं एक सा है; समस्त ईसाई जगत में ईसाइयों के अध्यात्मिक हित एक से हैं। इसलिये एक सार्वभौमिक चर्च तथा चर्च द्वारा नियन्त्रण में एकता वांछनीय और आवश्यक हैं। परन्तु मानव जाति के लौकिक हितों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती; ये हित देश देश के भिन्न भिन्न होते हैं। फ्रांस वालों की राजनीतिक आवश्यकतायें जर्मनी अथवा इटली वालों की आवश्यकताओं से भिन्न हैं, इसलिये समस्त ईसाइयों के लिये एक सार्वभौमिक चर्च की भांति एक सार्वभौमिक साम्राज्य नहीं हो सकता; राजनीतिक क्षेत्र में स्वाभाविक इकाई राज्य है, साम्राज्य नहीं। राजनीतिक हितों की विविधताओं के अनुसार विभिन्न स्वतन्त्र राज्य हो सकते हैं; सब के ऊपर एक ही राजनीतिक नियन्त्रण लादना न आवश्यक है और न वांछनीय। इस परिणाम पर पहुँचने में जॉन पर अरस्तु के दर्शन का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था। उसने अरस्तु के स्वपर्याप्त समाज के आदर्श तथा इस धारणा को अपनाया कि राज्य अथवा समाज मानव हितों और स्वाभाविक इच्छाओं की विविधताओं में से उत्पन्न होता है। जॉन के अनुसार स्वपर्याप्त इकाई राज्य है।

राज्य को चर्च के किसी भी प्रकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिये जॉन अरस्तुवाद का प्रयोग करता है। याद रहे कि राज्य के ऊपर चर्च के नियन्त्रण के पक्ष में एक मुख्य तर्क यह था कि राज्य का मूल मानव पाप होने के कारण उसे चर्च द्वारा पवित्र किया जाना आवश्यक है। जॉन इस तर्क का खण्डन अरस्तु की इस धारणा को अपना कर करता है कि राज्य एक विधेयात्मक शुभ है, एक आवश्यक बुराई नहीं; और वह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का फल है, उसके पतन का परिणाम नहीं। राज्य शुभ जीवन के लिये आवश्यक है और वह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा ही सामाजिक तथा व्यक्तिगत गुणों का विकास सम्भव है। इसलिये वह स्वयं अपना औचित्य है; उसे किसी के द्वारा पवित्र होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार जॉन राज्य की स्वाभाविकता को उसकी चर्च से स्वाधीनता का समर्थन करने के लिये प्रयोग करता है।

कुछ पोपवादी लेखकों ने अरस्तु के इस सिद्धान्त का लाभ उठाने की चेष्टा की थी कि उच्चतर हीनतर को नियन्त्रित करता है और हीनतर उच्चतर के अधीन होता है। जॉन इस तर्क का भी खण्डन करता है। एक पादरी होने के नाते जॉन इस बात को तो एकदम स्वीकार कर लेता है कि चर्च की आध्यात्मिक शक्ति राजा की लौकिक शक्ति से कहीं अधिक गौरवशाली है; किन्तु वह कहता है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि चर्च शक्ति राजशक्ति से प्रत्येक बात में ही श्रेष्ठ है अथवा राजशक्ति चर्च की देन है। यह आवश्यक नहीं है कि जिसका गौरव अधिक हो उसकी शक्ति भी अधिक हो; एक शिक्षक या उपदेशक का गौरव निश्चित रूप से ही एक पुलिस के सिपाही से अधिक है किन्तु उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिक शक्ति उससे कम है। लेकिन जॉन की धारणा यह है कि लौकिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा कम गौरवपूर्ण होते हुए भी लौकिक विषयों में उससे श्रेष्ठ है। इन में से कोई भी एक दूसरे की देन नहीं है; दोनों ही अपने ही सामान्य प्रभु ईश्वर से प्राप्त हुई हैं। इसलिये अरस्तु के इस सिद्धान्त का कि उच्चतर हीनतर को नियंत्रित करता है पोपवादियों ने गलत प्रयोग किया है; इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आध्यात्मिक शक्ति का लौकिक शक्ति के ऊपर नियन्त्रण होना चाहिये।

यह है जॉन द्वारा आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों के पारस्परिक सामान्य सम्बन्धों की विवेचना। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि पोपवादी तथा फ्रांस के राजा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उसका क्या कहना है। उसकी धारणा थी कि पोपशाही तथा पवित्र रोमन साम्राज्य में कुछ भी सम्बन्ध क्यों न रहा हो, किन्तु उसके आधार पर फ्रांस के राजा को पोप के अधीन नहीं किया जा सकता। उसने 'कांस्टेण्टाइन के दान' (उस समय तक इस अभिलेख की सच्चाई असंदिग्ध थी; यह फ़र्ज़ी था यह बात आगे चल कर सिद्ध की गई) के कानूनी औचित्य पर इस आधार के ऊपर आक्रमण किया कि सम्राट को अपने साम्राज्य का कोई भाग किसी को दे देने का कोई अधिकार नहीं है। यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि उसे इस प्रकार का अधिकार था तो भी वह 'दान' फ्रांस के ऊपर लागू नहीं होता क्योंकि फ्रांस के लोग कभी भी साम्राज्य के अधीन नहीं थे। यदि तर्क के लिये यह भी मान लिया जाये कि किसी समय फ्रांस साम्राज्य के अधीन था तो आगे चलकर उसने अपनी स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त करली। सारांश यह कि फ्रांसीसी जॉन के लिये साम्राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। पोप अपने पिट्ठू सम्राट के द्वारा फ्रांस के स्वतन्त्र राजा के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रख सकता था। इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिये कि उस समय साम्राज्य जीवित था, भले ही वह केवल नाममात्र के लिये हो, और उदीयमान राज्यों के स्वतन्त्रता के दावे से इन्कार करने के लिये साम्राज्य तथा पोपशाही में सन्धि हो गई थी। इस प्रकार जॉन की साम्राज्य विवेचना तथा दान्ते द्वारा साम्राज्य के आदर्शीकरण में एक बहुत बड़ा वैषम्य था।

सम्पत्ति तथा चर्च में पोप की स्थिति के विषय में जॉन की धारणायें उसके राजनीतिक विचार का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग हैं, किन्तु उनकी विवेचना करने से पहले यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि जॉन ने अरस्तु की व्याख्या किस प्रकार की। अरस्तु के दर्शन की जो व्याख्या टॉमस ने की वही उसकी एकमात्र व्याख्या नहीं है, शायद उसकी उससे अधिक स्वाभाविक और उत्तम व्याख्या भी सम्भव है। उसका प्रारम्भ जॉन ऑफ़ पेरिस में मिलता है और उसकी चरम सीमा मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ में पाई जाती है जोकि टॉमस से कुछ कम अरस्तुवादी नहीं था। अरस्तु के स्वपर्याप्त समाज के सिद्धान्त का व्यवहार जॉन ऑफ़ पेरिस तथा मार्सीलियो ने टॉमस और दान्ते की अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक स्वाभाविक रूप से किया है; इस सिद्धान्त का एक सार्वभौमिक समाज की कल्पना से ताल खाना बड़ा कठिन है जोकि सेलिस्बरी, टॉमस और दान्ते के चिन्तन की पृष्ठभूमि थी। अरस्तु के बुद्धिवाद की ताल मध्य काल के उस दर्शन से भी नहीं खा सकती जिसके लिये शरीर तथा आत्मा का विभेद इहलौकिक जीवन के परे आत्मा के लक्ष्य का विचार, और मानव जाति के आध्यात्मिक हितों को विनियमित तथा नियंत्रित करने वाले एक सार्वभौमिक चर्च की धारणा धर्म के आधारभूत सूत्र थे। इन दो ऐसे तत्त्वों को, जिनमें संगति स्थापित करना सरल नहीं है, सन्त टॉमस एक्वीनास की प्रतिभा ने एक व्यापक प्रणाली की एकता में समन्वित कर दिया। टॉमस द्वारा किया हुआ यह सामंजस्य अधिक दिन न टिक सका; उसकी मृत्यु के बाद वह भंग होने लगा। इस दिशा में पहिला क़दम जॉन ऑफ़ पेरिस ने उठाया जबकि उसने यह दिखाया कि अरस्तु का प्रकृतिवाद तथा बुद्धिवाद लौकिक तथा आध्यात्मिकता को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् करता है।

हमें याद होगा कि फ्रांस के राजा फिलिप दी फ़ेयर तथा पोप बोनीफ़ेस अष्टम के मध्य विवाद, जिसमें कि जॉन ने एक धर्मशास्त्री और पादरी होने के बावजूद भी राजा का समर्थन किया था, चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न पर खड़ा हुआ था। एजिडियस कोलोना ने, जोकि पोपशाही का शायद सब से बड़ा समर्थक था, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि प्रथम तथा उच्चतर स्वामित्व का अधिकारी होने के नाते चर्च को और इसलिये पोप को, समस्त सम्पत्ति और समस्त लौकिक शक्ति पर नियंत्रण रखने का अधिकार है। इसलिये जॉन ने सम्पत्ति तथा उसके ऊपर चर्च के नियंत्रण के प्रश्न का एक आलोचनात्मक विश्लेषण किया। एजिडियस द्वारा प्रतिपादित 'स्वामित्व' (Dominhim) के सिद्धान्त को वह एकदम ठुकराता है और यह घोषणा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपनी सम्पत्ति के उपर स्वामित्व तथा प्रयोग का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार उस परिश्रम का फल है जोकि सम्पत्ति के प्राप्त करने में उठाना पड़ता है। पोप तो दरकिनार, स्वयं राजा को भी किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति के ऊपर स्वामित्व का, या प्रबन्ध करने तक का भी अधिकार नहीं है। हाँ, वह निजी सम्पत्ति के केवल प्रयोग को जनहित के लिये विनियमित कर सकता है और उसके ऊपर कर लगा सकता है। पोप चर्च की सम्पत्ति का स्वामी नहीं है; वह उसका केवल संरक्षक अथवा प्रबन्धक है; उसका उसके ऊपर केवल जनहित के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार है। साधारण जनता की सम्पत्ति के ऊपर उसका इतना भी अधिकार नहीं है, स्वामित्व अथवा नियंत्रण के अधिकार की तो बात ही क्या है।

इस विवेचना में महत्वपूर्ण बात वह विभेद है जोकि जॉन एक ओर सम्पत्ति के स्वामित्व तथा उसके प्रबन्ध करने के अधिकार और दूसरी ओर जनहित के लिये उसे प्रयोग करने के अधिकार में करता है। जन साधारण की सम्पत्ति के ऊपर राजा को पहिला अधिकार प्राप्त है, किन्तु दूसरा नहीं। जन साधारण की सम्पत्ति के ऊपर पोप को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है। हाँ, सामान्य धर्म की रक्षा की गम्भीर आवश्यकता इसका अपवाद है; उदाहरण के लिये विधर्मियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए वह अपने लिये फसल के दशांश की मांग कर सकता है। चर्च की सम्पत्ति के ऊपर भी उसे स्वामित्व का कोई अधिकार नहीं है, हाँ उसका प्रबन्ध करने का अधिकार है।

आगे चलकर जॉन उन विभिन्न कारणों की विवेचना करता है जोकि पोपवादियों ने लौकिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति की अधीनता में रखने के लिए दिये हैं; वह उनका एक एक करके खण्डन करता है। वह आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करता है जोकि उसके पूर्ववर्ती राज्यवादियों में से किसी ने भी नहीं किया था और यह सिद्ध करता है कि उसे लौकिक शक्ति अथवा सम्पत्ति के ऊपर नियन्त्रण रखने का कोई अधिकार नहीं है। उसका कार्यक्षेत्र शिक्षा तथा उपदेश देने और धार्मिक संस्कार सम्पन्न करने तक परिमित है; नैतिक भ्रष्टाचार और पाप के प्रश्न भी उसके अन्तर्गत आते हैं। एक घोर पापी को धर्म-वहिष्कृत किया जा सकता है। परन्तु धर्म-वहिष्करण के ऐसे गम्भीर परिणाम नहीं निकल सकते जैसे कि पोप ग्रेगरी सप्तम ने बताये थे। एक धर्म-विमुख शासक का धर्म-वहिष्करण पोप द्वारा एक विरोध प्रदर्शन है और निस्सन्देह यह एक ज़ोरदार विरोध है; किन्तु है यह केवल विरोध ही, इसका अर्थ पदच्युति नहीं हो सकता। पदच्युत करने का अधिकार उस शक्ति को है जिसने राजा को चुना है; इसमें बल प्रयोग की शक्ति निहित है जोकि पादरीगण में नहीं है। जिस प्रकार कि पोप एक शासक के कुकृत्यों का विरोध कर सकता है, उसी प्रकार एक राजा भी पोप की कर्त्तव्यहीनता का विरोध कर सकता है; किन्तु उसे पदच्युत नहीं कर सकता। पोप को अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं; जैसे कि पादरियों का नियमन करना तथा चर्च की सम्पत्ति का प्रवन्ध करना। किन्तु लौकिक शक्ति के ऊपर नियन्त्रण उनमें सन्निहित नहीं है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करके जॉन उसे अत्यन्त सीमित कर देता है। सैवाइन के शब्दों में 'एक पादरी के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का यह सुनिश्चित विश्लेषण और वास्तव में उसके ऊपर सीमा लगना वहुत ही चकित करने वाली है।'

जॉन ने चर्च में पोप को जो स्थान दिया है उसके विषय में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।' उसकी धारणा थी कि जहाँ तक कि आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध है, समस्त विशपगण समान हैं; उनमें से कोई भी दूसरों के ऊपर अधिकार नहीं रखता। पोप चर्च संघटन का प्रशासकीय प्रधान है, किन्तु वह सर्वोच्च पादरी नहीं है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा उसने पोप की प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन किया। प्रभुता चर्च की सामान्य परिषद् में है जोकि एक पोप को पदच्युत कर सकती है, यदि उसके आचरण को किसी भी प्रकार न सुधारा जा सके। अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वाले पोप की अवज्ञा करना भी जॉन उचित समझता था जिस प्रकार कि पुराने लेखक एक अत्याचारी शासक की अवज्ञा करना उचित समझते थे। इससे यह सिद्ध है कि पोप की प्रभुता सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादरियों को मान्य न थी। राज्य के आन्तरिक संघटन के विषय में जॉन कुछ अधिक नहीं कहता।

राजनीतिक विचार के इतिहास में जॉन ऑफ़ पेरिस का सच्चा महत्त्व प्रोफेसर सैवाइन के निम्नलिखित शब्दों में सर्वश्रेष्ठ ढंग से वर्णित है: "एक क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धांत को प्रस्तुत किये बिना ही जॉन ऑफ़ पेरिस का कार्य अपने समय के लिये तथा भविष्य के लिये नितान्त महत्त्वपूर्ण था। एक फ्रांसीसी और एक पादरी के रूप में उसने फ्रांस के राजतन्त्र की स्वतन्त्रता का कानूनी तथा ऐतिहासिक आधारों पर ज़ोरदार समर्थन किया। उसने सम्पत्ति के स्वामित्व, चाहे वह चर्च द्वारा हो चाहे साधारण व्यक्तियों द्वारा, तथा राजा द्वारा उसके राजनीतिक नियन्त्रण अथवा पोप द्वारा चर्च के लिये उसके प्रबन्ध में एक स्पष्ट विभेद किया। उसने आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों की स्वतन्त्रता के तर्क को फिर से व्यक्त किया और आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप तथा उद्देश्यों के एक गहरे विश्लेषण से उसे अधिक पूर्ण बनाया। अन्ततोगत्वा उसके विश्लेषण से ऐसा निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक शक्ति वास्तव में कोई कानूनी शक्ति है ही नहीं। उसे या तो बल प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है, और यदि है तो उसको उसे राज्य से प्राप्त करना चाहिये। आध्यात्मिक शक्ति के नैतिक तथा धार्मिक चरित्र पर बहुत ज़ोर दिया गया है। तत्त्वतः उसकी युक्ति धर्म से ऊपर कानून द्वारा आक्रमण और पोप को सम्राट जैसी कानून शक्ति से विभूषित करने के विरुद्ध एक विरोध है। और अन्त में वह यह सुझाव पेश करता है कि पोप के निरंकुशवाद की भाँति राजतन्त्र को भी प्रतिनिधित्व द्वारा नम्र बनाना वांछनीय है। प्रत्येक दशा में इन युक्तियों ने भावी राजनीतिक वाद-विवाद में एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। एजिडियस के साथ तुलना करने पर जॉन की स्थिति अरस्तु द्वारा डाले हुये प्रभाव का धर्मनिरपेक्षीकरण तथा विवेकीकरण करने का एक ज्वलन्त उदाहरण है, यद्यपि उसने यह कार्य उस विचार की सीमाओं के भीतर ही किया जो निस्सन्देह रूढ़िवादी था।"

मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua)— जॉन ऑफ़ पेरिस से जोकि बोनीफेस अष्टम के साथ उसके संघर्ष में फ्रांस के फिलिप का सबसे अधिक प्रसिद्ध समर्थक था, अब हम मार्सीलियो पर आते हैं जिसने लुई ऑफ बवेरिया का उसके पोप जॉन २२वें तथा उसके उत्तराधिकारी के साथ संघर्ष में साथ दिया था। उसका जन्म १२७८ ई० के लगभग हुआ और मृत्यु १३४३ ई० के लगभग हुई। वह एक विलक्षण व्यक्ति था। एक समय में वह एक चिकित्सक, दूसरे समय में एक पादरी (उसे मिलान का आर्कबिशप नियुक्त किया गया था परन्तु उसने वह पद नहीं संभाला), फिर एक वकील, एक सिपाही तथा एक राजनीतिज्ञ रहा। मध्य काल के विचारों तथा सिद्धान्तों से जितना वह अपने आपको मुक्त कर सका उतना कोई भी उसका सुप्रसिद्ध समकालीन नहीं कर सका। उसका ग्रन्थ 'डिफेन्सर पेसिस' (Defensor Pacis) सन् १३०० से सन् १५०० तक के प्रकाशित हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो युग-निर्मायक ग्रन्थों में से एक है। प्रोफेसर मरे (Murray) ने उसे '१४वीं शताब्दी का सब से अधिक मौलिक विचारक' बताया है। सैबाइन के अनुसार उसका राजनीतिक सिद्धान्त 'मध्यकालीन विचार की एक सब से अधिक महत्त्वपूर्ण सृष्टि' है। अरस्तु की एक पूर्ण रूप से प्रकृतिवादी व्याख्या के परिणामों को इसने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।

यद्यपि जर्मनी के सम्राट ने पोप के विरुद्ध अपना पक्ष समर्थन करने के लिये उसे रक्खा हुआ था और उसने अपनी पुस्तक को समर्पित भी सम्राट को ही किया है तथापि 'उस पुस्तक के सिद्धान्त का कोई विशेष सम्बन्ध न तो जर्मनी से ही है और न साम्राज्य से'। उसका उददेश्य साम्राज्य की रक्षा करना नहीं था बल्कि उस सिद्धान्त का खंडन करना था जिसके अनुसार पोप को सम्पूर्ण ईसाई जगत में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक बात के ऊपर प्रभुता प्राप्त थी और जिसके अनुसार पोप चर्च के अन्दर निरंकुश अधिकारी था। यह सत्य है कि पोप बोनीफेस अष्टम के इस प्रकार के दावे को हैनरी ने सफलतापूर्वक चुनौती दी थी और पोप को करारी हार खानी पड़ी थी, परन्तु हैनरी ने शक्ति का आश्रय लिया था, तर्क का नहीं। मार्सीलियो ने राज्य के एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण किया जो सैद्धान्तिक रूप से राज्य को प्रभुता प्रदान करता है और समस्त सांसारिक विषयों में चर्च को राज्य का केवल एक विभाग बना देता है। इसी लिये 'डिफेन्सर पेसिस' को राजनीतिक विचार के इतिहास में एक युग-निर्मायक ग्रन्थ समझा जाता है।

यह जानना दिलचस्पी से खाली नहीं होगा कि मार्सीलियो साम्राज्यभक्त बने बिना ही पोप-विरोधी कैसे बना। कहा जाता है कि वह एविग्नोन गया और पोप दरबार के सांसारिक विलास और वैभव को देखकर उसको घृणा हो गई। अपने पूर्ववर्ती दान्ते और परवर्ती मैकियावेली की भांति वह इटली की उस दुखद स्थिति से बहुत दुखी था जो कि विभिन्न नगर राज्यों के पारस्परिक कलह से उत्पन्न हो गई थी और जिसका कारण वह पोप का हस्तक्षेप समझता था। परन्तु पोपशाही के विरुद्ध उसके हृदय में विद्रोह की अग्नि भड़कने का सब से बड़ा कारण शायद यह था कि पोप जॉन २२वें ने शक्तिशाली 'फ्रांसिसकन संप्रदाय' (Franciscan Order) के पादरियों द्वारा अस्तेय धर्म का पालन करने के सिद्धान्त की निन्दा की। इस सिद्धान्त के अनुसार पादरियों को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिये जो कि उनके अपने धार्मिक कृत्यों के सम्पन्न करने के लिये नितान्त आवश्यक हो। पोप जॉन २२वाँ उसे विधर्म समझता था, क्योंकि उसने देखा कि उसके अन्तर्गत पादरी लोग बावजूद अपनी अस्तेय की प्रतिज्ञा के धनाढ्य हो गये। इसका परिणाम था चर्च में मिथ्याचार का बढ़ना। पोप की इस घोषणा के कारण उसका फ्रांसिसवादियों तथा उनसे सहानुभूति रखने वालों से, जिनमें मार्सीलियो और विलियम ऑफ ओकम भी सम्मिलित थे, एक कटु विवाद छिड़ गया। वह तथा उसका मित्र और साथी जॉन ऑफ जानडुन तथा विलियम पोप पर आक्रमण कर रहे थे; इसलिये फ्रांस और इटली उनके लिये सुरक्षित स्थान नहीं थे। अतः उन्होंने जर्मनी में आकर शरण ली जहाँ कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुई ने उनका स्वागत किया और वहीं से उन्होंने पोपशाही के विरुद्ध अपनी लड़ाई जारी रक्खी।

'डिफेन्सर पेसिस' के, जो कि १३२४ ई० में प्रकाशित हुआ था, दो मुख्य भाग हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पहिला भाग जॉन ऑफ जानडुन ने लिखा था और मार्सीलियो ने उसका पुनरावलोकन किया था; इस भाग में राज्य का सिद्धान्त पाया जाता है जिसका आधार अरस्तु का राजनीतिक दर्शन है। यहाँ हमें राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक शक्ति का स्वरूप, उसका लक्ष्य तथा उद्देश्य, कानून तथा कानून-निर्माता के कार्यों इत्यादि की विवेचना मिलती है। दूसरे भाग में, जो कि स्वयं मार्सीलियो का लिखा हुआ माना जाता है, पहिले भाग में प्रतिपादित सिद्धांतों को चर्च के संघटन, पादरियों के कार्यों तथा राज्याधिकारियों से उनके सम्बन्धों पर लागू करने का प्रयास किया गया है। एक तीसरा भाग भी है जिसे पहिले दो भागों का निष्कर्ष कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के रचयिताओं का उद्देश्य पोप के निरंकुशता के सिद्धान्त का खण्डन करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि 'पोपशाही की दैविक नियुक्ति, जिसके ऊपर उसकी दावों की समस्त शक्ति आधारित थी, एक कल्पना मात्र है और चर्च राज्य के ऊपर एक अनावश्यक भार है।' संक्षिप्तता के लिये निम्नांकित विवरण में 'डिफेंसर पेसिस' का लेखक हम केवल मार्सीलियो को ही कहेंगे।

अरस्तु का अनुकरण करते हुए मार्सीलियो की यह धारणा है कि राज्य का जन्म मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। राज्य स्वतः विकसित चीज़ है और इसका आधार सेवाओं का परस्पर आदान प्रदान है। राज्य एक जैविक इकाई है और सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इसमें विभिन्न समूहों और वर्गों में परस्पर सहयोग होता है। वह एक पूर्ण और स्वपर्याप्त समाज है जिसका उद्देश्य शुभ जीवन की प्राप्ति है। विभिन्न समूह तथा वर्ग जिनमें कि समाज संघटित होता है, जैसे कि कृषक, शिल्पकार, सिपाही, अधिकारी, व्यापारी, पूँजीवादी तथा पादरी, अपने अपने विशिष्ट कार्यों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति में योग देते हैं। जब तक कि प्रत्येक अंग अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है तब तक राज्य में पूर्ण शान्ति बनी रहती है। राज्य के विभिन्न अंगों में पूर्ण सहयोग की स्थापना करके शान्ति बनाये रखना सरकार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। मार्सीलियो विभिन्न वर्गों के कार्यों का भी विवरण देता है। जब वह पादरियों पर आता है तो वह एक बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। अन्य सभी वर्गों के कार्यों की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है किन्तु पादरियों के कार्यों की उपयोगिता उसे इतनी स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ती। तथापि, आखिर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में पादरी वर्ग रहा है, इसलिये उसकी कुछ न कुछ तो उपयोगिता होनी ही चाहिये। मार्सीलियो को यह उपयोगिता इस बात में दीखी कि पादरी लोग नरक का भय दिखाकर भ्रष्ट व अनुशासनहीन व्यक्तियों को पापमय जीवन से रोकें। "व्यवस्थापकों ने एक ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कल्पना की है जिससे कि कोई बात छिपी नहीं है और जो कानून का पालन करने का आदेश देता है और उसे भंग करने वालों को दण्ड देता है।" इसलिये पादरी का सच्चा कार्य नरक का भय दिखाकर पुलिस तथा न्यायाधीश के कार्य का पूरक है। इस भय से कि कहीं इस विचार से धार्मिक प्रकृति के लोग विक्षुब्ध न हो उठें मार्सीलियो ने यह भी कह दिया कि पादरी लोग परलोक सुधारने में भी हमारी सहायता करते हैं। उसका कहना था कि जिस शुभ जीवन की सिद्धि राज्य का उद्देश्य है उसका अर्थ केवल पृथ्वी पर ही शुभ जीवन नहीं है वल्कि उसमें परलोक का शुभ जीवन भी सम्मिलित है। लौकिक शुभ जीवन का स्वरूप हम दर्शन के अध्ययन तथा अपनी बुद्धि द्वारा जानते हैं और पारलौकिक शुभ जीवन के ज्ञान के लिये हमें ईश्वर प्रेरणा तथा पादरियों पर निर्भर करना पड़ता है। इसलिये पादरियों का सच्चा कार्य भावी जीवन में मोक्ष प्राप्त करने में हमारी सहायता करना है। स्वयं मार्सीलियो के शब्दों में पादरियों का कार्य 'उन बातों को जानना तथा उन का उपदेश करना है, जिनमें धर्मशास्त्रों के अनुसार, नित्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए और यातना से वचने के लिए, विश्वास करना, जिन्हें करना या जिनसे बचना आवश्यक है।' इसका अभिप्राय है कि पादरी वर्ग का जीवन इहलौकिक सुख की प्राप्ति में कोई भाग नहीं है; उसका कार्य केवल भावी जीवन तक ही परिमित है। पादरियों को लौकिक विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, उनका समुचित कार्य केवल हमें मोक्ष का मार्ग दिखाना और संस्कार सम्पन्न करना है। एक वर्ग के रूप में वे अन्य सामाजिक वर्गों की अपेक्षा किसी विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते; शेष की भांति उन्हें भी राज्य के अधीन रहना चाहिये। समस्त सांसारिक विषयों में पादरियों के ऊपर राज्य का नियन्त्रण ऐसा ही है जैसा कि कृषि अथवा व्यापार के ऊपर। मार्सीलियो के अनुसार, आधुनिक शब्दों में, "धर्म एक सामाजिक व्यवस्था है; यह भौतिक साधन प्रयोग करती है और सामाजिक परिणाम उत्पन्न करती है।"* यह 'दो तलवारों' के परम्परागत सिद्धान्त पर एक करारा प्रहार है। यह धर्म के अतिक्रमणात्मक स्वरूप तथा चर्च के एक स्वतन्त्र और प्रभुत्वपूर्ण आर्थिक शक्ति होने के दावे का निषेध है। इतना ही नहीं, इसका परिणाम तो यह निकलता है कि चर्च राज्य का एक विभाग मात्र ही है। मार्सीलियो से पहले किसी मध्यकालीन लेखक ने इतने स्पष्ट शब्दों में चर्च के ऊपर राज्य के प्रभुत्व का समर्थन और पादरियों के लौकिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में वल-प्रयोग करने के अधिकार से इन्कार नहीं किया था। उसने चर्च को राज्य के अधीन इसलिये किया क्योंकि उसका विचार था कि दो समान शक्तियों का साथ साथ रहना और उनमें से प्रत्येक

---

* "In all temporal concerns the control of the clergy by the state is in principle exactly like the control of agriculture or trade. Stated in modern terminology, according to Marsiglio, religion is a social phenomenon; it uses material agencies and produces social consequences." —Sabine: *op. ct.*, page 294.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का एक दूसरे से श्रेष्ठ तथा उच्चतर होने का दावा करना इटली तथा यूरोप में कलह तथा संघर्ष का एक ज़बर्दस्त कारण था। एक्वीनास की भांति श्रद्धा और विवेक में सामंजस्य स्थापित करने की जगह मार्सीलियो ने उन दोनों को बिल्कुल अलग अलग कर दिया। उसका विश्वास था कि लौकिक समस्याओं के निर्णय में श्रद्धा (धर्म) को नहीं खींचना चाहिये। उनका निर्णय अपने गुणों तथा बुद्धि के आधार पर होना चाहिए, ईश्वर प्रेरणा का उसमें कोई स्थान नहीं है। इसलिए यदि 'डिफेन्सर पेसिस' पर चर्च ने प्रतिबन्ध लगा दिया, उसके रचयिताओं को धर्म-बहिष्कृत कर दिया और पोप क्लीमेण्ट षष्ठ ने मार्सीलियो को 'निकृष्टतम विधर्मी' कह कर पुकारा, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

राज्य के स्वरूप और संघटन के उपरान्त मार्सीलियो सरकार के निर्माण की विवेचना करता है। उसकी विवेचना का सर्वाधिक आधारभूत अंश उसकी कानून तथा उसके निर्माण विषयक धारणा है। उसके कानून सम्बन्धी विचार एक्वीनास के विचारों से एकदम विपरीत हैं। जैसा कि हम जानते हैं टॉमस ने कानून को चार भागों में विभाजित किया है— शाश्वत, नैसर्गिक, मानवीय और दैविक। यद्यपि उसने इन सबको ब्रह्माण्ड की वास्तविकता (Cosmic realities) का, विभिन्न स्तरों पर एक ही सत्य का चार रूपों में प्रकटीकरण माना है और इस प्रकार से उसने इनके बीच निकटता का सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके लिये मानवीय कानून नैसर्गिक कानून से ही निकला है। इन सभी बातों में मार्सीलियो सन्त एक्वीनास से भिन्न है। दैविक कानून ईश्वर का आदेश है; उसे मनुष्य ने नहीं बनाया; वह यह निर्धारित करता है कि परलोक में सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को क्या कार्य करने चाहियें और किन कार्यों से बचना चाहिये। इसके विपरीत मानवीय कानून समस्त नागरिक समूह अथवा उसके प्रधान भाग का आदेश है जिसे प्रत्यक्ष रूप से वे लोग बनाते हैं जिन्हें कि कानून बनाने की शक्ति मिली हुई है। मानवीय कानून यह निर्धारित करता है कि इसी लोक में लक्ष्य पर पहुँचने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। दोनों प्रकार के कानूनों की उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उन दोनों के स्रोत और क्षेत्र अलग अलग हैं। एक को ईश्वर बनाता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होता है, उसे तोड़ने का दण्ड ईश्वर देता है। दूसरे का स्रोत मानव इच्छा है और वह इसी संसार के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है; इसे तोड़ने का दण्ड राज्य द्वारा दिया जाता है। इसलिये दोनों में कोई सामान्य आधार नहीं है; दोनों एक दूसरे से बिल्कुल अलग और स्वतन्त्र हैं। हाँ, दोनों में केवल इतनी साम्यता है कि दोनों को तोड़ने का परिणाम दण्ड भोगना होता है। मानवीय कानून का स्रोत दैविक कानून नहीं है। दूसरी बात यह कि जब कि एक्वीनास कानून को मूल रूप से तर्क और बुद्धि का आदेश समझता था, मार्सीलियो के लिए वह मानव अथवा दैविक इच्छा की अभिव्यंजना है। वह उसके बौद्धिक तत्त्व से इन्कार नहीं करता किन्तु इस बात के ऊपर पूरा ज़ोर देता है कि कानूनी दृष्टिकोण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसे एक सुनिश्चित शक्ति द्वारा बनाया या लागू किया जाता है। एक्वीनास एक शक्ति द्वारा लागू किया जाना केवल मानवीय कानून की ही विशेषता समझता था, शाश्वत तथा नैसर्गिक कानून की नहीं। मार्सीलियो कानून के इस वाह्य रूप अर्थात् क्रियान्वीकरण को उसके तत्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। तीसरी बात यह कि मार्सीलियो कानून के विवशकारी (Coercive) स्वरूप पर ज़ोर देता है; उसे दण्ड के भय से लागू किया जाता है। जो भी नियम इस प्रकार लागू नहीं किया जा सकता मार्सीलियो उसे कानून की संज्ञा देने के लिए तैयार नहीं। क्योंकि वह समाज की समस्त विवशकारी शक्ति पर केवल सरकार या राज्य का एकाधिपत्य मानता है, इसलिये उसके विचार से समस्त धर्म कानून का केवल वही अंश कानून हो सकता है जिसे कि राज्य स्वीकार करे। अंतिम बात यह कि मानवीय कानून समाज-हित के लिये बनाये जाते हैं। मार्सीलियो की कानून विषयक धारणा का सर्वोत्तम निष्कर्ष प्रोफेसर एलन के निम्नांकित शब्दों में दिया जा सकता है: "कानून तत्त्वतः इस बात का निर्णय है कि समाज के लिये न्यायपूर्ण और लाभदायक क्या है। यह सामान्य आवश्यकता की एक आदेशात्मक अभिव्यंजना है जिसकी रचना बुद्धि द्वारा होती है, मान्यता-प्राप्त शक्ति द्वारा जिसे क्रियान्वित किया जाता है और जिसके पीछे शक्ति की स्वीकृति है।"*

क्योंकि मानवीय कानून निर्मित होता है, इसलिये इसका निर्माण करने वाली तथा इसको लागू करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिये। मार्सीलियो उस शक्ति को 'समस्त जनता अथवा सम्पूर्ण नागरिक समूह अथवा उसके प्रधान भाग' में देखता है। उसे वह व्यवस्थापक (Legislator) कह कर पुकारता है। यह सिद्धान्त कि समस्त नागरिक समूह कानून का निर्माता है मार्सीलियो के राजनीतिक दर्शन का मूल है, इसलिये इसका अध्ययन हमें वहुत ध्यानपूर्वक करना चाहिये। हमें यह बात अच्छी तरह से समझनी चाहिये कि जनता अथवा समस्त नागरिक समूह के प्रधान भाग को किस अर्थ में व्यवस्थापक माना जा सकता है। एक अर्थ इसका यह हो सकता है कि समस्त वयस्क पुरुष समवेत होकर कानून बनायें जैसा कि एथेन्स तथा प्राचीन यूनान के दूसरे नगर-राज्यों में होता था। मार्सीलियो इस प्रकार से कानून बनाने और लागू करने की सम्भावना को स्वीकार करता है। परन्तु इसके साथ साथ वह इस सम्भावना का भी संकेत करता है कि समस्त नागरिक समूह अपनी व्यवस्थापन शक्ति को एक राजा अथवा एक आयोग को सौंप दे जोकि इसी कार्य के लिये नियुक्त किया जाये। इस प्रकार राजा अथवा आयोग द्वारा बनाये हुए कानून भी जनता द्वारा बनाये हुए ही समझे जायेंगे क्योंकि राजा अथवा आयोग जनता के नाम में तथा उसकी ओर से कार्य करेगा। मार्सीलियो कहता है कि उस

* "Law is essentially a judgment as to what is just and advantageous to the community. It is an imperative expression of the common need, formulated by reason, promulgated by recognised authority, sanctioned by force." Hearnshaw : *op. ct.*, page 181.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाय के पीछे जिसे कि कानून बनाने की शक्तियां मिली हुई हैं, चाहे वह एक आयोग हो, चाहे एक राजा या अन्य कोई अंग, 'सदा समस्त जनता की शक्ति है जिसकी सामूहिक इच्छा में ही कानून का तत्त्व तथा जिसके सामूहिक जीवन में राज्य का तत्त्व निहित है।'

जब समस्त जनता एक साधारण सभा के रूप में समवेत होती है तो यह आवश्यक नहीं कि कानून सर्वसम्मति से ही बनाना चाहिये; सर्वसम्मति नितान्त दुष्कर है। कानून जनता के 'प्रधान भाग' (prevailing part) द्वारा बनाया जा सकता है। इस अर्थात् 'प्रधान भाग' का सही सही अर्थ क्या है, इसके ऊपर काफी विवाद चला है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ बहुमत लगाया है, किन्तु मार्सीलियो का ऐसा विचार दिखाई नहीं पड़ता। 'प्रधान भाग' से उसका अभिप्राय उस भाग से है जिसकी बात में संख्या तथा गुणों के दृष्टिकोण से सब से अधिक प्रभाव होता है। मध्य काल में यह सिद्धान्त प्रचलित नहीं था कि धारा सभा में प्रत्येक एक गिना जाता है और कोई भी एक से अधिक नहीं गिना जाता; प्रमुख व्यक्तियों का महत्त्व जन साधारण से अधिक होता था। मार्सीलियो के शब्दों में हमें जनतन्त्री समानता के विचार खोजने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। परन्तु एक बात निश्चित है कि जनता की कानून बनाने की शक्ति निरपेक्ष और असीम है, चाहे उसका प्रयोग वह किसी के द्वारा क्यों न करती हो।

व्यवस्थापक का एक मुख्य कार्य अपनी इच्छा का पालन करने के लिए कार्यपालिका को चुनना था। कार्यपालिका अपने कर्तव्य का पालन करने में व्यवस्थापक के नियन्त्रण में रहती है। इसका प्रमुख कार्य व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों को क्रियान्वित करना और यह देखना है कि राज्य का प्रत्येक अंग अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करे। इसी बात को निश्चित बनाने के लिये दूसरे समस्त कार्यपालिका अधिकारियों तथा न्यायपालिका निकायों को उसके अधीन रक्खा गया। इसे उच्चतम शक्ति बना दिया गया और राज्य के अन्य किसी समूह तथा भाग से अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये उसका सशस्त्र सेना के ऊपर अधिकार रक्खा गया।

कार्यपालिका को न केवल उच्चतम होना चाहिये बल्कि एक सूत्रबद्ध भी होना चाहिये। कार्यपालिका की एकता आंतरिक कलह और अव्यवस्था के विरुद्ध और शांति का सबसे बड़ा संरक्षण है। कार्यपालिका की एकता पर बल देने के कारण मार्सीलियो का प्रजातंत्र के ऊपर राजतंत्र को तरजीह देना स्वाभाविक ही था यद्यपि जनतंत्र में भी कार्यपालिका की एकता स्थापित की जा सकती है। वास्तव में उसने सरकार के रूप के बारे में कुछ अधिक नहीं कहा। केवल एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है और वह यह कि वह वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतन्त्र को कहीं अच्छा समझता था। कार्यपालिका की जिस एकता के ऊपर वह इतना अधिक ज़ोर देता है उसका एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भी निकलता है। इसका अर्थ यह है कि चर्च का कोई स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारक्षेत्र नहीं हो सकता और कुछ विशेष मामलों में अपने निजी न्यायालयों द्वारा अपने निजी कानून लागू करने का अधिकार नहीं हो सकता। चर्च के एक अलग अधिकार क्षेत्र को मानना जिसमें कि वह एक स्वतन्त्र अधिकार का प्रयोग करता है कार्य-पालिका की एकता को नष्ट करना है।

कुछ समालोचक मार्सीलियो द्वारा किए गए व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के विभेद में शक्ति विभाजन का सिद्धांत देखते हैं। कार्यपालिका की व्यवस्थापिका के प्रति अधीनता में उनको उत्तरदायी शासन दिखाई पड़ता है तथा उसके इस कथन में कि कानून साधारण सभा के प्रधान भाग द्वारा बनाये जा सकते हैं वे बहुमत शासन के सिद्धांत की झलक पाते हैं। किन्तु जैसा कि मैकल्वेन तथा अन्य लेखकों का कहना है, मार्सीलियो में जनतंत्र, बहुमत शासन तथा शक्ति विभाजन के सिद्धांत जैसा कुछ नहीं है। वास्तव में उसका व्यवस्थापक आधुनिक व्यवस्थापिका तथा कार्यपालक आधुनिक राज्य के आधुनिक कार्यपालिका के अनुरूप नहीं हैं। उसका व्यवस्थापक कानून की शक्ति का स्रोत है, स्वयं कानूनों का नहीं जिनको राजा या व्यवस्थापक के द्वारा नियुक्त कोई अन्य बनाता है। व्यवस्थापक का कार्यपालक के ऊपर ऐसा नियन्त्रण नहीं है जैसा कि आजकल संसद का मंत्रिमण्डल के ऊपर होता है; इसका अर्थ तो केवल इतना है कि राजा जनता का सेवक है और अपनी शक्ति के लिये उस पर निर्भर करता है। उसकी जनता के ऊपर निर्भरता इस बात का संरक्षण थी कि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा। यह हम पहिले ही बता चुके हैं कि उसके सिद्धांत का अर्थ बहुमत का शासन नहीं है क्योंकि केवल संख्या ही जनता के किसी भाग को प्रधान नहीं बनाती, उसके लिये गुण आवश्यक है। मार्सीलियो में इस प्रकार का कोई सूत्र नहीं पाया जाता कि किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक नहीं माना जायेगा। परन्तु जो चीज़ हमें उसमें मिलती है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह राजा को जनता का सेवक बनाता है और जनता को उसके दुर्व्यवहार के लिये राजा को दण्ड देने का अधिकार देता है और इस प्रकार वह एक सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) का विचार हमारे सामने रखता है। 'डिफेन्सर पेसिस' के प्रथम भाग में उसके लेखकों ने पूर्ण तथा स्वपर्याप्त समाज की जो रूपरेखा दी है उसकी मुख्य विशेषताओं का सारांश सैबाइन ने इतने सुन्दर शब्दों में दिया है कि उसके पूर्ण अवतरण को उद्धरित किये बिना हम नहीं रह सकते। वह लिखता है: 'विभिन्न वर्गों का यह एक जैविक सम्पूर्ण है; इसमें प्रत्येक वे भौतिक तथा नैतिक बातें सम्मिलित हैं जो कि उसके नागरिकों के लिये एक निरन्तर शुभ लौकिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। उसकी व्यवस्थापन की शक्ति सम्पूर्ण के कल्याण के लिये अपने अंगों को नियमित करने का उसका अपरिहार्य अधिकार है। उसकी कार्यपालिक शक्ति राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करने वाला सम्पूर्ण का एक अभि-करण है और क्योंकि राज्य एक इकाई है, इसलिये उसमें अधिकार क्षेत्र के अन्तर तथा शक्ति विभाजन के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। लौकिक दृष्टिकोण से समाज निरपेक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से स्वपर्याप्त है और निरपेक्ष रूप से सर्वशक्तिमान् है। यह स्वयं अपने जीवन तथा अपनी सभ्यता का अभिभावक है। ······ यदि उसके नागरिकों का कोई आध्यात्मिक हित है तो वह परलोक में है और राज्य के जीवन से परे है और वास्तव में इस जीवन को स्पर्श करने की शक्ति उसमें नहीं है।"*

'डिफेन्सर पेसिस' के प्रथम भाग में राज्य के स्वरूप तथा उसके शासन संगठन के विषय में निकले हुए परिणामों को द्वितीय भाग में चर्च के संगठन, पादरियों के कार्यों, राज्याधिकारियों से उनके सम्बन्ध इत्यादि समस्याओं पर लागू किया गया है। मार्सीलियो का कहना है कि जिस प्रकार राज्य को केवल अधिकारी समूह के अनुरूप समझ लेना भूल होगी, बल्कि उसमें समस्त नागरिक जन सम्मिलित हैं, इसी प्रकार चर्च को भी केवल पादरियों तक ही सीमित रखना गलत होगा, उसमें समस्त ईसाई, पादरी तथा जन-साधारण सम्मिलित हैं, और राज्य की भांति चर्च में भी अन्तिम शक्ति सम्पूर्ण में निहित है, उसके किसी अंश में नहीं। क्योंकि समस्त ईसाइयों के लिये एक स्थान पर समवेत होना और व्यवस्थापक के रूप में कार्य करना असम्भव है, इसलिए चर्च में अन्तिम शक्ति की अभिव्यंजना करने वाला अंग साधारण परिषद् है। इसका चुनाव इस प्रकार होना चाहिये ताकि इसमें प्रत्येक प्रान्त तथा समाज को समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके, और इसमें पादरियों तथा जन-साधारण, दोनों के प्रतिनिधि होने चाहियें। केवल साधारण परिषद् को ही धर्मग्रन्थों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने, धर्म-बहिष्करण का आदेश देने, चर्च संघटन में रिक्त स्थानों की पूर्ति करने तथा ईसाई उपासना के कर्मकाण्ड को नियमित करने का अधिकार है। सारांश यह कि मार्सीलियो चर्च शासन के विषय में साधारण परिषद् को वही दर्जा तथा शक्तियां देता है जोकि समाज के नागरिक विषयों में समस्त नागरिक समूह को प्राप्त हैं। मार्सीलियो चर्च को एक ईसाई राज्य कहकर पुकारता है जिसमें राजतन्त्रीय शासन है और पोप जिसका राजा है। परन्तु वह चर्च

* "It is an organic whole composed of classes, including everything within itself both physical and ethical, that is needed for its continued existence and the good life, in a secular sense, of its citizens. Its power of legislation is the inevitable right of such a corporation to regulate its own parts for the well being of the whole. Its executive power is the agent of the corporation to put into effect whatever the unity of the state requires; and because of this unity there is no room for differences of jurisdiction or dispersion of power. From a secular point of view the community is absolutely self-sufficient and absolutely omnipotent. It is the guardian of its own life and its own civilization......... If its citizens have a 'spiritual' well being, this belongs in another world and another life, beyond the life of the state, indeed, but also powerless to touch that life." Sabine : *op. ct.*, page 298.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को न तो कोई स्वतन्त्र अधिकारक्षेत्र देता है और न कोई विवशकारी शक्ति। राज्य की कार्यपालिका का एकीकृत स्वरूप, जिस पर वह इतना ज़ोर देता है, चर्च के लिये लौकिक विषयों में किसी स्वतन्त्र भाग के लिये कोई स्थान ही नहीं छोड़ता। पादरियों का एकमात्र कार्य उपदेश देना और संस्कार सम्पन्न करना है; उनके हाथ में आत्मा का उपचार है, इससे अधिक कुछ नहीं। प्रभु ने पादरियों को जो Power of the keys प्रदान की थी उसका अर्थ पोपवादियों ने लौकिक शक्ति (temporal authority) और उसको प्रयोग में लाना, लगाया है। मार्सीलियो ने इस शक्ति को निर्णायक की शक्ति न मान कर द्वारपाल की शक्तिमात्र बतलाया है। वह पादरी की तुलना एक वैद्य से करता है जो यह तो घोषित कर सकता है कि अमुक व्यक्ति कोढ़ी है किन्तु उसका समाज से बहिष्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक पादरी धर्म-बहिष्कार का निर्णय तो दे सकता है, किन्तु उसे मनवा नहीं सकता। मार्सीलियो के सिद्धान्त का सार ही यह है कि वह पादरीगण को किसी भी प्रकार की विवशकारी शक्ति नहीं देता। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं उनका कार्य केवल ईश्वर वाक्य का प्रचार करना और संस्कार सम्पन्न कराना है; वे केवल आत्मा के संरक्षक हैं, इससे अधिक कुछ नहीं।

पोप की प्रभुता से तो वह एकदम इन्कार करता है। पोप चर्च का सर्वप्रभुत्वपूर्ण प्रधान नहीं है बल्कि केवल उसका मुख्य प्रशासकीय अधिकारी है। पोपशाही की संस्था ईश्वरकृत नहीं, ऐतिहासिक शक्तियों की उपज है। पीटर में अन्य धर्मावतारों (Apsotles) की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं थी और आदि चर्च में साधारण पादरी तथा विशप में कोई भेद नहीं था। जहाँ तक कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध है, समस्त पादरीगण, विशपगण तथा पोप समान हैं; उनमें से कोई भी दूसरों से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता। पादरियों के शिखरोन्मुखी संघटन तथा रोम के विशप की प्राथमिकता का जन्म प्रसरणशील चर्च की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ; उनके पीछे कोई दैविक स्वीकृति नहीं है। पोप के चर्च के प्रभुत्वपूर्ण प्रधान होने तथा शासकों के ऊपर प्रभुता के प्रयोग करने के दावे को मार्सीलियो इटली में ही नहीं बल्कि यूरोप भर में संघर्ष तथा असंतोष का कारण समझता था।

मार्सीलियो सन्त फ्रांसिस के अस्तेय के आदर्श को समस्त पादरीगणों के लिए एक सच्चा आदर्श समझता है। भरण-पोषण के लिये जितना आवश्यक है उससे अधिक पादरियों को नहीं रखना चाहिये। इस प्रश्न का कि चर्च की सम्पत्ति का स्वामी कौन है मार्सीलियो एक ऐसा उत्तर देता है जो कठिनाइयों से खाली नहीं है। वह कहता है कि उसके स्वामी वे लोग हैं जिन्होंने कि उसे चर्च को अर्पित किया है। इस उत्तर की जटिलताओं में घुसना हमारे लिए यहाँ आवश्यक नहीं। हमारा मुख्य उद्देश्य तो यह दिखाना है कि मार्सीलियो किस प्रकार इस परम्परागत सिद्धान्त को ठुकराता है कि आध्यात्मिक विषय चर्च के अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत हैं और उसका अधिकार राज्य के अधिकार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चतर है, और किस ढंग से वह पादरियों की किसी भी प्रकार की विवशकारी शक्ति का निषेध करता है तथा उसे एक जैविक सामाजिक ढाँचे का एक अंग मात्र समझता है। जब तक कि राज्य की स्वतन्त्रता के समर्थक चर्च के आध्यात्मिक अधिकार के औचित्य को मानते थे तब तक वे नैतिक आधार या लौकिक विषयों में पोप के हस्तक्षेप को नहीं रोक सकते थे। पोप की प्रभुता के दावे को ठुकराने का एकमात्र मार्ग यही था कि चर्च को कोई भी विशेष अधिकार क्षेत्र न दिया जाये तथा उसको विवशकारी शक्ति से वंचित कर दिया जाये। मध्यकालीन विचारकों में सब से पहले ऐसा करने का श्रेय मार्सीलियो को है। कहा जा सकता है कि जनता को समस्त राजनीतिक शक्ति का स्रोत और समस्त व्यवस्थापन का प्रथम तथा समुचित कारण बनाकर उसने जन राजसत्ता की धारणा का प्रतिपादन किया। उसकी यह घोषणा करना कि चर्च के अन्दर व्याख्या तथा अन्य विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार साधारण परिषद् को है और पोप उसके अधीन है, 'कन्सीलियर' आन्दोलन की पूर्व सूचना देना था जोकि १५वीं शताब्दी में विकसित हुई। परन्तु मार्सीलियो ने साधारण परिषद् के विचार को पूर्ण रूप से विकसित नहीं किया। इसका पूर्ण विवरण देना एक अन्य महान् फ्रांसिसवादी विलियम ऑफ ओकम का कार्य था। उसी पर अब हम आते हैं।

विलियम ऑफ ओकम (William of Occam)— अन्त में हम विलियम ऑफ ओकम की विवेचना करेंगे जिसने कि मध्यकाल पोपशाही के विरुद्ध राज्य की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। विलियम मार्सीलियो का समकालीन था; उसका जन्म १२६० और १३०० के बीच में हुआ और उसकी मृत्यु १३४६ के निकट हुई। वह एक अंग्रेज़ था और इसलिये पोप जॉन २२वें के विरुद्ध संघर्ष में उसके जर्मन सम्राट् लुई का पक्ष ग्रहण करने का कोई स्वाभाविक कारण दिखाई नहीं देता। वह 'फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) का सदस्य था और मार्सीलियो की भांति पोप ने उसको भी धर्म-बहिष्कृत कर दिया था क्योंकि वह अस्तेय सिद्धान्त का हामी था और उनके ऐसे कार्यों की निन्दा करता था जिन्हें वह ग़ैरकानूनी और अत्याचारपूर्ण समझता था। मार्सीलियो के सदृश वह लुई के दरबार में गया और लगभग आठ वर्षों तक वहाँ रहा।

वह अरस्तु के विचार दर्शन से प्रभावित हुआ और जीवन-पर्यन्त एक स्कॉलिस्टिक (Scholastic) धर्मशास्त्रवेत्ता बना रहा। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति उसके महान् अनुराग ने उसे रूढ़िवादी और पोपशाही के प्रति मार्सीलियो की अपेक्षा अधिक उदार बना दिया। उसने तर्क और विश्वास में इतना तीव्र विभेद नहीं किया जितना कि मार्सीलियो ने किया था; वह बहुत सी चीज़ों में केवल श्रद्धा के कारण विश्वास करता था जिनकी कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं दी जा सकती थी; यद्यपि साधारणतया वह इस बात को मानता था कि किसी भी ऐसी बात में विश्वास नहीं किया जाना चाहिये जिसका कोई बौद्धिक आधार न हो या धर्मशास्त्र की तर्कसंगत व्याख्या के अनुसार न हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलियम का प्रमुख उद्देश्य एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन की रचना करना नहीं था; वह द्वन्द्ववादी* (Dialectician) था, दार्शनिक नहीं। उसकी कृति में हमें राज्य सम्बन्धी कोई सिद्धान्त नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उसके इस विश्वास ने भी कि अपने व्यक्तिगत विश्वास की घोषणा से सत्य अथवा ज्ञान का कोई हित न होगा उसे विभिन्न प्रश्नों पर सुनिश्चित रूप से अपने विचार अभिव्यक्त करने से रोका। उसकी कृतियाँ बौद्धिक वाद-विवाद के रूप में हैं जिनमें कि पोप तथा साम्राज्य के मध्य संघर्ष में दोनों पक्षों के गुण-दोषों की पूर्ण रूप से विवेचना की गई है, परन्तु किसी औपचारिक निर्णय पर नहीं पहुँचा गया। तथापि उसने कुछ ऐसे विचारों की उद्भावना की जिनका राजनीतिक विचार के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। वे उस भीषण वाद-विवाद का केन्द्र हैं जो कि लगभग १०० वर्षों तक धार्मिक जगत में चलता रहा और विशुद्ध राजनीतिक प्रश्नों पर उनका प्रभाव बढ़ता ही रहा।

विलियम ऑफ ओकम के विचार का आधार यह है कि समस्त शक्ति उस उद्देश्य द्वारा सीमित है जिसके लिये कि वह दी जाती है और उसका प्रयोग केवल सामान्य हित के लिए तथा बुद्धि और स्वाभाविक न्याय के अनुसार होना चाहिये। पोप तथा सम्राट् द्वारा किये गये दावों की समीक्षा करने तथा उन दोनों के मध्य समुचित सम्बन्ध निर्धारित करने में वह इसी सिद्धान्त का पालन करता है। साधारणतया वह धर्मशक्ति तथा राजशक्ति के परम्परागत विभेद को स्वीकार करता था और यह मानता था कि आध्यात्मिक तथा लौकिक क्षेत्रों का विभाजन सम्भव है। लौकिक विषयों में पोप जॉन २२वें के हस्तक्षेप को वह अन्यायपूर्ण समझता था और उससे बहुत खिन्न तथा विक्षुब्ध था। उसने ज़ोरदार शब्दों में यह घोषणा की कि पोप का अधिकार केवल आध्यात्मिक विषयों के ऊपर है; सांसारिक मामलों पर उसका कोई अधिकार नहीं है। उसके अनुसार पोप को केवल वे ही शक्तियाँ प्राप्त हैं जो कि नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं के लिये आवश्यक हैं। यह शक्ति प्रबन्धात्मक थीं क्योंकि यह मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिए आवश्यक थीं; यह शासनात्मक नहीं थीं क्योंकि मनुष्य अथवा किसी चीज़ के ऊपर नियन्त्रण करने की यह कोई विवशकारी शक्ति प्रदान नहीं करती थी। यह आध्यात्मिक ध्येय प्राप्ति की आवश्यकताओं का अतिक्रमण नहीं कर सकती थी। विलियम का तर्क यह था कि ईसा का प्रतिनिधि होने के नाते पोप की शक्तियाँ स्वयं ईसा की शक्तियों से अधिक नहीं हो सकती थीं और भगवान् ईसा का अवतरण मनुष्य के अधिकारों और सम्पत्ति की पूर्ति के लिये हुआ था उनसे वंचित करने के लिए नहीं। यदि पोप अपने उचित अधिकारों की सीमाओं का उल्लंघन करता है और लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करता है तो उसकी

* यहाँ पर द्वन्द्ववादी शब्द को उस अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया जिसमें कि हीगल तथा कार्ल मार्क्स ने किया है। विलियम को द्वन्द्ववादी कहने का अभिप्राय यह है कि सुकरात तथा अफलातून की भांति वह प्रश्नोत्तर द्वारा अपने विषय का निरूपण करता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवज्ञा की जा सकती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पोप धर्मग्रन्थों की अवहेलना नहीं कर सकता। धर्मग्रन्थों की व्याख्या करने का अधिकार पोप को अथवा पादरियों को नहीं बल्कि सबसे अधिक प्रज्ञाशील व्यक्ति को है जो सदाचार और चर्च सेवा के लिये सुविख्यात हों, चाहे वह धनाढ्य हों चाहे दरिद्र, चाहे अधीन हों चाहे स्वामी। इस प्रकार से मनुष्य के शाश्वत मोक्ष तथा धर्मानुयाइयों के संगठन के लिये चर्च के अन्दर पोप के राजतन्त्री अधिकार को स्वीकार करते हुए भी ओकम ने उसकी शक्ति के ऊपर बहुत बड़ी रोक और सीमायें लगादीं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही क्षेत्रों में पोप की प्रभुता के दावे को ठुकरा दिया और सम्राट् की लौकिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

ओकम इस बात को तो मानता है कि राज्यशक्ति पोप के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहनी चाहिए और वह जनता के स्वशासन के अधिकार पर आधारित है; किन्तु इसके साथ ही साथ वह सम्राट् की शक्तियों को भी सीमित करना चाहता है। सम्राट् का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने शासन को न्यायशील तथा प्रजा के लिये उपयोगी बनाये, और परमात्मा की इच्छा, स्वाभाविक विवेक तथा न्याय के आदेश तथा राष्ट्रों के सामान्य कानूनों के अनुसार कार्य करे। सम्राट् की शक्ति यद्यपि पोप से स्वतन्त्र है, किन्तु उसका प्रयोग कानून के अन्दर होनी चाहिये। सम्राट की शक्ति के मनमाने प्रयोग का भी वह उतना ही विरोधी था जितना कि पोप की मनमानी का; किसी भी क्षेत्र में शक्ति का अपने उददेश्य द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन उसे असह्य था। इसीलिये वह पोपशक्ति तथा राज्यशक्ति दोनों को निर्यंत्रित और सीमित रखना चाहता था।

पोप की अनियन्त्रित तथा अनुत्तरदायी निरंकुशता का विरोधी होने के कारण विलियम ने चर्च की साधारण परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया; इसे वह पोप की शक्ति के ऊपर सबसे अधिक उपयुक्त रोक समझता था। मार्सीलियो तथा जॉन ऑफ पेरिस की अपेक्षा विलियम ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अधिक विस्तारपूर्वक और व्यापक रूप से किया। उसने कहा कि साधारण परिषद् का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिये। एक पेरिश (Parish) में रहने वाले समस्त ईसाइयों को डायोसीज़ (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिये अपने प्रतिनिधि चुनने चाहियें। इन निर्वाचक मण्डलों को साधारण परिषद् के लिये सदस्य चुनने चाहियें। इनमें पादरियों तथा जन साधारण दोनों के ही प्रतिनिधि होने चाहियें; इसका दरवाज़ा स्त्रियों के लिये भी खुला होना चाहिये। यद्यपि पोप ने कभी भी इस प्रकार की परिषद् को नहीं बुलाया; किन्तु यदि इसे कभी बुलाया जाता तो यह समस्त ईसाइयों की सब से अधिक प्रतिनिधि संस्था होती। धर्मग्रन्थों की व्याख्या करने, धर्म-बहिष्करण का आदेश देने, विवादित प्रश्नों का निर्णय करने तथा एक अत्याचारी अथवा धर्म-विमुख पोप को पदच्युत की शक्ति साधारण परिषद् की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलियम ऑफ ओकम के साथ चर्च तथा राज्य का ऐतिहासिक विवाद समाप्त हो गया। इसकी जगह एक नवीन समस्या उत्पन्न हुई। वह समस्या यह थी कि चर्च के अन्दर सांविधानिक शासन हो या निरंकुश। कन्सीलियर आन्दोलन इसी समस्या को सुलझाने का एक प्रयास था। यही अगले अध्याय का अध्ययन विषय है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १४

मध्य काल का अन्त

कन्सीलियर आन्दोलन (The Conciliar Movement)

परिचयात्मक— १३२४ ई० में 'डिफेन्सर पेसिस' का प्रकाशन मध्यकालीन राजनीतिक विचार के एक महत्त्वपूर्ण युग के अन्त की सूचना देता है; तदोपरान्त पोपशाही तथा साम्राज्य का विवाद, जिसमें कि ११वीं शताब्दी से आगे मध्यकालीन विचारकों का मन उलझा हुआ था, एक निर्जीव प्रश्न बन गया। १४वीं शताब्दी के मध्य से पादरियों, राजनीतिक विचारकों तथा राजाओं में एक दूसरे प्रश्न पर बहस छिड़ी। वह प्रश्न था: चर्च के शासन का समुचित रूप क्या हो? यहाँ पर यह बताना असंगत न होगा कि विवाद के दोनों पक्षों की पुराने प्रश्न में रुचि क्यों समाप्त हो गई और १५वीं शताब्दी में उसका स्थान एक नवीन प्रश्न ने क्यों ले लिया और क्यों यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक उस पर बहस हुई।

बात यह है कि पोप बोनीफ़ेस अष्टम को फिलिप दी फेयर ऑफ़ फ्रांस के मुक़ाबले में तथा पोप जॉन २२वें को लुई दी बवेरियन के सामने असफलता मिलने के कारण धार्मिक तथा लौकिक शक्तियों के द्वन्द्व में पोप की हार हो चुकी थी और राज्य की स्वतंत्रता का सिद्धान्त स्थापित हो चुका था। एविग्नोन में बेबीलोनिश कैप्टीविटी (Babylonish Captivity at Avignon) के दुष्कृत्य तथा १३७७ में पोप ग्रेगरी ११वें के रोम में लौटने के दो वर्ष पश्चात् पारस्परिक फूट के कुकृत्य ने पोपशाही को न केवल दुर्बल बना दिया बल्कि उसकी मान प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया। जिस पोपशाही का इतना गहरा पतन हो चुका हो उसके प्रभुतापूर्ण शक्ति के दावों का समर्थन करना पादरियों के लिये बड़ा कठिन हो गया। दूसरी ओर, मार्सीलियो के बाद राज्य की स्वतन्त्रता के समर्थकों को कहने के लिये कोई नई महत्त्वपूर्ण बात न रही। इसके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस जैसे राज्यों के शासक अधिक व्यावहारिक समस्याओं में व्यस्त हो गये, जैसे कि सामन्त सरदारों की कार्यवाहियों का दमन करना जोकि उनके केन्द्रीकरण के प्रयत्नों के मार्ग में गम्भीर बाधा थीं, 'शतवर्षीय युद्ध' तथा 'गुलाब युद्ध' (Wars of Roses)। १३५० ई० में यूरोप के ऊपर 'ब्लैक डैथ' (Black Death) का जो बवण्डर आया, उसने भी मानव मस्तिष्क को विभिन्न धाराओं में मोड़ दिया; विचार रहस्यवाद की ओर प्रवाहित हो गया। कला तथा विद्या के पुनरुत्थान ने भी मनुष्य की रुचि को विवाद से हटाकर दूसरे विषयों की ओर प्रवृत्त कर दिया। इस प्रकार मध्यकालीन बौद्धिक प्रवृत्ति में एक क्रांति सी आगई। मार्सीलियो की मृत्यु के उपरान्त डेढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौ वर्ष का समय मध्य काल से आधुनिक काल तक एक संक्रमण युग है ; वह मध्य काल के अन्त की सूचना देता है। इस युग में राष्ट्रीय राजाओं की शक्ति में बड़ी वृद्धि हुई और उसी अनुपात से सामन्त सरदारों की शक्ति का ह्रास हुआ ; वाणिज्य तथा नगरों का भी ज़बर्दस्त विकास हुआ। ये समस्त घटनायें एक दूसरे से सम्बन्धित थीं। परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी पोपशाही का ह्रास तथा चर्च परिषदों का उदय। उस युग के राजनीतिक विचार पर सब से अधिक गहरा प्रभाव चर्च शासन के परिषदीय सिद्धान्त के विकास का पड़ा जिसका विवरण यहाँ दिया जायेगा।

यद्यपि इस युग के प्रमुख व्यक्तियों ने लौकिक शक्ति के ऊपर धार्मिक अधिकारियों के प्रभुत्व के दावों की विवेचना अब छोड़ दी थी तो भी वे मध्य काल के थे। उनका आरम्भ बिन्दु यह मान्यता थी कि ईसाई जगत एक इकाई है, इसलिये उसका शासन एक-केन्द्रीय होना चाहिये। चर्च के अन्दर निरंकुश शासन हो या सांविधानिक, इस प्रश्न पर गरमा गरम बहस करते हुए भी वे चर्च की एकता पर ज़ोर देते थे और उसे प्रत्येक दशा में सुरक्षित रखना चाहते थे। एकता के इस पुराने विचार को राष्ट्रवाद के नवीन विचार ने चुनौती दी और अन्त में उसे परास्त कर दिया। सार्वभौमिक समाज की धारणा के लोप तथा राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय चर्च के विचार की विजय के साथ मध्य काल का अन्त हो गया और आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ। इस परिवर्तन का आरम्भ पुनरुत्थान (Renaissance) तथा प्रॉटेस्टेण्ट सुधार आन्दोलन (Reformation) ने किया। मैकियावेली पुनरुत्थान का फल था ; लूथर तथा काल्विन सुधार युग के पैगम्बर थे। इस अध्याय में हम परिषदीय सिद्धान्त के उत्थान तथा पतन की विवेचना करेंगे। मैकियावेली का राजनीतिक विचार अगले अध्याय का विषय होगा तथा सुधार का वर्णन उससे आगे किया जायेगा।

कन्सीलियर आन्दोलन (The Conciliar Movement)– कन्सीलियर सिद्धांत को दो अवस्थाओं में विभक्त करना सुविधाजनक होगा। इसकी प्रथम अवस्था तो वह है जिसमें कि १४वीं शताब्दी में जॉन ऑफ पेरिस, मासीर्लियो ऑफ पेडुआ तथा विलियम ऑफ ओकम सरीखे लेखकों ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास स्थान साधारण परिषद् है और दूसरी वह है जिसमें कि इस विचार ने साकार रूप ग्रहण किया और एक तुरन्त आवश्यक व्यवहारिक समस्या का निराकरण करने के लिये तीन परिषदें बुलाई गईं। इस आन्दोलन के द्वितीय चरण के प्रमुख नेता गर्सन, पियरी डेअली (Pierre D'Ailly) तथा निकोलस ऑफ क्यूसा हैं। कन्सीलियर सिद्धांत को १४वीं शताब्दी के लेखकों की देन के विषय में जो पहिले कहा जा चुका है, इसके अतिरिक्त और कुछ कहना आवश्यक नहीं है। हां पाठक का ध्यान जॉन ऑफ पेरिस के इस सुझाव की ओर आकृष्ट किया जा सकता है कि यदि पोप ऐसे विचारों का प्रतिपादन करता है जोकि चर्च के सुप्रतिष्ठित सिद्धांत से ताल नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाते और वह धर्म-विमुख हो जाता है अथवा किसी अक्षम्य पाप का भागी वन जाता है तो वह विषय साधारण परिषद् के पास जा सकता है जोकि पोप को पदच्युत कर सकती है। यह सुझाव एकदम निष्फल रहा। मासीलियो तथा विलियम ने चर्च की साधारण परिषद् के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रतिपादन किसी व्यावहारिक समस्या को सुलझाने के लिए नहीं वल्कि पोपशाही के सिद्धांत का उत्तर देने के लिये किया था। एविग्नोन के पोपों की फ्रांस के राजाओं के प्रति अधीनता ने उनकी पोप-विरोधी भावना को और भी तीव्र कर दिया। सारांश यह कि १४वीं शताब्दी में कन्सीलियर सिद्धांत का प्रचार केवल कुछ थोड़े से पोप विरोधियों ने किया था; यह एक सार्वजनिक आन्दोलन नहीं वन पाया था; वह पोप के लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में निरंकुश शक्ति के दावे के विरुद्ध एक विरोध प्रदर्शन था। चर्च का पारस्परिक कलह यदि न होता तो यह सार्वजनिक आन्दोलन न वनता, परन्तु कलह ने पोप के प्रभुता के दावे को अत्यन्त हास्यास्पद वना दिया। इसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है।

फूट (The Schism)— पाठकों को याद होगा कि चर्च सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न के ऊपर फ्रांस के राजा फिलिप दी फेयर तथा पोप वोनीफेस अष्टम में कटु विवाद छिड़ गया था। उसमें यद्यपि फिलिप सफल हो गया था, किन्तु उसने इस प्रकार के संकटों की भविष्य में पुनरावृत्ति को रोकने का दृढ़ संकल्प किया। इसलिए उसने एक फ्रांसीसी धर्माधिकारी को पोप पद पर नियुक्त करा लिया और पोप का मुख्य स्थान रोम से हटा कर एविग्नोन में लिवा ले गया। १३०६ से १३७६ तक पोप एविग्नोन में फ्रांस के राजाओं के प्रभाव में रहे जो खुल्लम खुल्ला उनकी नीतियों को नियंत्रित करते थे। इसे पोपशाही की वेवीलोनिश कैप्टीविटी कहते हैं। इसने पोपों के सम्मान और शक्ति को भारी आघात पहुँचाया जिसकी कमी की पूर्ति कभी नहीं हो सकी। यूरोप के साधारण विषयों में उसे जो प्रतिष्ठित स्थान पहिले प्राप्त था वह उसे फिर कभी न मिल सका। एविग्नोन में पोप के दरबार में हासविलास, पक्षपात तथा धन का अपार अपव्यय होता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पादरियों तथा जन साधारण में जो फ्रांस की नीति के विरुद्ध थे, समान रूप से विक्षोभ की एक लहर दौड़ गई। वेवीलोनिश कैप्टीविटी के इस युग का अन्त तब हुआ जवकि पोप ग्रेगरी ११वां १३७७ ई० में रोम में वापिस आगया।

ग्रेगरी ११वें की मृत्यु के पश्चात् एक नये पोप के निर्वाचन ने चर्च में फूट उत्पन्न करदी जो इतिहास में 'शिज़्म' (Schism) के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रांस के धर्माधिकारियों ने, जो कि एविग्नोन के विलासी जीवन को त्यागने के लिये तैयार न थे, एक इटली निवासी के पोप अर्वन षष्ठ के रूप में निर्वाचित हो जाने की जो ग्रेगरी ११वें का उत्तराधिकारी था घोर निन्दा की और अनुचित वताया। उन्होंने एक फ्रांस निवासी को पोप क्लीमेंट सप्तम के रूप में निर्वाचित कर लिया और वे एविग्नोन को लौट गये। इस प्रकार-एक की जगह दो पोप हो गये, एक रोम में और दूसरा एविग्नोन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में। इन दोनों में से प्रत्येक ईसा का प्रतिनिधि होने और चर्च के प्रधान होने के नाते उस प्रभुता का स्वामी होने का दावा करता था जिसका कि वास्तविक प्रयोग पोप ग्रेगरी सप्तम, इन्नोसेन्ट तृतीय तथा इन्नोसेन्ट चतुर्थ सरीखे पोपों ने किया था जबकि पोपशाही की शक्ति तथा प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। यह फूट जो १३७८ से १४१७ तक चली ईसाई जगत में एक गम्भीर घटना थी; इसने चर्च की एकता को भंग कर दिया और समस्त यूरोप को दो भागों में विभक्त कर दिया जिनमें से एक एविग्नोन के पोप का समर्थन करता था और दूसरा रोम के पोप का अनुयायी था। इससे प्रतिद्वन्द्वी पोपों के दावों के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा। इससे यह प्रश्न भी उठाया गया कि आया कि ऐसी कोई उच्चतर लौकिक शक्ति है जो चर्च के झगड़ों को निपटा सके। विभिन्न परिषदों के वादविवाद में विभिन्न प्रकार के तथा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा की गई। इस फूट ने एक कोरे बौद्धिक वादविवाद को ही जन्म नहीं दिया बल्कि इसने प्रत्येक देश के नित्यप्रति के जीवन पर अत्यन्त गहरा प्रभाव डाला। "जब तक भी यह फूट जारी रही तभी तक अपनी प्रजा के लिये आध्यात्मिक गुरु को चुनने का भार अनिवार्य रूप से प्रत्येक राजा के कन्धों पर पड़ता रहा। परिस्थितियों ने सरकार की पहिले ही से बढ़ती हुई शक्तियों में एक नई शक्ति को जोड़ दिया। यूरोपीय राजाओं को बड़ी द्रुतगति से आध्यात्मिक विषयों में स्वतन्त्र होने की आदत पड़ती जा रही थी जिससे पोप की शक्ति तथा चर्च की एकता को आघात लगा।"* इसलिये समस्त सच्चे ईसाइयों के लिए इस फूट को समाप्त करना और चर्च की खोई हुई एकता को फिर से स्थापित करना एक ज़बर्दस्त महत्त्व और तुरन्त आवश्यकता का विषय बन गया। चर्च के राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा राजा सभी लोग इसी घाव को भरने के लिये संगठित हो उठे। इसका परिणाम हुआ कन्सीलियर आन्दोलन। पेरिस विश्वविद्यालय के गर्सन तथा पियरी डेली सरीखे व्यक्तियों ने, जिन्होंने मार्सीलियो तथा प्रारम्भिक चर्च फादर्स का गहरा अध्ययन किया था, यह सुझाव पेश किया कि इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये चर्च की सामान्य परिषद् बुलाई जानी चाहिये। पहिली परिषद् १४०९ ई० में पीसा में बुलाई गई। उसने दोनों पोपों को पदच्युत करके और उनकी जगह एक नये पोप को चुनकर फूट को समाप्त करना चाहा।

* "So long as the schism lasted, so long would the burden of choosing the spiritual guide for his people be thrown inevitably upon the shoulders of each secular prince. Force of circumstances added a new power to the already extending authority of secular governments...... The European princes were rapidly acquiring a habit of independence in spriritual matters to the detriment of papal authority and the unity of the church." Doyle : *A History of Political Thought*, page 111.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु पहिले दोनों पोपों में से स्वेच्छापूर्वक हटने के लिए एक भी तैयार न था, इसलिये परिषद् के निर्णय का परिणाम यह हुआ कि पोप पद के लिए दावेदार दो की जगह तीन हो गये और स्थिति पहिले से भी विषम हो उठी। यह गड़बड़ इतनी अधिक बढ़ गई कि पोप जॉन २३वें को, जोकि अलेक्ज़ेण्डर का उत्तराधिकारी था, इस समस्या को सुलझाने के लिये १४१४ ई० में कॉन्स्टैन्स में परिषद् को बुलाना पड़ा। कॉन्स्टैन्स की परिषद् तथा उसकी सफलता एवं विफलता का विवरण देने से पूर्व कन्सीलियर आन्दोलन के उद्देश्यों के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कन्सीलियर आन्दोलन के उद्देश्य— जिन लोगों ने चर्च की पारस्परिक फूट का अन्त करने के लिये इतना घोर परिश्रम किया था उन्होंने शीघ्र ही यह महसूस कर लिया कि जब तक चर्च के प्रधान तथा सदस्यों, दोनों का सुधार न किया जायेगा तब तक दो प्रतिद्वन्द्वी पोपों के स्थान में एक नये पोप नियुक्त करने से ही चर्च में कोई स्थायी एकता तथा सामंजस्य स्थापित नहीं हो जायेगा। आवश्यकता इस बात की थी कि चर्च की वित्त सम्बन्धी स्थिति को दृढ़ बनाया जाये और यह देखने के लिये कि चर्च का धन समुचित रूप से व्यय हो रहा है या नहीं, हिसाब किताब और नियन्त्रण की एक समुचित व्यवस्था की जाये तथा पोप के दरबार की विलासिता और अपव्यय को कम किया जाये। इसके अतिरिक्त पोप की निरंकुशता का विरोध भी बढ़ा और उसे नियन्त्रित करने की मांग भी बहुत अधिक बढ़ गई। बोहीमिया में हस के तथा इंग्लैण्ड में वाइक्लिफ़ के जनप्रिय आन्दोलनों के फलस्वरूप पोप की निरंकुशता का प्रश्न सार्वजनिक वादविवाद का विषय बन गया। उन्होंने राजनीतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता की मांग की और कर्मकाण्ड तथा उच्चतर पादरियों द्वारा आध्यात्मिक शक्ति पर एकाधिकार का विरोध किया। इसके अतिरिक्त पादरियों के, जोकि पुनरुत्थान के आकर्षणों, पद तथा धन की कामना से विचलित हो उठे थे और जिनका नैतिक पतन भी हो गया था, नैतिक सुधार का प्रश्न भी था। फूट को समाप्त करने के अतिरिक्त चर्च का सुधार, और अधर्म का दमन भी कन्सीलियरवादियों का ध्येय बन गया। चर्च की शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचाने, उसके नैतिक ह्रास को रोकने तथा उसके पूर्वकालीन गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का एकमात्र मार्ग चर्च की एक नियमित शाखा के रूप में एक साधारण परिषद् की स्थापना करना तथा उसे निश्चित सांविधानिक अधिकार और कर्तव्य प्रदान करना था।

कॉन्स्टैन्स की परिषद् (The Council of Constance)— जैसा कि हम पहिले बता चुके हैं, पीसा की परिषद् फूट को समाप्त करने में विफल रही; उससे स्थिति पहिले से भी खराब हो गई। जॉन गर्सन ने मुख्यतः जिसके लेखों के फलस्वरूप कन्सीलियर सिद्धान्त को यूरोप में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ था, एक दूसरी तथा अधिक प्रतिनिधि परिषद् बुलाने पर ज़ोर दिया। उसका फल हुआ कॉन्स्टैन्स की परिषद् जिसकी कार्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाही १४१४ से लेकर १४१८ तक चलती रही। इसकी प्रवृत्ति और इसका निर्माण उसकी पूर्ववर्ती पीसा परिषद् से बहुत अधिक भिन्न था। इसमें लगभग समस्त यूरोपीय लौकिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व था। विद्वानों तथा उच्च कोटि के पादरियों के अतिरिक्त साधारण पादरियों के प्रतिनिधि इसमें मौजूद थे। राजाओं ने भी अपने प्रतिनिधि इसमें भेजे। उसमें एकत्रित प्रतिनिधियों ने फूट को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय किया और अपने उद्देश्य में वे सफल भी हुए। किन्तु चर्च के सुधार में उन्होंने उतनी दृढ़ता और तत्परता नहीं दिखाई और न ही वे सर्वसम्मति से किसी सुधार का प्रस्ताव कर सके। इस लिए इस दिशा में उन्हें कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। हस तथा वाइक्लिफ के विचारों को धर्मविमुख ठहराया गया। यहाँ तक कि हस को तो जीवित ही जला दिया गया यद्यपि उसे सुरक्षा का आश्वासन दिलाकर परिषद् में आमंत्रित किया गया था। जॉन गर्सन, जो कि अपने शिक्षक पियरी डेली के उत्तराधिकारी के रूप में पेरिस विश्वविद्यालय का कुलपति बना, इस परिषद् का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता था और उसके सर्वमान्य नेतृत्व के कारण ही फूट समाप्त हो पाई थी।

फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् को पोपशाही के ऊपर अपनी प्रभुता मनमानी आवश्यक थी। इसलिये परिषदवादियों के समस्त प्रयत्नों का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्मशक्ति की प्रभुता का स्वामी पोप नहीं बल्कि साधारण परिषद् थी क्योंकि वह ही समस्त ईसाइयों की सच्ची प्रतिनिधि थी। इसके फलस्वरूप राजसत्ता के स्वरूप तथा राज्य में उसके निवासस्थान और राजनीतिक सत्ता की सीमाओं तथा विस्तार के विषय में एक लम्बी बहस छिड़ गई। इस प्रकार कॉन्स्टैन्स की परिषद् में राजनीतिक सिद्धान्त की बहुत सी समस्याओं पर बहस हुई। इस लम्बी बहस के फलस्वरूप १४१५ ई० का विख्यात प्रत्यादेश जारी किया गया जिसे डा० फ़िगिस ने "संसार के इतिहास में कदाचित सब से अधिक क्रांतिकारी अधिकृत अभिलेख्य" कह कर पुकारा है। इसमें यह सिद्धान्त अभिव्यक्त है कि परिषद् को पोप के ऊपर प्रभुता का अधिकार है। इस प्रत्यादेश का कहना है कि "साधारण परिषद् को, जोकि कैथोलिक चर्च का निर्माण तथा प्रतिनिधित्व करती है, प्रत्यक्ष रूप से ईसा से शक्ति प्राप्त हुई है जिसकी आज्ञा का पालन धर्म, कथित फूट तथा चर्च के सुधार के विषय में प्रत्येक व्यक्ति करने को बाध्य है, चाहे उसका दर्जा तथा सम्मान कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पोप ही क्यों न हो।"* इस धारणा का, कि चर्च की प्रभुत्व-पूर्ण शक्ति समस्त समाज अथवा उसके प्रतिनिधि अंग में मानी जानी चाहिये, पोप में नहीं,

* "A General Council constituting and representing the Catholic Church, has authority immediately from Christ which every one in existence of whatever status or dignity, even of papal, is bound to obey in those things which pertain to the faith, the extirpation of the said schism, and the reform of the church in head and in members."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य आधार मार्सीलियो का यह सिद्धांत था कि मौलिक, विधाननिर्मात्री तथा विधिनिर्मायक शक्ति समस्त जनता में है। ईसा के इन शब्दों का कि 'जहाँ दो या तीन मेरे नाम में एकत्रित होते हैं, तो मैं भी उनके बीच में होता हूँ' यह अर्थ समझा गया कि पोप की अपेक्षा परिषद् महत्तर है। चर्च का एक कार्यपालक प्रधान होने के नाते पोप समाज का एक अधिकृत अभिकर्ता मात्र था, उसका प्रभुत्वपूर्ण स्वामी नहीं। तर्क यह दिया गया कि उसे परिषद् के अनुशासन में रहना चाहिये क्योंकि समस्त ईसाई जगत की प्रतिनिधि होने के नाते परिषद् पोप से श्रेष्ठतर थी। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यादेश में यह भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है कि परिषद् ने अपनी शक्ति प्रत्यक्ष रूप से ईसा से प्राप्त की है, पोप सरीखी किसी शक्ति के माध्यम द्वारा नहीं। वह सिद्धांत जिसके आधार पर परिषद्वादियों ने अपनी विचारधारा का विकास किया सैबाइन के निम्नलिखित शब्दों में सुन्दरतम रूप में व्यक्त है : "एक पूर्णतया तथा स्वपर्याप्त समाज होने के नाते चर्च के पास वे समस्त शक्तियाँ होनी चाहियें जोकि उसकी स्थिरता, उसके सुव्यवस्थित शासन तथा दोषों को दूर करने के लिये आवश्यक हैं। इसलिये जो आध्यात्मिक शक्ति इसे मिली हुई है उसका स्वामी स्वयं चर्च है, समस्त धर्मावलम्बियों का एक सम्पूर्ण सामूहिक निकाय है और पादरीगण जिन में पोप भी सम्मिलित है केवल वे अभिकर्त्ता तथा अंग हैं जिनके द्वारा समाज कार्य करता है।"*

अक्तूबर १४१७ में कॉन्स्टैन्स परिषद् ने एक दूसरा प्रत्यादेश जारी किया जिसका उद्देश्य यह था कि परिषद् की बैठक नियमित रूप से प्रत्येक दसवें वर्ष होनी चाहिये और पोप को उसे स्थगित करने तथा उसका स्थान परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। इस प्रत्यादेश को यदि व्यावहारिक रूप दिया जा सकता तो पोप की नीति के ऊपर परिषद् का एक नियमित नियन्त्रण निश्चित हो जाता और चर्च में एक सांविधानिक शासन की स्थापना हो जाती; परन्तु दुर्भाग्यवश कई कारणों से इसे क्रियान्वित न किया जा सका। उन दिनों किसी बड़े निकाय का बार बार समवेत होना कठिन था क्योंकि संवादवाहन के साधन बहुत थोड़े और मन्दगति थे। इसके अतिरिक्त पोप विभिन्न हितों और गुटों को एक दूसरे से लड़ाकर कार्य की एकता तथा नीति की तारतम्यता को सरलता से रोक सकते थे।

कन्सीलियर सिद्धान्त की एक अन्य महत्वपूर्ण बात भी उल्लेखनीय है। यह बताया

* "The church, being a complete and self-sufficing society, must possess all the powers needed to ensure its continuance, its orderly government, and the removal of abuses as they occur. Consequently the spiritual power with which it is endowed is vested in the church itself, in the whole body of the faithful as a corporate body, and the clergy including the pope are merely the ministers or organs by which the society acts." Sabine : *A History of Political Theory*, page 317.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा चुका है कि पहिले प्रभुत्वपूर्ण शक्ति का निवास-स्थान साधारण परिषद् (General Council) समझा जाता था जिसमें पोप तथा समवेत प्रतिनिधि सम्मिलित थे। आगे चलकर पोप जॉन २३वें के धर्म-विमुख हो जाने पर परिषद् ने यह घोषणा की कि प्रभुता पोप सहित सम्पूर्ण परिषद् में नहीं बल्कि केवल उसके सदस्यों में है और आवश्यकता पड़ने पर पोप की प्रतीक्षा किये बिना ही राजा उसे बुला सकता है। यदि परिषद्वादी (Conciliarists) अपने उद्देश्य में सफल हो जाते और परिषद् चर्च के शासन यन्त्र का एक नियमित और स्थायी भाग बन जाती तो पोप की निरंकुशता के स्थान पर एक सीमित तथा सांविधानिक शासन स्थापित हो जाता और पोप की स्वेच्छाचारिता समाप्त हो जाती। परिषद्वादियों की यह दृढ़ धारणा थी कि पोप की शक्ति एक धरोहर थी, जिसके प्रयोग के लिये वह सम्पूर्ण निकाय के सामने उत्तरदायी था और वह अपनी ओर से नवीन सिद्धान्तों को निर्धारित नहीं कर सकता। परन्तु वास्तव में ऐसा कोई परिणाम नहीं निकला; फूट का अन्त होते ही कॉन्स्टैन्स की परिषद् का भी अन्त हो गया। फूट समाप्त होने पर जब सदस्यों ने चर्च सुधार का कार्य उठाया तो उनमें ज़बर्दस्त मतभेद उठ खड़े हुए और समस्या का कोई सर्वमान्य निराकरण न निकल सका। समस्त ईसाई जगत इस विषय में एकमत था कि फूट का अन्त होना चाहिये, इसलिये कॉन्स्टैन्स की परिषद् चर्च में फिर से एकता स्थापित करने में सफल हुई। परन्तु चर्च शासन में आमूलचूल परिवर्तन करने तथा पोप की प्रभुता को समाप्त करने के ऊपर इस प्रकार का कोई सामान्य एकमत नहीं था। इसलिये परिषद्वादियों का चर्च को सुधारने का प्रयत्न निष्फल रहा और वे चर्च में एक सांविधानिक शासन स्थापित करने की कोई व्यवहारणीय योजना तैयार न कर सके। अतः कॉन्स्टैन्स की परिषद् बिना कोई सुधार किये हुए ही भंग हो गई। पोप यथापूर्व चर्च का शासन चलाते रहे और पहिले दोष ज्यों के त्यों बने रहे।

बेसल की परिषद् तथा आन्दोलन की विफलता— चर्च का सुधार करने में कॉन्स्टेन्स की परिषद् की विफलता का अर्थ यह नहीं है कि कन्सीलियर आन्दोलन का ही अन्त हो गया। राजाओं तथा जनता का दबाव पड़ने पर पोप एक और परिषद् बुलाने को विवश हुआ। तीसरी और अन्तिम परिषद् १४३१ में बेसल में समवेत हुई और गिरती पड़ती यह १४४८ तक चलती रही। यद्यपि कुछ समय के लिये तो ऐसा दिखाई पड़ता था कि मानो चर्च में वैधानिक शासन लाने में यह सफल होगी; किन्तु अन्त में यह विफल रही और इसकी विफलता कन्सीलियर आन्दोलन की मृत्यु सिद्ध हुई। इस परिषद् ने यह सिद्ध कर दिया कि चर्च का प्रबन्ध करने की सामर्थ्य उसमें न थी। इसकी असमर्थता का कारण यह था कि यह राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा तथा द्वेष का शिकार हो गई। "वह परिषद् जो स्वयं ही प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रीय द्वेष का शिकार हो धर्माधिकारियों के ज़बरदस्त हितों पर सफलतापूर्वक आक्रमण नहीं कर सकती थी।"* फ्रांसीसी सदस्य स्वयं अपनी

* "A council which itself was a prey to every form of national jealousy was ill-qualified to attack the stupendous mass of vested interests that made up ecclesiastical patronage."
—Sabine : *Ibid*, page 325.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति को दृढ़ बनाने के हेतु पोप की शक्तियाँ कम करना चाहते थे। इटली का गुट पोप के प्रभाव और शक्तियों को सुरक्षित रखना चाहता था क्योंकि वे वास्तव में इटली वालों के विशेषाधिकार बन गये थे। इसलिये वे सुधार नीति अपनाने को अनिच्छुक थे क्योंकि सुधार का अर्थ उनके अपने ही अधिकारों का कम हो जाना था। इटली से बाहर के महान् पादरी पोप की शक्तियों को कम कर स्वयं अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते थे, किन्तु वे अपने से छोटे पादरियों को शक्ति में भागीदार बनाने के लिये इच्छुक न थे। वे जनसाधारण में फैले हुए असंतोष के साथ कोई रियायत करने को तैयार न थे। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष सुधार तो चाहता था, किन्तु स्वयं हानि उठाकर नहीं, प्रत्येक यही चाहता था कि सुधार का आरम्भ उन्हें छोड़कर कहीं अन्यत्र हो। ऐसी स्थिति में पोप 'फूट डालो और शासन करो' के प्राचीन रोमन सिद्धान्त का सफलता से प्रयोग कर सकता था और उससे लाभ उठा सकता था। वह सुगमता से एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाकर कार्य तथा नीति की एकता को असम्भव बना सकता था।

इस आन्दोलन की विफलता का दूसरा मुख्य कारण यह है कि उसके पास कोई ऐसा योग्य और शक्तिशाली नेता नहीं था जोकि परिषद् की धारणा में एक भावात्मक प्रेरणा भर सकता और उसके सदस्यों को सामान्य लक्ष्य के सामने स्थानीय मतभेद को भूलने के लिए अनुप्रेरित कर सकता तथा बाह्य राजनीतिक हितों को हस्तक्षेप करने से रोक सकता। यह आन्दोलन प्रायः विश्वविद्यालयों तक सीमित था और इसका नेतृत्व उन विद्वानों के हाथों में था जिनका जन-साधारण से कोई सम्बन्ध न था। जन-सहयोग इसे नहीं मिला। प्रोफेसर कुक का विश्वास है कि इसके नेताओं का फूँक फूँक कर कदम रखना और नम्रवादिता का भी इसकी विफलता में हाथ था। उनकी नम्र-वादिता ने उन्हें रूढ़िवादी बना दिया। यह कहना तो कठिन है कि एक अधिक उग्र और क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाने से इसे सफलता प्राप्त हो जाती; यह सच है कि इस आन्दोलन ने कोई काल्विन सरीखा नेता उत्पन्न नहीं किया जो राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं द्वारा उत्पन्न की हुई कठिनाइयों को पार करके एकता उत्पन्न कर सकता जिनके बिना सार्वभौमिक चर्च में परिषद् का शासन होना असम्भव था। इस परिषद् के भंग होने के उपरान्त उसका महान् नेता निकोलस पोप से मिल गया और फ्रांस को छोड़कर और राज्यों के शासकों ने पोप से संधि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा जिसके द्वारा उन्हें कुछ रियायतें मिल गईं और उनके बदले में उन्होंने पोप की निरं-कुशता का विरोध करना छोड़ दिया। पोप की शक्ति की परम्परा इतनी गहरी और दृढ़ थी कि कन्सीलियर प्रयोग उसे न हिला सका। परिषदें केवल यदाकदा ही समवेत हो सकती थीं; पोप सदैव मौजूद रहता था। परिषदों में कार्य और नीति की कोई एकता न थी, वे सदा विभक्त रहती थीं; पोप एक था और परिषदों के बनाये हुए नियमों को क्रियान्वित करने में उसके हाथ में महान् विवेकात्मक शक्ति थी। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरलतापूर्वक एक गुट को दूसरे गुट से भिड़ा सकता था। और इसके द्वारा अपनी स्थिति को दृढ़ बना सकता था। इस प्रकार पोपों को कुछ ऐसे लाभ प्राप्त थे जिनका परिषदों के पास अभाव था और परिषदों में कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण वे शासन का यन्त्र नहीं बन सकती थीं। ऐसी स्थिति में यदि कन्सीलियर आन्दोलन चर्च में वैधानिक शासन स्थापित करने में विफल हो गया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

कन्सीलियर आन्दोलन का महत्त्व— यद्यपि कन्सीलियर आन्दोलन चर्च में पोप की निरंकुशता के स्थान में एक वैधानिक शासन स्थापित करने और चर्च शासन के सिद्धान्त को बदलने में विफल हो गया, तथापि वह पूर्ण रूप से निष्फल नहीं रहा, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला। निरंकुशवाद तथा संविधान के बीच यह सबसे पहिला महान् शास्त्रार्थ था; इसने ऐसे विचारों को जन्म दिया जिनका कि आगे चलकर निरंकुश राजा तथा जनता के बीच होने वाले संघर्ष में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। "चर्च के विवाद ने ही सब से पहिले निरंकुश तथा सांविधानिक सरकार के बीच निर्णय होने वाले प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित की; और इसने उस विचार दर्शन का प्रसार किया जोकि निरंकुशवाद के विरुद्ध प्रमुख शस्त्र बना। सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति के दैविक अधिकार तथा समाज की प्रभुत्वपूर्ण शक्ति दोनों का ही लौकिक शासन के क्षेत्र में प्रत्यावर्त्तन कर दिया गया।"* कन्सीलियर आन्दोलन ने राज्य सम्बन्धी कई समस्याओं को अपने आधुनिक रूप में उठाया; उदाहरणार्थ यह कि कानून का तत्त्व रज़ामन्दी है; समस्त शक्ति एक धरोहर है; सरकार की शक्ति अपने उद्देश्य से सीमित है; तथा आवश्यकता परिवर्तन का सदैव एक उचित आधार है। जिस प्रकार जॉन गर्सन कॉन्स्टेन्स की परिषद् का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता था उसी प्रकार बेसिल की परिषद् का प्रधान तत्ववेत्ता निकोलस ऑफ कूसा था। कन्सीलियर सिद्धान्त के इस संक्षिप्त विवरण के उपसंहार-स्वरूप हम इन दोनों के आधारभूत विचारों का दिग्दर्शन करायेंगे।

जॉन गर्सन— साधारण परिषद् को समवेत करके जो लोग फूट को दूर करना चाहते थे उनमें जॉन गर्सन सबसे अधिक विख्यात था। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, उसी के प्रचार द्वारा कन्सीलियर सिद्धान्त को यूरोप की आम हिमायत प्राप्त हो सकी थी। पीसा की परिषद् में कलहकारी पोपों के स्थान में अलेक्ज़ेण्डर पंचम को पोप निर्वाचित कराने का प्रधान श्रेय उसी को है। जब दो कलहकारी पोपों ने नये पोप के पक्ष में अपने स्थानों का परित्याग नहीं किया और पोप अलेक्ज़ेण्डर ऐसी नीतियाँ अपनाने लगा

* "The controversy in the church first drew the lines upon which the issue between absolute and constitutional government was drawn, and it spread the type of philosophy by which in the main absolutism was to be contested. Both the divine right of the sovereign and the sovereign power of the community were transferred to the field of secular government."

—Sabine : *op. ct.*, page 326.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोकि कन्सीलिविस्ट्स को पसन्द न थीं तो गर्सन ने एक नवीन परिषद् को समवेत करके तीनों पोपों को पदच्युत करने की मांग की। कॉन्स्टेन्स की परिषद् का वह माना हुआ नेता और उसका प्रधान सिद्धान्तवेत्ता था।

गर्सन की चर्च तथा उसके शासन सम्बन्धी धारणायें एक बड़ी हद तक मार्सीलियो के विचारों से प्रभावित थीं; किन्तु वह उसकी अपेक्षा कम नवीनताप्रिय और जनतन्त्रवादी तथा अधिक कुलीनतन्त्रवादी था। गर्सन का विचार था कि एक संस्था के रूप में चर्च पोप से उच्चतर है और यदि पोप धर्मविमुख हो जाता है अथवा अपने पद का दुरुपयोग करता है तो चर्च उसे पदच्युत कर सकता है। इस प्रकार उसने पीटर के सिद्धान्त और उसके ऊपर आधारित पोप की प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन किया। परन्तु मार्सीलियो के सदृश वह चर्च में समस्त ईसाइयों को सम्मिलित नहीं करता था; उसके लिये तो वह पादरीगण का एक शिखरोन्मुखी संगठन था जिसका प्रशासकीय प्रधान पोप था और जिसकी अन्तिम शक्ति साधारण परिषद् में थी। चर्च का मुख्य प्रशासन अधिकारी होने के नाते पोप परिषद् के अधीन था और परिषद् के आदेशों का पालन करना उसका कर्त्तव्य था। इस प्रकार गर्सन ने संसार के सामने यह सिद्धान्त रक्खा कि चर्च के लिये सर्वोत्तम शासन परिमित राजतन्त्र है। चर्च में राजतंत्रीय शासन को वह आवश्यक मानता था; उसका यह भी विश्वास था कि पोप पद एक दैविक संस्थान है; परन्तु इसके साथ ही साथ वह यह कहता था कि पोप की शक्तियाँ चर्च के अन्य पदों के स्वतन्त्र अधिकार तथा साधारण परिषदों द्वारा बनाये गये कानूनों द्वारा सीमित हैं। ये कानून चर्च की उस शक्ति के ऊपर आधारित हैं जिसका प्रतिनिधित्व परिषदें करती हैं, इसलिये पोप को उनमें परिवर्तन करने, स्थगित करने तथा रद्द करने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार उसने निश्चित रूप से पोप को परिषद् की श्रेष्ठतर शक्ति के अधीन कर दिया किन्तु उसने न तो सार्वजनीन राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रचार किया और न ही पोप पद के औचित्य से इन्कार किया। उसने अपने सिद्धान्त का निर्माण इतने चातुर्य्यपूर्वक किया कि सर्वोच्च शक्ति चर्च की साधारण परिषद् को देते हुए भी उसने पोप की परम्परागत शक्ति को कम से कम आघात पहुँचाया। पोप यथापूर्व मुख्य प्रशासकीय अधिकारी बना रहा और महत्त्वपूर्ण विषयों में महान् विवेकात्मक शक्तियाँ उसके हाथों में रहीं। "वास्तव में गर्सन ने पोप की प्रभुता के विनाश पर पोपशाही की स्तुति तथा इस प्रायः व्यक्त धारणा का कि परिषद् की सर्वोच्चता का औचित्य फूट द्वारा भ्रष्टाचार तथा चर्च के लिये भीषण खतरे में है, आवरण डाल दिया है। तथापि नवीन धारा की प्रवृत्ति स्पष्ट है और इस बात की साफ झलक मिलती है कि धर्म शक्ति को ध्वंस करने वाले विचारों का श्रीगणेश हो गया है।"*

* "The substantial extinction of papal sovereignty is disguised, indeed, by Gerson through frequent recurrence to the familiar formulas of pontifical exaltation, and through the no less frequent

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस सीमित तथा सांविधानिक राजतन्त्र को गर्सन चर्च के लिये शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप समझता था, उसे एक मिश्रित शासन कहा जा सकता है और उसकी तुलना हम अरस्तु द्वारा प्रतिपादित 'पोलिटी' से कर सकते हैं। पोप इसका राजतन्त्री अंग है, परिषद् कुलीनतन्त्री और समस्त पादरीगण इसका जनतंत्री भाग हैं। परिषद् पोप को निरंकुश तथा अत्याचारी होने से रोकती है और आपत्काल में वह उच्चतम होती है। पोप की अवज्ञा केवल तभी होनी चाहिये जबकि सम्पूर्ण चर्च के हितों की रक्षा करने के लिए ऐसा करना आवश्यक हो; साधारणतया उसकी शक्ति का सम्मान ही होना चाहिये।

यह एक दिलचस्प बात है कि चर्च के विषय में अपनी कुलीनतन्त्री धारणा के बावजूद गर्सन के सिद्धान्त में एक क्रांतिकारी तत्त्व वर्त्तमान था। उसकी धारणा थी कि परिषद् को समवेत करने का अधिकार पोप का था; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर पोप को पदच्युत करने के लिए लौकिक शक्ति का प्रधान होने के नाते राजा भी उसे बुला सकता था। इसका अभिप्राय यह है कि गर्सन के अनुसार पोप के धर्मविमुख हो जाने अथवा अपने कर्त्तव्य का पालन न करने की स्थिति में राजा को भी परिषद् को समवेत करने का अधिकार था। उसका यह भी विश्वास था कि पोप नैसर्गिक कानून (वह कानून जिसे ईश्वर ने अपनी मानव सृष्टि के पथ-प्रदर्शन के लिये बनाया है) के अधीन है। इस कानून के अनुसार समस्त मनुष्य समान हैं। इसलिये उसका आचरण ऐसा होना चाहिये जिससे यह प्रतीत हो कि वह अपने आपको ईसा के तुच्छ से तुच्छ अनुयायी से भी ऊँचा नहीं समझता। गर्सन के वे समस्त विचार, अर्थात् चर्च में सांविधानिक अथवा मिश्रित शासन, पोप की परिषद्, प्राकृतिक कानून तथा समानता सिद्धान्त के प्रति अधीनता, कॉन्स्टेन्स की परिषद् में प्रतिबिम्बित हो उठे और अपने समय के बुद्धि वैभव का एक भाग बन गये। उसके लेखों ने भविष्य के वैधानिक सुधारों के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया।

निकोलस ऑफ कूसा (Nicholas of Cusa)— कन्सीलियर विचारधारा का पूर्ण एवं विस्तृत विवरण निकोलस ऑफ कूसा (१४००-१४६४) में मिलता है जिसकी पुस्तक 'डी कॉन्कॉर्डेन्शिया कैथोलिका' (De Concordantia Catholica) के विषय में डा० जे० एन फ़िगिस ने यह कहा है कि वह 'लगभग अन्तिम पुस्तक है जो कि समस्त ईसाई जगत को एक ही जैविक प्रणाली समझती है और जिसमें राजनीतिक सिद्धांत का सांगोपांग विवरण दिया हुआ है।' यह है एक दार्शनिक अभिव्यंजना उस संविधानवाद

suggestion that the assertion of conciliar supremacy is mainly to be justified by the scandals of the schism and the mortal peril of the church. Yet the trend of the system which is set forth is clearly manifest, and the consciousness that doctrines subversive of the ancient ecclesiastical order are in the air is unmistakable."

—Dunning : *A History of Political Theory*, Vol. I, page 268.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की "जिसे प्राप्त करने में चर्च विफल हो रहा था, और जिसकी सिद्धि का इङ्गलैएड में लंकास्ट्रियन प्रयोग, फ्रांस के प्रतिनिधि मण्डल तथा जर्मनी के निर्वाचक-गण विफल प्रयास कर रहे थे। उसने इन विशिष्ट तथ्यों से सामान्य धारणायें बनाईं; उन मुख्य सिद्धान्तों को अपनाया जोकि वैधानिक शासन के किसी भी सिद्धान्त का आधार होते हैं; और उन्हें एक सार्वभौमिकता प्रदान की जिसने उनके महत्त्व को बढ़ा दिया।"* इस प्रकार हम देखते हैं कि यह उस युग की गहनतम धाराओं को अभिव्यक्त करती है। इसका राजनीतिक दर्शन मौलिक एवं गहरा है: यह पुस्तक मार्सीलियो के 'डिफेन्सर पेसिस' के सदृश अद्वितीय है जोकि इससे लगभग एक शताब्दी पूर्व प्रकाशित हुई थी।

निकोलस के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन की कुंजी उसकी चर्च की एकता तथा शांति के लिये तीव्र कामना है। जिस शांति को टॉमस एक्वीनास मानव समाज का प्राथमिक लक्ष्य समझता था और जिसे प्राप्त करना मार्सीलियो तथा दान्ते का उद्देश्य था, उसकी सिद्धि १५वीं शताब्दी में पूर्व की अपेक्षा कोई निकट नहीं आ पाई थी; यूरोप के विभिन्न राज्यों में चलने वाले निरंतर संघर्ष ने उसे एक सपना मात्र बना दिया था। यद्यपि फूट के समाप्त हो जाने से चर्च में फिर से एकता स्थापित हो गई थी, किन्तु दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याओं का कोई सर्वमान्य निराकरण न होने से वह एकता भारी खतरे में पड़ गई थी। वे समस्यायें ये थीं: (१) पोप तथा परिषद् में समुचित सम्बन्ध की समस्या, तथा (२) चर्च के कुशलतापूर्वक और सुगमतापूर्वक कार्य करने के लिये उसके पुनर्संगठन की समस्या। निकोलस ने इन तुरन्त आवश्यक समस्याओं को हल करने का बीड़ा उठाया; राजनीतिक समाज में मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधने वाली जो शक्तियाँ होती हैं उनके ज्ञान के आधार पर उसने पोप तथा परिषद् में समुचित सम्बन्ध तथा उसके लिये सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था के सिद्धान्त की रचना करने का प्रयास किया।

निकोलस का आरम्भ विन्दु विश्व के स्वरूप के विषय में जैविक धारणा है। विश्व विविध तत्त्वों से मिलकर बनता है जिनमें से प्रत्येक का विशिष्ट कार्य है। समस्त भाग सम्पूर्ण के हितों की साधना करते हैं, सम्पूर्ण के कल्याण के अतिरिक्त उनका कोई अपना हित नहीं है। इस प्रकार उन दोनों में उचित सम्बन्ध मित्रता और सामंजस्य का है, अधीनता का नहीं। समस्त विश्व के विषय में जो सत्य है वही राज्य और चर्च के विषय में भी सत्य है जोकि वे दो महान संस्थायें हैं जिनके द्वारा मानव व्यापार

* "......... which the church was failing to achieve, which the Lancastrian experiment in England, the estates in France and the electors in Germany were trying unsuccessfully to accomplish. He generalised from these particulars; embodied the main principles which underlie any theory of constitutional government; and endued them with a universality that increased their significance."

—Doyle : *op. ct.*, page 115.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता है। इनमें से प्रत्येक एक जैविक इकाई है जिसके विविध अंग हैं जोकि सम्पूर्ण के हेतु कार्य करते हैं। इससे आगे बढ़कर निकोलस की यह भी धारणा थी कि जो सिद्धान्त राज्य के विभिन्न भागों में सम्बन्ध निर्धारित करते हैं वे ही चर्च में वर्तते हैं। यदि चर्च ठीक एक सरकार नहीं है तो वह एक राज्य के सदृश अवश्य है और उसका प्रबन्ध राज्य की भाँति ही होता है।

शासन संघटन के आधारभूत सिद्धान्त को निकोलस ने इन शब्दों में व्यक्त किया है : "क्योंकि प्राकृतिक रूप से समस्त मनुष्य स्वतंत्र हैं, इसलिये वह शक्ति जो कि प्रजा-जन को दुराचार से रोकती है और दण्ड भय द्वारा उनकी स्वाधीनता को केवल सदाचरण तक ही सीमित रखती है, उसका एकमात्र स्रोत सामंजस्य एवं प्रजा की इच्छा है, चाहे उसका निवासस्थान लिखित क़ानून हो और चाहे जीवित क़ानून अर्थात् शासक हो। क्योंकि यदि प्राकृतिक रूप से ही समस्त मनुष्यों की शक्ति तथा स्वतंत्रता समान हैं तो दूसरों के ऊपर एक की सच्ची और निश्चित शक्ति (जब कि शासक की प्राकृतिक शक्ति भी समान ही है) दूसरों की रज़ामन्दी द्वारा ही स्थापित हो सकती है, जिस प्रकार कि क़ानून भी रज़ामन्दी द्वारा ही निर्मित होता है।"* संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि क्योंकि प्राकृतिक रूप से समस्त मनुष्य समान हैं, इसलिये शासन का आधार केवल शासित की रज़ामन्दी हो सकती है। और क्योंकि प्रकृति ने समस्त मनुष्यों को समान शक्ति प्रदान की है, इसलिये एक व्यक्ति का उच्चतर-पद केवल दूसरों की रज़ामन्दी के ऊपर ही निर्भर कर सकता है। क़ानून का स्रोत भी जनता की रज़ामन्दी में ही पाया जाता है। इस प्रकार रज़ामन्दी के ऊपर आधारित सामंजस्य समाज में राजनीतिक संघटन का आधारभूत सिद्धान्त है, यह बात चर्च तथा लौकिक राज्य दोनों पर ही लागू होती है। दैविक अधिकार द्वारा न राजा शासन करता है और न पोप; समस्त विवशकारी शक्ति का स्रोत शासित की रज़ामन्दी है।

यह सिद्धान्त कि शासन का आधार जनता की इच्छा है बहुत ही आधुनिक दिखलाई पड़ता है; यह तो हमें लॉक तथा रूसो का स्मरण दिलाता है, मध्यकालीन राजनीतिक दार्शनिकों का नहीं, जोकि मार्सीलियो को छोड़कर सभी चर्च तथा राज्य की शक्ति का

---

* "Since by nature all men are free, any authority by which subjects are prevented from doing evil and their freedom is restrained to do good through fear of penalties, comes solely from harmony and from the consent of the subjects, whether the authority resides in written law or in the living law which is the ruler. For if by nature men are equally strong and equally free, the true and settled power of one over the others, the ruler having equal natural power, could be set up only by choice and consent of the others, just as law also is set up by consent." —Quoted by Sabine : *op. ct.*, page 319.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रोत ईश्वर को समझते थे; वे इन संस्थाओं को दैविक रचना समझते थे। परन्तु यद्यपि हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि निकोलस के विचार में एक साहसपूर्ण स्वच्छन्दता है और अठारहवीं शताब्दी के क्रान्तिकारी विचारों का वह पूर्वज है, हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि उस पर मध्यकालवाद की छाप पड़ी हुई है। शासित की इच्छा से निकोलस का तात्पर्य मध्यकालवादियों की भांति समाज की सामूहिक इच्छा से था, आधुनिकों के सदृश व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छा से नहीं। उसके लिये शक्ति का स्रोत व्यक्ति का अन्तःकरण नहीं था, वरन् अपने स्वाभाविक नेताओं तथा स्वतःनिर्मित परम्पराओं के द्वारा आचरण करने वाला समाज था। निकोलस प्रतिनिधित्व-विषयक मध्यकालीन धाराओं से ऊपर नहीं उठा जिसके अनुसार शासक तथा नेता एक प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर सकता था।

कन्सीलियर सिद्धान्त का आधार यह मूलभूत विश्वास था कि चर्च में कानून तथा शासन की शक्ति का स्रोत पोप नहीं बल्कि समस्त ईसाई जगत है जिनका प्रतिनिधित्व साधारण परिषद् में होता है। पोप अपना अधिकार जनता से प्राप्त करता है, ईश्वर से नहीं, इसलिये उसके प्रत्यादेश जनता की रज़ामन्दी तथा स्वीकृति के लिए उसके सामने रक्खे जाने चाहियें; उनके ऊपर चर्च के अन्य अंगों की रुकावट और नियन्त्रण होना चाहिये। न केवल यह, बल्कि पोप नैसर्गिक कानून के भी अधीन है। यदि वह ऐसे प्रत्यादेश जारी करता है जो नैसर्गिक कानून के विरुद्ध हों अथवा वह मनमानी करता है तो परिषद् उसे पदच्युत कर सकती है। इसलिये परिषद् पोप से उच्चतर है।

धर्म के विषयों में भी निकोलस परिषद् को पोप से श्रेष्ठ मानता था। उसका पूर्ण विश्वास था कि मानव ज्ञान अच्युत नहीं है; उसकी धारणा थी कि एक मानव समूह की अपेक्षा एक व्यक्ति से भूल हो जाने की अधिक सम्भावना है। इसलिये वह किसी भी धर्म विषय के ऊपर पोप की अपेक्षा परिषद् (जिसमें बिशपगण तथा कार्डीनल सम्मिलित थे) के निर्णय को अधिक सच्चा और मान्य समझता था। परन्तु वह परिषद् को भी अच्युत समझने को तैयार न था; उससे भी भूल हो जाना सम्भव है। हाँ, पोप के व्यक्तिगत रूप से काम करने की अपेक्षा परिषद् के सामूहिक आचरण में त्रुटियाँ रह जाने की सम्भावना बहुत ही कम हैं। प्रशासकीय विषयों में भी निकोलस पोप को एक अधीनस्थ स्थान देता है; वह जनता का एक अभिकर्ता (Agent) मात्र है; वह सम्पूर्ण चर्च नहीं है, बल्कि उसका एक, केवल एक, भाग है। इसके विपरीत परिषद् समस्त चर्च का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिये वह पोप से उच्चतर है। इसलिये पोप को परिषद् के आदेशों का पालन करना ही चाहिये; उसके ऐसा न करने पर उसे पदच्युत किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि पोप को न केवल धर्म-विमुखता के घोर अपराध के बदले में पदच्युत किया जा सकता है बल्कि परिषद् की इच्छा का पालन न करने के अपेक्षाकृत छोटे अपराधों के दण्डस्वरूप भी उसे हटाया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे ढंग से भी निकोलस ने पोप की शक्तियों और अधिकार को घटाया है। परिषद् का मुख्य कार्य धर्म सम्बन्धी विषयों का निर्णय करना तथा पोप के ऊपर अभिवेक्षण रखना था; चर्च के नित्यप्रति के प्रशासन से उसे कोई सरोकार न था। परन्तु उसने प्रशासन का कार्य पोप के हाथों में भी नहीं छोड़ा। उसने प्रशासन कार्य एक नये अभिकरण प्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय परिषद् को सौंप दिया जिसका प्रधान स्थानीय पैट्रियार्क (Patriarch) होता था। चर्च में सुधार करने के लिये तथा स्थानीय विषयों का नियन्त्रण करने के लिये उसने ऐसी बहुत सी राष्ट्रीय परिषद् स्थापित करने का प्रस्ताव किया। ऐसी परिषदों की सीमायें राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं के अनुरूप होतीं। निकोलस के इस प्रस्ताव में हमें उसकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि, चातुर्य तथा बुद्धिमत्ता अपने सुन्दरतम तथा उच्चतम रूप में मिलती है। इसके पीछे एक दोहरा उद्देश्य था। पहिली बात तो यह है कि इसका उद्देश्य चर्च में शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना और ऐसा करके स्थानीय चर्चों के ऊपर पोपशाही का नियन्त्रण कम करना था। इससे पोप की शक्तियों के ऊपर एक और रोक लगती थी। दूसरी बात यह कि यह उदीयमान राष्ट्रवाद की शक्ति को मान्यता प्रदान करने तथा उससे चर्च के सुधार में सहायता लेने का एक कौशलपूर्ण प्रयास था। इन राष्ट्रीय परिषदों के कार्य करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई सामने आने की निकोलस को कोई आशंका न थी; उसका विचार था कि एक संघात्मक उच्चतम साधारण परिषद् के अधीन रहने के कारण उनमें स्वाभाविक सामंजस्य तथा मित्रता स्थापित हो जायेगी। यह साधारण परिषदों द्वारा चुने हुए स्थायी प्रतिनिधियों से मिलकर बनती। उपरोक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि निकोलस चर्च तथा राज्य दोनों के लिये एक ऐसी शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम समझता था जिसका रूप संघात्मक हो और जिसमें कार्यपालिका की शक्तियों की वैधानिक सीमायें हों। एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि अपने इस विश्वास के कारण कि समस्त मानव प्राणी ईश्वर के प्रति प्रेम तथा भक्ति के सूत्र में बंधे हुए हैं निकोलस ने शासक तथा शासित में और विभिन्न राष्ट्रीय परिषदों में सामंजस्य और तालमेल स्थापित करने के लिये एक विशिष्ट यन्त्र की आवश्यकता पर कोई ध्यान नहीं दिया।

निकोलस की विचारधारा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी ध्यान देने योग्य है। यद्यपि वह प्रतिनिधि परिषद् को चर्च तथा राज्य दोनों में एक केन्द्रीय अङ्ग समझता था और पोप तथा सम्राट् को निश्चित रूप से उसके अधीन मानता था, तथापि उसे वह एक प्रभुत्वपूर्ण शक्ति नहीं समझता था। आख़िरकार वह चर्च संघटन का एक भाग मात्र थी, सम्पूर्ण चर्च नहीं। उसका सामंजस्य सिद्धान्त परिषद् को राजसत्ता से विभूषित करने के मार्ग में बाधक था। जैसा कि सैवाइन ने कहा है De Concordantia Catholica की आधारभूत तान थी सामंजस्य, शक्ति नहीं। परिषद् की शक्ति इस बात में थी कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण चर्च की इच्छा एवं सहमति का प्रतिनिधित्व पोप अथवा अन्य किसी भी अङ्ग की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से करती थी।

चर्च तथा राज्य के परस्पर सम्बन्ध के ऊपर निकोलस के विचारों के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। उसने उस मध्यकालीन परम्परा का परित्याग कर दिया जिसके अनुसार सम्पूर्ण ईसाई जगत एक ही समाज है, जो चर्च और साम्राज्य दोनों है; उसने इन दोनों में पृथक्करण कर दिया। उसकी धारणा थी कि लौकिक कार्यों को करने के लिए राज्य उतना ही आवश्यक है जितना कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए चर्च। राज्य के कार्य चर्च के कार्यों से भिन्न और स्वतन्त्र हैं इसलिये उसका एक अलग और निजी संघटन होना चाहिये जो चर्च से स्वतन्त्र हो। राज्य का अपनी शक्तियों के ऊपर समान अधिकार है, इसलिये उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। इस प्रकार चर्च भी राज्य से स्वाधीन रहना चाहिये। यद्यपि निकोलस का यह विश्वास अवश्य था कि साधारण परिषद् की बैठकों में सम्राट् की उपस्थिति अनुशासन स्थापित रखने में सहायक होगी और उसके निर्णयों को उससे सम्बल मिलेगा, और वह यह भी चाहता था कि सम्राट् को धर्म-विमुखता के विरुद्ध धर्म की रक्षा करनी चाहिये, तथापि चर्च के आन्तरिक मामलों जैसे कि विशपगण की नियुक्ति तथा धार्मिक विषयों के निर्णय में सम्राट् को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक बात है कि एक पादरी ने राज्य तथा चर्च में ऐसा पृथक्करण किया।

निष्कर्ष यह है कि निकोलस के अनुसार राजसत्ता न तो पोप में है और न साधारण परिषद् में, बल्कि वह धर्मानुयाइयों के सम्पूर्ण समाज में है। साधारण परिषद् सम्पूर्ण चर्च की प्रतिमूर्ति है, इसलिये उसका अधिकार पोप के अधिकार से उच्चतर है। राष्ट्रीय परिषदों को स्थानीय चर्चों का प्रबन्ध करना चाहिये और उनमें सुधार करने चाहियें। साधारण परिषद् के लिये स्थायी प्रतिनिधि चुनने का भी उन्हें अधिकार दिया गया। साधारण परिषद् को समवेत करने का अधिकार पोप को था; किन्तु यदि वह ऐसा करने से इन्कार करे तो सम्राट् भी उसे बुला सकता था। परन्तु एक बार समवेत हो जाने पर परिषद् अपनी ओर से कार्य कर सकती थी और चर्च की भलाई के लिये कोई भी कदम उठा सकती थी। साधारण परिषद् अपने से पोप के अलग हो जाने की भी अवहेलना कर सकती थी क्योंकि वह अपना अधिकार ईश्वर से प्राप्त करती थी। यद्यपि वह अच्युत होने का दावा नहीं कर सकती थी, तथापि एक व्यक्ति, पोप, के निर्णय की अपेक्षा उसके निर्णयों में कम भूल और अधिक सत्य होने की संभावना थी। इसलिये धर्म के विषयों में वह उच्चतम थी। निकोलस सांविधानिक सीमाओं के साथ सरकार के संघात्मक रूप को चर्च की आवश्यकताओं के लिये सब से अधिक उपयुक्त समझता है; उसके द्वारा राष्ट्रवाद की शक्ति तथा शान्ति और व्यवस्था के लिये एक केन्द्रीय संघटन का समन्वय हो सकता था। उसे आशा थी कि प्रतिनिधित्व की पद्धति हर प्रकार के समाज में फैल जायेगी। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामंजस्य और समन्वय के आधार पर एक राजनीतिक समाज को संगठित करने के उसके स्वप्न को बेसिल की परिषद् ने भंग कर दिया। ज्योंही चर्च में सुधार करने का प्रश्न उठा त्यों ही राष्ट्रीय विरोध और द्वेष की अग्नि भड़क उठी और परिषद् के सदस्य उसे बुझा न सके। सरगर्म परिषद्वादी जिन सुधारों के लिये उत्सुक थे वे न किये जा सके। कन्सीलियर आन्दोलन विफल हो गया, और इसकी विफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि जनसाधारण अपनी संस्थाओं का स्वयं नियंत्रण नहीं कर सकते। इसने पोप के प्रभुत्वपूर्ण अधिकार को भी पुष्ट कर दिया। इस प्रकार जनतन्त्र तथा विधानवाद परास्त हो गया और निरंकुश-वाद की विजय हुई। वह निकोलस, जिसके हृदय में पहिले बड़ी बड़ी आशायें थीं, निराश हो गया; उसकी आँखें खुल गईं; कन्सीलियर आन्दोलन का परित्याग करके वह पोप के पक्ष में जा मिला। उसके ऐसा करने से आन्दोलन का अन्त और भी निकट आ गया। पोप की निरंकुशता का समर्थन करने को वह इसलिये विवश हुआ क्योंकि उसके विचार से पोपशाही ही ईसाई जगत की एकता को कायम रख सकती थी। अपने जीवन आरंभ में वह शांति तथा सामंजस्य के लिये पोपशाही की बलि देने को तैयार था; अन्त में आकर एकता के प्रधान संरक्षक के रूप में उसने उसी संस्था की हिमायत की।

इस अध्याय का उपसंहार करने से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं का एक अधिक विधिवत् तथा क्रमबद्ध विवरण देना वांछनीय प्रतीत होता है, यद्यपि गत अध्यायों में यथास्थान उनका उल्लेख किया जा चुका है। उनमें प्रमुख हैं राजतन्त्र, कानून, प्रतिनिधित्व तथा नैसर्गिक कानून।

राजतंत्र (Kingship) की मध्यकालीन धारणा— सम्पूर्ण मध्य काल में राज-नीतिक संघटन का साधारण रूप एक न एक रूप में राजतंत्र था। यही नहीं, बल्कि बहुत से देशों में तो १९१४ के प्रथम विश्व युद्ध तक यह पाया जाता था। पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पराभव के बाद जो बर्बर राज्य उत्पन्न हुए उन सब के ऊपर शासन राजाओं का था, अर्थात् वे राजतंत्र थे; रोमन चर्च के संघटन का भी वही आधार था जिसके ऊपर पोप का सर्वप्रभुत्व अधिकार था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि मध्यकालीन विचार के अनुसार समस्त विश्व एक ही राज्य है जिसका राजा ईश्वर है। समस्त पार्थिव शासन का स्रोत दैविक शासन समझा जाता था और इसीलिये उसे उसकी प्रतिमूर्ति माना जाता था। अन्यथा शासक की शक्तियों को ईश्वर-प्रदत्त नहीं माना जा सकता था। इस मानसिक प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि राजतंत्र को शासन का एक सामान्य तथ देव-प्रदत्त रूप मान लिया गया और उसके औचित्य पर आपत्ति करने या उसकी शक्ति की सीमायें निर्धारित करने की कोई प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं हुई। चर्च शासन को सुधारने में कन्सीलियर आन्दोलन इसीलिये विफल हुआ क्योंकि ईसाई जगत की सामान्य भावना निरंकुश शासन की जगह वैधानिक शासन स्थापित करने के पक्ष में न थी।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि सारे मध्य युग में, किन्तु उसके उत्तरार्द्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष रूप से, यह महसूस किया जाता था कि प्रजाजन की राजभक्ति का आधार राजा का पद है, उसका व्यक्तित्व नहीं। इस प्रकार मध्यकालीन विचार में राजपद तथा उसके स्वामी में विभेद है। पद की आज्ञा का पालन होना चाहिये, व्यक्ति का नहीं; क्योंकि सन्त पाल ने आज्ञापालन के प्रसंग में 'जो भी शक्तियाँ हों' शब्दों का प्रयोग किया है। यदि उसका इरादा राजपद को वहन करने वाले व्यक्ति की आज्ञापालन के कर्तव्य की प्रेरणा करना होता तो वह 'जो भी शासक हों' शब्दों का प्रयोग करता। एक अत्याचारी शासन के विरोध का जो औचित्य मध्य काल में दिया जाता था उसमें भी यही विभेद निहित है। यदि राजा न्यायपूर्वक शासन करता है और केवल ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करता है तो उसके अधिकार की अवज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठता; उसकी अवज्ञा करना तब ही कानून विहित है जब कि राजा दुराचरण करे। समझने की बात यह है कि न्याय ही राजपद को औचित्य प्रदान करता है; एक अन्यायी राजा को अपनी आज्ञा पालन कराने का कोई उचित अधिकार नहीं। आधुनिक शासकों की भाँति राजाओं की कोई अपनी अवैयक्तिक (Impersonal) शासन व्यवस्था नहीं थी, इसीलिये राजतन्त्र ने वैयक्तिक ट्रस्ट (Personal Trust) का रूप धारण कर लिया। जब तक राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करता था, उस समय तक उसके अधिकार वैयक्तिक ही माने जाते थे।

राजतन्त्र के मध्यकालीन सिद्धान्त की तीसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसने दो ऐसे विचारों, कानून के प्रति अधीनता तथा निरपेक्ष शक्ति और अनुत्तरदायित्व, का सम्मिश्रण किया जिनमें कोई संगति दिखाई नहीं पड़ती। एक ओर तो मध्यकालीन राजा निरपेक्ष और अनुत्तरदायी था। वह निरपेक्ष था क्योंकि उसके हाथ में सम्पूर्ण शक्तियाँ थीं; क्योंकि कोई भी शक्ति उसके ऊपर या उसके बराबर ऐसी न थी जो उसकी शक्तियों को सीमित कर सकती। वह अनुत्तरदायी था क्योंकि वह निरपेक्ष था; राज्य के मामलों का प्रबन्ध वह किस प्रकार करता है, इसका कोई हिसाब उसे किसी को नहीं देना पड़ता था। परन्तु निरपेक्ष होते हुए भी वह निरंकुश न था; वह मनमानी नहीं कर सकता था; वहाँ ऐसी शक्तियाँ वर्तमान थीं जो कि उसको अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने तथा अन्याय और अत्याचार करने से रोकती थीं। जैसा कि ब्रेक्टन (Bracton) नामक तेरहवीं शताब्दी के एक अंग्रेज़ वकील ने कहा है कि "राजा किसी व्यक्ति के अधीन नहीं है, बल्कि वह ईश्वर और कानून के अधीन है।" प्रथम तो यह कि यद्यपि वह कानून बनाता था, वह कानून के ऊपर नहीं था। राजतिलक के समय उसे यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह जनता के कानूनों का पालन करेगा। परम्पराओं को भंग करने का उसे कोई अधिकार या शक्ति न थी। इसके अतिरिक्त वह ईश्वर के कानून तथा नैसर्गिक कानून से बंधा हुआ था। उसकी शक्ति के ऊपर ये सीमायें केवल नैतिक अथवा राजा की स्वेच्छापूर्वक लगाई हुई न थीं; एक तरह से वे कानूनी तथा व्यावहारिक थीं। यदि राजा उनकी अवहेलना करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या उन्हें भंग करता तो जनता उसकी शक्ति की अवज्ञा तथा उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी। दूसरी बात यह कि राजा के बनाये हुए कानून जनता के कानून तब तक नहीं बनते थे जब तक कि जनता उन्हें स्वीकार न कर लेती थी। परन्तु मध्यकालीन राजपद को निरंकुश बनने से रोकने तथा उस पर रोक लगाने वाली सब से महत्वपूर्ण बात यह धारणा थी कि राजपद मुख्य रूप से एक कर्त्तव्य है, एक सार्वजनिक पद है और जनता की एक सेवा है। राजपद सम्बन्धी धारणा का आधार शक्ति या अधिकार न था। वहाँ यह विश्वास था कि राजा जनता के लिये बनाये गये हैं, जनता राजाओं के लिये नहीं। जनहित, शांति तथा न्याय के लिये कार्य करना राजा का परम कर्त्तव्य था। आधुनिक काल में यह विचार लुप्त हो गया है कि राजपद एक भारपूर्ण उद्यम है, एक जनसेवा है; इसका स्थान राजा की शक्तियों के उपर वैधानिक रोकों और सीमाओं ने ले लिया है। आधुनिक राजा की स्थिति के विपरीत मध्यकालीन राजा की अपनी राजकीय शक्ति के प्रयोग में उसका कोई समकक्ष न था, उससे ऊँचा होना तो दरकिनार; इसी लिये वह निरपेक्ष था। परन्तु निरपेक्ष होते हुए भी वह मनमाने ढंग से और निरंकुशतापूर्वक आचरण नहीं कर सकता था। उसे अपने आपको नैतिक व्यवस्था के अनुकूल ही ढालना पड़ता था। वह नैतिक एवं दैविक कानून द्वारा सीमित था, संविधान द्वारा नहीं। नैतिक एवं नैसर्गिक कानूनों ने राजाओं पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये जिनकी अवहेलना अथवा अनादर वे नहीं कर सकते थे। जिस राजा ने इनकी उपेक्षा की वह निरंकुश शासक था, वैधानिक राजा नहीं। इसी दृष्टिकोण से उसे सीमित कहा जा सकता है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि मध्यकालीन राजपद सीमित एक भिन्न अर्थ में था।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि मध्यकालीन राजाओं के शासन अधिकार के तीन स्रोत थे, एक नहीं। उन्हें सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था, वे जनता द्वारा चुने जाते थे, और शासन वे ईश्वर की अनुकम्पा से करते थे। शायद हमें ऐसा लगे कि ये तीनों अधिकार एक दूसरे का विकल्प होंगे, परन्तु बात ऐसी नहीं है, वे तीनों एक ही चीज़ के तीन पहलुओं को अभिव्यक्त करते थे।

कानून विषयक मध्यकालीन धारणा (Medieval Idea of Law)— राजतंत्र की धारणा की भांति ही मध्यकालीन कानून सम्बन्धी धारणा भी ट्यूटोनिक तथा रोमन धारणाओं के सम्मिश्रण की उपज है और वह आधुनिक धारणा से बहुत भिन्न है। याद रहे कि रोमवासियों के लिये कानून का चरित्र प्रादेशिक था अर्थात् एक देश के कानून वहाँ के प्रत्येक निवासी पर लागू होते थे; ट्यूटनों के लिये कानून का स्वरूप मूलतः जातीय (Tribal) था। उनके अनुसार कानून एक कबीले विशेष के लिये होता था; वह "एक समूह को एकबद्ध करने वाला सामान्य सूत्र था। इसीलिये कानून प्रत्येक व्यक्ति की एक व्यक्तिगत चीज बन गया जिसको कि वह जहाँ भी जाता था अपने साथ ले जाता था। वह इस बात की मांग करता था कि रोमन कानून के अधिकार क्षेत्र में रहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी मुझ पर मेरा जातीय कानून ही लागू होना चाहिये। कालांतर में इस ट्यूटोनिक धारणा के स्थान में रोमन धारणा ही प्रतिष्ठित हो गई जोकि उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धि-संगत तथा लाभप्रद थी। परन्तु ट्यूटोनिक धारणा का पूर्णतः लोप नहीं हुआ; यह चलती रही और इसने इस आधुनिक सिद्धांत के लिये आधार प्रदान किया कि कानून जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। यह सब कुछ किस प्रकार हुआ; उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का विवरण यहां देना आवश्यक नहीं है। हम कानून विषयक मध्यकालीन धारणा के कुछ आधारभूत पहलुओं पर ही प्रकाश डालेंगे।

पहिली बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि यह धारणा कि कानून जनता का है, सारे मध्य काल में चलती रही। इसका अर्थ यह नहीं था कि कानून जनता द्वारा बनाया जाता है या वह उसमें परिवर्त्तन कर सकती है। कानून तो एक स्थायी चीज़, एक ऐसी चीज़ समझा जाता था जो सदैव सही रहती है और जो कुछ अंशों में पवित्र है। तथापि कानून के निर्माण में मानव-इच्छा के भाग की पूर्णरूपेण अवहेलना भी नहीं की जाती थी। कानून की खोज करना और उसे घोषित करना एक आवश्यक कार्य था। राजा अथवा कोई अन्य समुचित अधिकारी सम्पूर्ण जनता के नाम से यह घोषणा करता था कि कानून क्या है। इससे सिद्ध होता है कि कानून के औचित्य में जन-इच्छा का एक महत्त्व-पूर्ण भाग है। परन्तु मध्यकालीन सिद्धांत का यह कोई आधारभूत तत्त्व नहीं था। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन विचार में जिस कानून की मुख्य रूप से विवेचना की गई है उसका सार तथा निर्माण मानव इच्छा से स्वतन्त्र था। "जबकि आधुनिक जनतन्त्रवादी कानून का सम्मान केवल उसी सीमा तक करने को तैयार हैं जहाँ तक कि वह अपने आपको उसका निर्माता समझ सकता है, मध्यकालीन आज्ञाकारिता का आधार इससे विपरीत भावना थी, वह यह कि कानून इसलिये मान्य है क्योंकि उनका निर्माण मनुष्य ने नहीं किया।"* ईवार्ट ने कानून की मध्यकालीन तथा आधुनिक धारणाओं में एक अन्य आधार-भूत अन्तर का उल्लेख किया है। वह कहता है कि जबकि आधुनिक सिद्धांत के अनुसार कानून सरकार की अभिव्यंजना होने के नाते उसके अधीन है, मध्य-कालीन दृष्टिकोण से सरकार कानून की अनुचर थी। गत परिच्छेद में हम यह बता चुके हैं कि कानून द्वारा राजकीय शक्ति का सीमित होना राजतंत्र के मध्यकालीन सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्व विशेषता थी।

प्रतिनिधित्व की मध्यकालीन धारणा (Medieval Idea of Representation)— प्रतिनिधित्व के विषय में मध्यकालीन धारणा तद्विषयक आधुनिक धारणा से

* "Whereas the modern democrat is prepared to respect law in so far as he can regard himself as its author, medieval obedience was founded on the opposite sentiment, that laws were respectable in so far as they were not made by man." John Dickinson, quoted by Ewart Lewis : *Medieval Political Ideas*, page 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत भिन्न है। जबकि आधुनिक प्रतिनिधि साधारणतया उन लोगों द्वारा चुना जाता है जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है और उसे उनके विचारों तथा हितों का अभिवक्ता समझा जाता है, मध्यकालीन प्रतिनिधि लोगों की इच्छा का एक अभिकर्ता होने की अपेक्षा एक ट्रस्टी अधिक था जिसका कार्य उनके हितों का पोषण करना था। इस दृष्टिकोण से राजा तथा बैरनगण अपनी प्रजा के प्रतिनिधि होते थे। मध्यकालीन सिद्धान्त राजा को एक प्रतिनिधि स्वरूप प्रदान करता था। प्रजा का प्रतिनिधित्व वह इस दृष्टिकोण से करता था कि वह उनकी ओर से कार्य करता था। प्रजाजन का राजा के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं था। इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिनिधि के ऊपर उन लोगों का नियन्त्रण हो जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता हो। मध्य युग में सार्वजनिक निर्वाचन तथा सार्वजनिक नियन्त्रण की कोई पद्धति न थी। इसीलिये प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में मध्यकालीन तथा आधुनिक विचारों में इतना अन्तर पाया जाता है।

आधुनिक धारणा से सब से अधिक मिलता जुलता दृष्टिकोण मार्सीलियो की प्रतिनिधि चर्च परिषद् की योजना में पाया जाता है जिसमें प्रत्येक प्रान्त का प्रतिनिधित्व अपने निवासियों की संख्या तथा गुण के अनुसार होता है। विलियम ऑफ ओकम द्वारा चित्रित प्रतिनिधि परिषद् की अधिक सांगोपांग योजना भी आधुनिक धारणा के निकट है। परन्तु आधुनिक सिद्धान्त से तो यह सब कुछ बहुत पीछे था।

प्रतिनिधित्व तथा जनतन्त्रीय सरकार और कुछ हद तक सामाजिक अनुबन्ध सम्बन्धी धारणायें, जिनको कि आगे चलकर आधुनिक युग के राजनीतिक चिंतन में इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ, १५वीं शताब्दी में कन्सीलियर आन्दोलन में अभिव्यक्त हुईं।

नैसर्गिक नियम (Natural Law)— हम महत्त्वपूर्ण मध्ययुगीन विचारों और संस्थाओं की उपरोक्त संक्षिप्त समीक्षा और प्रस्तुत खंड (पुस्तक) दोनों की इतिश्री नैसर्गिक नियम के विचार (Concept) की कुछ अधिक विस्तृत विवेचना के साथ करेंगे। नैसर्गिक नियम के विषय में कहा जा सकता है कि इस विचार ने मध्य युग के पूरे काल में मानव के इतिहास पर गौरवपूर्ण शासन किया है, तथापि इसको सामन्तवाद की भाँति विशुद्धतः एक केवल मध्ययुगीन विचार मानना महान भूल होगी। मध्य युग को यह धारणा स्टोइक विचारधारा से प्राप्त हुई और उस काल में इस धारणा का व्यापक विस्तार हुआ। यह विचार स्टोइक-चिन्तन से भी अधिक प्राचीन है, इसका उद्गम प्लेटो और अरस्तु के विचारों में तथा उनके भी पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों के चिन्तन में मिलता है जो परिवर्तनशील दृश्य-जगत के पीछे एक स्थायी और चिरन्तन व्यवस्था की कल्पना करते थे। प्राचीन यूनान में इस धारणा के जन्म और विकास का वर्णन हमारे लिए अनावश्यक होगा, हमारा सम्बन्ध यहाँ केवल उस व्याख्या से है जो मध्ययुगीन विचारकों ने उसे प्रदान की है।

स्टोइक पहले विचारक थे जिन्होंने सब से पहले इस धारणा का सुनिश्चित विवेचन और प्रतिपादन किया, यह धारणा उनके चिन्तन का केन्द्रीय तत्व थी। उनका आदर्श

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के अनुसार जीवन विताना था। प्रकृति से उनका अभिप्राय भौतिक घटनाओं अथवा पदार्थ जगत की एक ऐसी मिश्रित इकाई से नहीं था जिसका अध्ययन पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र करते हैं। उन्होंने प्रकृति की एक भिन्न परिभाषा प्रस्तुत की। उनकी मान्यता है कि जगत अथवा समष्टि (ब्रह्माण्ड) की अपनी एक आत्मा अथवा जीवनी-शक्ति है जो समस्त पदार्थ-जगत में प्रवाहित होती है तथा उसकी प्रत्येक घटना और प्रक्रिया का निरूपण एवं निर्माण ठीक वैसे ही करती है जैसे मनुष्य की आत्मा उसके शरीर के प्रत्येक अंग को जीवन प्रदान करती है तथा उसकी समस्त क्रियाओं का निर्धारण करती है। उन्होंने इस जीवनी-शक्ति अथवा आत्मा को ही प्रकृति कहा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैसर्गिक नियम' का अभिप्राय एक ऐसी विधायक सत्ता अथवा शक्ति से है जिसकी तुलना 'सृजनात्मक विकास' (Creative Evolution) नामक ग्रन्थ में वर्गसाँ द्वारा प्रतिपादित 'जीवनी शक्ति' से की जा सकतो है। प्लेटो और अरस्तु की धारणा भी कुछ इसी प्रकार की थी, परन्तु स्टोइक विचारकों ने इस धारणा को अधिक निश्चित स्वरूप प्रदान किया तथा इसकी व्याख्या ब्रह्माण्ड में समाई हुई एक दैवी सत्ता के रूप में की है। प्रकृति की प्रज्ञा (Reason) के साथ समरूपता स्थापित करके उन्होंने कल्पना की है कि समस्त मनुष्य एक सम्मिलित तथा निरपेक्ष ज्ञान में भागीदार होने के कारण परस्पर समान हैं तथा एक महान व श्रेष्ठ भ्रातृत्व का निर्माण करते हैं। प्रकृति की प्रज्ञा और नैसर्गिक नियम (Natural Reason and Natural Law) सम्बन्धी स्टोइक आदर्श रोमन विचारकों ने अपनाए और रोम में उन्होंने वहाँ की वैधानिक पद्धति पर गहरा प्रभाव डाला। विद्वान सिसरो ने उन्हें नैतिक शिक्षण का आधार बनाया। उन्होंने (सिसरो ने) इस बात पर बल दिया कि नैसर्गिक नियम सर्वोच्च नियम हैं और नैतिकता का आधार हैं। उनकी मान्यता थी कि 'नैसर्गिक नियम का स्रोत परमात्मा है, वह मनुष्य में जन्मजात है, वह कालातीत-शाश्वत है, सर्वत्र समरूप है, तथा उसे किसी प्रकार भी परिवर्तित या नष्ट नहीं किया जा सकता। वह समूची नैतिकता का आधार है। मानवी विधि (Positive Law) के उपबन्धों (Provisions) पर उसका नियन्त्रण उससे अधिक व्यापक होना चाहिए जितना कि वह वास्तव में आज है, जिससे कि वह उसे एक उन्नत स्वरूप प्रदान कर सके।' प्रधानतः सिसरो की शिक्षाओं के कारण ही नैतिकता व नागरिक-व्यवहार-विधि के सच्चे आधार के रूप में नैसर्गिक नियम की व्यापक प्रतिष्ठा हुई। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि मनुष्य एक व्यापक मानवीय भ्रातृत्व का अंग है तथा समस्त मानव ईश्वर की दृष्टि में समान हैं। रोमन विधि-शास्त्रियों ने 'जस जेन्टियम' अथवा विविध राष्ट्रों के मध्य प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय विधि को नैसर्गिक नियम के साथ प्रायः एकाकार ही कर दिया है। इस प्रकार यह धारणा रोमन वैधानिक पद्धति तथा न्याय शास्त्र के विकास में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि सिसरो ने नैसर्गिक नियम को परमेश्वर से उत्पन्न कहा है तथापि वे मध्ययुगीन विचारकों की भांति उसको और दैवी विधान (Law of God) को एक ही नहीं मानते। मध्य युग के विचारकों को नैसर्गिक नियम के अस्तित्व का विश्वास रोमन लोगों से प्राप्त हुआ और वे यह निश्चित रूप से मानते थे कि नैसर्गिक नियम का जन्म सांसारिक सत्ता से उच्च और श्रेष्ठ किसी दैवी शक्ति से हुआ है, अतएव वह विधियों का निर्माण करने वाले मनुष्यों पर पूर्ण रूप से बाध्यकारी है। मध्ययुगीन विचारकों की यह धारणा थी कि प्राकृतिक विधि राज्य के जन्म से भी पहले मौजूद थी तथा उसके नियम राज्य पर भी अनिवार्यतः लागू होते हैं। इससे यह परिणाम निकाला गया कि पृथ्वी की सर्वोच्च सत्ता नैसर्गिक नियमों के अधीन है। इस विचार का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन संत टॉमस एक्विनास ने नैसर्गिक नियम के अपने वर्णन में किया है। वे चार प्रकार के नियमों में भेद करते हैं— शाश्वत, नैसर्गिक, दैवी और मानवीय; तथा वे नैसर्गिक नियम को संसार में दैवी विवेक (Divine Reason) की अभिव्यक्ति मानते हैं। नैसर्गिक नियम का ज्ञान मनुष्य को अपनी बुद्धि द्वारा होता है और उसका स्वयं का विवेक दैवी विवेक द्वारा उत्पन्न एवं संचालित होता है। मनुष्य को इसका ज्ञान अपनी बुद्धि द्वारा इस कारण प्राप्त होता है क्यों कि वह इसके द्वारा दैवी विवेक का भागी बनता है। इसका अर्थ यह है कि संत टॉमस एक्विनास के अनुसार नैसर्गिक नियम पूर्णतः विवेकनिष्ठ है। यह समस्त मनुष्य जाति पर पूर्णतः बाध्यकारी भी है। राजा और साधारण मनुष्य सब समान रूप से उसकी सत्ता के अधीन हैं। मनुष्य द्वारा बनाई गई विधियाँ सर्वतः उसके अनुकूल होनी चाहियें। ऐसी कोई भी विधि विहित और न्यायसंगत नहीं मानी जा सकती जो नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध हो और ऐसी विधि नागरिकों पर बाध्यकारी नहीं हो सकती। इस प्रकार नैसर्गिक नियम ने प्रत्येक मानवीय सत्ता पर प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण लगा दिया। नैसर्गिक नियम के शाश्वत एवं अनुल्लंघनीय सिद्धान्तों के विपरीत कोई भी नियम अवैधानिक माना गया और वह किसी पर भी बाध्यकारी नहीं माना गया।

लार्ड ब्राइस ने मध्य युग में प्राकृतिक विधि की धारणा की महत्त्वपूर्ण स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है— 'यह एक ऐसा सबल दावा है जो नैतिकता के शाश्वत सिद्धान्तों की सर्वोपरिता की स्थापना करता है, राजाओं पर उन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करने का कर्त्तव्य लादता है तथा नागरिकों को यह अधिकार देता है कि वे यदि आवश्यकता हो तो विद्रोह और अत्याचारी शासक की हत्या करके भी उन सिद्धान्तों की रक्षा करें। यह घोषणा करता है कि आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों शक्तियाँ परमेश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं तथा मानवमात्र को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हैं जिनको छीना नहीं जा सकता। यह समस्त विधियों का आधार दैवी न्याय को मान कर मानवीय विधियों (Positive Laws) की शक्ति पर अंकुश लगाता है तथा उन विधियों की विहितता की मर्यादाएँ भी निर्धारित करता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैसर्गिक नियम की धारणा हमें हॉब्स और लॉक सरीखे आधुनिक विचारकों के चिन्तन में भी मिलती है, परन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनके चिन्तन में यह 'प्राकृतिक दशा' (State of Nature) की कल्पना के साथ जुड़ा हुआ है तथा धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह विवेकनिष्ठ तो रहता है परन्तु वह लौकिक रूप ग्रहण कर लेता है। यह विचार हमें रूसो के चिन्तन में भी थोड़े भिन्न रूप से मिलता है तथा यह फ्रांस के 'मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र' का आधार बन गया है। आगे चलकर यह एक ध्वंसात्मक राजनीतिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह आधुनिक राजनीतिक विचार का विषय है; यहाँ हम उसके मध्ययुगीन स्वरूप का चिन्तन कर रहे हैं। हमने आधुनिक लेखकों की व्याख्या का उल्लेख केवल यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह धारणा मध्य युग की परिसमाप्ति के पश्चात् भी राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करती रही है, यह धारणा स्टोइक विचारकों से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक विभिन्न व्याख्याओं के रूप में जीवित रही है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

१५०३

पं० आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति स्मृति संग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Bibliography

BARKER : *Plato and His Predecessors.*

BOWLE : *Western Political Thought.*

COOK : *A History of Political Thought.*

DOYLE : *A History of Political Thought.*

DUNNING : *History of Political Theories.*

FOSTER : *Masters of Political Thought.*

GETTELL : *History of Potitical Thought.*

HEARNSHAW : *Social and Political Ideas of the Middle Ages.*

MAXEY : *Political Philosophies.*

MCILWAIN : *Development of Political Thought in the West.*

SABINE : *A History of Political Theory.*

R61.1,SOO-R
9403

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY		
	Signature	Date
Access.		27.7.94
Class on		
Cat on		
Tag etc	Sharma	7.11.03
Filing		
E.A.R.		
Any other		
Checked		

STOCK VERIFY
2020
G.K.V. Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar